आत्म साक्षात्कार

स्वामी निरंजनजी के प्रवचन माला

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
द्वितीय मुद्रण : **शिवरात्री,२०१२**
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,**
भुवनेश्वर – २ (उड़िसा) फोन : 9437006566
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु 180**/-

विषय–सूची

मंगलाचरण

कर्म एवं भक्ति मार्ग के सभी ग्रन्थों में सर्वप्रथम मंगलाचरण करके ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं । क्योंकि उनकी दृष्टि में भेद सत्य है । परन्तु जो शुद्ध अद्वैत वेदान्ती संत हैं, उनका अद्वैत चिन्तन ही मंगलाचरण होता है । उनकी दृष्टि में एक ब्रह्म ही सत्य रहता है ।

जिस परमात्मा के कारण यह दृश्यमान जगत् पूर्ण हो रहा है, उसी निराकार आत्मा को हम कैसे वन्दन करें ? वन्दना उसकी की जाती है, जो व्यक्ति हमसे भिन्न हो । परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में भीतर-बाहर ओत-प्रोत है इसलिए वह सभी से सब समय अभिन्न ही है । '**अयमात्मा ब्रह्म**' यह अपना आत्मा ही ब्रह्म है इत्यादि अनेक श्रुतियाँ इस जीव को ब्रह्म रूप ही बताती है । जब ब्रह्मात्मा अपने से भिन्न नहीं, तब वन्दना कैसे हो सकेगी ?

ब्रह्म चेतन है, जगत् जड़ है । जड़ चेतन का अभेद कभी किसी प्रकार से नहीं बनता है । यह जगत् रस्सी में सर्प की तरह भ्रान्ति से अध्यस्त है । फिर माया मल से रहित शुद्धात्मा द्वारा किसको नमस्कार किया जावे ? नमस्कार तो अपने से भिन्न, श्रेष्ठ, सत्य तथा चेतनको किया जाता है । सो अपने से भिन्न दूसरा चेतन तो है नहीं और जगत् सब मिथ्या, असत्य रूप है । मिथ्या जड़ वस्तु को नमस्कार करना बनता नहीं ।

जब एक ही कल्याण स्वरूप आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, तब किसका आवाहन, पूजन एवं विसर्जन करें ? आवाहन एवं विसर्जन उसका होता है,

जो एकदेश में रहने वाला, देहधारी एवं परिच्छिन्न हो । आत्मा ऐसा नहीं है । वह तो सर्वव्यापक, अखण्ड, निराकार है । पूजा, आरती, भोग, शयन, स्नान उसका किया जा सकता है, जो अपने से भिन्न एवं शरीरधारी हो । पुष्प, पत्रादि उसे दिये जावें, जिसकी आँख एवं नाक हो । जब उसके आँख, नाक, कान, मुखादि इन्द्रियाँ ही नहीं, तब उसके लिये जल, फल, आरती, प्रार्थना, पूजा, पुष्पादि व्यर्थ ही है । ध्यान भी अपने से भिन्न साकार देखे हुए का ही हो सकेगा । परमात्मा अभिन्न एवं निराकार होने से उसका ध्यान भी नहीं हो सकता ।

अस्तु सर्वत्र सम दृष्टि कर किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म द्वारा न सताना ही परमात्मा की पूजा है । जहाँ उदय-अस्त ही नहीं, सदा स्वयं प्रकाश रूप से विद्यमान है, वहाँ सन्ध्या, उपासना भी नहीं हो सकती ।

निराकार परमात्मा तक मन, बुद्धि पहुँचती नहीं, तब फिर ध्यान एवं मन्त्र कैसे हो सकेंगे ?

मैं कभी लय को प्राप्त नहीं होता हूँ, किन्तु सर्व काल में आत्मा बना रहता हूँ । फिर सन्ध्या, वन्दना, प्रार्थना आदिक जो मन, इन्द्रियादिकों के कर्म हैं, यह मेरा कुछ भी उपकार नहीं कर सकते । 'मैं बन्धन से रहित नित्यमुक्त रूप हूँ ।' यह निश्चय ही वास्तविक रूप में इस ग्रन्थ का मंगलाचरण है ।

अनुबन्ध

विषय, अधिकारी, सम्बन्ध तथा प्रयोजन सभी ग्रंथों में यह अनुबन्ध होता है । अनुबन्ध के बिना विद्वान् पाठकों की ग्रंथ पठन में रुचि नहीं होती है । अनुबन्ध का विचार किये बिना ग्रंथ के आदि में मंगलाचरण शोभा नहीं पाता है ।

विषयश्च अधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
बिनानुबन्ध ग्रन्था दौ मंगलं नैव शस्यते ।।

'**आत्म साक्षात्कार**' इस ग्रंथ का विषय नाम से ही स्पष्ट है । इस ग्रंथ में जीव ब्रह्म की एकता अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य का ही प्रतिपादन किया गया है । ग्रन्थ का प्रयोजन फल परमानन्द की अनुभूति तथा सर्व दुःखों की कारण सहित निवृत्ति रूप मोक्ष है । ग्रन्थ का अधिकारी विवेक, वैराग्य, षट् संपत्ति, मुमुक्षु रूप साधन चतुष्टय है । **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** अर्थात् मल, विक्षेप दोष से रहित केवल ब्रह्म साक्षात्कार की इच्छा रखने वाला मोक्षाभिलाषी का ही इस ग्रन्थ में प्रवेश है । ब्रह्म से पृथक् किसी लोक एवं भोग की कामना वाले के लिये यह ग्रन्थ उपादेय नहीं है ।

विषय और ग्रन्थ का प्रतिपाद्य, प्रतिपादक सम्बन्ध है । अर्थात् ग्रन्थ प्रतिपादन करनेवाला है एवं जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करने योग्य है । ये चारों अनुबन्धों को देखकर ही वेदान्त शास्त्रों में जिज्ञासुओं की प्रवृत्ति होती है ।

जिन्हें इस लोक तथा परलोक के भोगों की अभिलाषा है, वह वेदोक्त कर्मकांड एवं उपासना का सेवन करें किन्तु इस प्रकार करने से उसका बारम्बार जन्म-मृत्यु के क्रम का नाश कदापी नहीं हो सकेगा।

किन्तु जिस महाभाग्यशाली शुद्धान्तःकरण वाले मुमुक्षुओं को इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों में ग्लानि है तथा जन्म-मरण रूपी बन्धन को काटना चाहता है, वह इन साधनों सहित श्रद्धा भाव से किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जावे और इस उपनिषद् रूप ब्रह्म विद्या के शास्त्र को एकाग्रता एवं सावधान मन से शिष्य की रीति के अनुसार पढ़े । इस ग्रन्थ में चारों वेदों एवं समस्त उपनिषदों के तात्पर्य रूप '**तत्त्वमसि**', '**प्रज्ञानंब्रह्म**', '**अयमात्मा ब्रह्म**', '**अहं ब्रह्मास्मि**' अर्थात् जीव ब्रह्म एकत्वज्ञान रूप बह्मविद्या के प्रतिपादन होने से इस ग्रन्थ को उपनिषद रूप कहा है ।

श्रवणं तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येत्पूर्ण बोधस्य कारणम् ।। १३ ।।

अन्य विद्या परिज्ञानमवशयं नश्वरं भवेत ।
ब्रह्मविद्या परिज्ञानं ब्रह्म प्राप्ति करं स्थितम् ।। १४ ।।

– शुक उपनिषद

|||||||||||

असतो मा सद्गमय

व्यक्ति की आँख जब तक असत् को नहीं पहचानती है, तब तक वह उसे ही सत्य जान साधे रखता है । यदि एक बार साधक की आँख असत्य को देखले तब वह वहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकेगा एवं सत्य की खोज पर चल पड़ेगा ।

सत्य को पकड़ने के लिये आपके हाथ खाली होना जरूरी है । किन्तु हमारे मन में तो असत् लाशे चिपकी हुई है, हाथों में कर्म जंजीरें पड़ी हुई है, जो इतनी पुरानी है कि उसे कोई असत् मानने एवं खोलने का सोच भी नहीं सकता । यदि कोई दयालु संत उस जिज्ञासु को बता भी दे कि भाई ! जो तूने सत्य के नाम पकड़ा है, वह सब असत् है तो उसे इस परम सत्य पर विश्वास भी नहीं होगा ।

साधक के पास कसौटी नहीं सत्य को परख करने की । हम वही पहचान सकते हैं जो हमने जाना है । परमात्मा को कभी जाना ही नहीं तो फिर उसे कैसे पहचान सकेंगे ?

साधक के समक्ष असंख्य मार्ग हैं, सनातन सत्य मार्ग तो एक ही है, किन्तु गलत मार्ग अनेक हैं । लाखों जप हैं, लाखों तीर्थ हैं, लाखों ग्रथं है, लाखों ध्यानी हैं, लाखें योगी हैं, लाखों त्यागी हैं, अनेक प्रकार की भाव भक्ति है, असंख्य धर्म प्रचारक हैं । अज्ञानी के लिए बहुत मुश्किल है इस भीड़ में सत्य का मार्ग खोज निकाल लेना । साधक के लिये बड़ी विड़म्बना है । कैसे जाने कि क्या सत्य है ? यदि गलत को गलत जान लिया तो फिर

कोई उस मार्ग पर कैसे चल सकता है । खोजो, भटको, तो कभी न कभी सही मार्ग मिल जावेगा, किन्तु असंख्य मार्ग हैं । उन सब गलत मार्गों से गुजरोगे तो असंख्य जीवन बीत जावेंगे । जीवन छोटा है । एक मार्ग में भी पूरा जीवन लगा दें तो भी जीवन छोटा पड़ जावेगा ।

असंख्य है हिन्दुओं के शास्त्र, जैनों के शास्त्र, अनेक तंत्र की विधियाँ, प्राणायाम, योग, ध्यान । हम किसको अपनायें एवं मंजिल आसानी से शिघ्र मिल जावे कुछ समझ नहीं पड़ता है । उलझन बढ़ती जाती है । सत्य के मार्ग भी अनेक होते तो किसी एक को चुन लेते एवं शिघ्र या देरी से वहाँ पहुँच ही जाते । किन्तु सत्य का मार्ग एक है तो अनेक मार्ग असत्य के हैं, भटकाव के हैं । एक आदमी सत्य को उपलब्ध होता है कबीर, नानक, शंकर, दयानंद की तरह । किन्तु लाखों भटकते हैं अंधे बने रुढीवाद, सम्प्रदाय, मताग्रह के कारागृह में फँसकर । उन अंधों ने जो पहुँचे नहीं हैं, जिन्हें मंजिल मिली नहीं, किनारा मिला नहीं, शास्त्र लिख डालें हैं, पहुँचने के मार्ग साधन का नक्शा बना डाला है, झूठे माइलस्टोन एवं तीर के चिन्ह (→) बना दिये हैं । उपदेशक बन शिष्य बना रहे हैं । जिनके संकेत साधना नक्शे के अनुसार चलने पर साधक जन्म-जन्म चलकर भी वहाँ नहीं पहुंच सकेगा, जहाँ वह पहले से ही खड़ा हुआ है । अंधों के निर्मित मार्ग पर चलने वाला कष्ट, ठोकर ही खाता रहेगा ।

एक वेद शास्त्र होता तो जीव उसके सहारे चल खोजता एवं पहुँच जाता किन्तु अनेक वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, श्रुति, स्मृति अनन्त जन्म पढ़े तो भी समाप्त नहीं होंगे । सब जाति धर्म सम्प्रदायों के अनेक ग्रन्थ शास्त्र हैं किसको पकड़े, किसके सहारे चले । इसीलीए लोग इतने नास्तिक हो गये । एक धर्म सम्प्रदाय दूसरे की निंदा करने में तुले हैं । हिंदू जैन के, जैन हिंदू के धर्म ग्रन्थ व मंदिर मूर्त्ति के विरोधी हो गये हैं । हिन्दु वेद को ऊँचा पुराना बतायेंगे तो मुसलमान व इसाई कुरान, बाइबिल, जैसे आधुनिक नूतन शास्त्र पर श्रद्धा करने को कहते है ।

ऐसी अवस्था में साधक किसी सद्गुरु को हृदय से पुकारता है कि आप मुझे असत् से हटाकर सद् मार्ग में श्रद्धा करावें, सद् मार्ग दर्शावें । और

जब साधक किसी सद्गुरु के चरणों में अपने को समर्पण कर देता है, तब उसके द्वारा अज्ञान काल में किये जाने वाले सभी जप, तप, व्रत, उपवास, पूजा, पाठ, मंदिर, तीर्थ, यज्ञादि साधन गिर जाते हैं । समर्पण के बाद उन साधनों को साधक फिर भी घसीटे जा रहा है, जिसके सहारे वह जीवन भर चलकर भी कहीं नहीं पहुँच पाया है । तो यह सद्गुरु के प्रति समर्पण भाव नहीं हुआ । यह तो मनमुखी ही हुआ । गुरुमुखी तो बिल्ली के बच्चे की तरह अपना समर्पण माँ (गुरु) को कर देता है । शरणागत की साधना बंदर के बच्चे की जैसे अपने बल से माँ को पकड़ कर चलने जैसा नहीं है । यदि कोई अपनी मनकल्पित साधना सद्गुरु के मिलने के बाद भी घसीटता है तो वे सद्गुरु उसे आदेश देते हैं –

'सर्वधर्मान्परित्यज्य'

तू समस्त नैतिक धर्मों का परित्याग कर अब एक मात्र मेरी शरण में (आत्म धर्म परायण) हो जा, तुझे किसी प्रकार का पाप स्पर्श नहीं कर सकेगा और तभी यह जीव धर्म की कैद से, साधन की जंजीर से मुक्त हो ब्रह्मानुभूति कर परम शांत हो जाता है । फिर साधक के लिये किसी प्रकार के लौकिक वैदिक धार्मिक कर्मों के करने न करने के लिये कोई शास्त्र, आज्ञा विधि-निषेध रूप से नहीं रहती है । वह शास्त्र शासन से मुक्त हो जाता है ।

मैं साक्षी हूँ एवं साक्षी ब्रह्म है । ऐसा जीव अपने में साक्षी का निश्चय कर के जन्म-मरण से तर जाता है । प्रकाश को बिजली जानें एवं सब प्रकाश में बिजली जानें । इसी प्रकार हर जीव अपने को साक्षी जानें एवं साक्षी को ब्रह्म जानें ।

दुर्लभ क्या है ?

दुर्लभं त्रयमेवैवत् देवानुग्रह हेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रयः ।।

– शंकराचार्य

जगत् में तीन बातों का मिलन होना एक महान् आश्चर्यजनक घटना है । तीन बातों में प्रथम है मानव जीवन, द्वितीय है मोक्ष की इच्छा, तृतीय है सद्गुरु की प्राप्ति । इन तीनों बातों में ईश्वर कृपा मुख्य है ।

चौरासी लक्ष योनियों में मानव जीवन सर्वश्रेष्ठ देव दूर्लभ योनि कहा गया है ।

कबहुँक करि करुणा नर देही

मनुष्य जन्म पाना तो सहज है किन्तु मनुष्य का आचरण होना, 'मैं कौन हूँ' का ज्ञान पाने की इच्छा होना, परमात्मा का साक्षात्कार करने की इच्छा होना, जन्म-मरण चक्र से छूटने की चाह होना, यही मनुष्यता की पहचान है ।

मोक्ष जीवन हो, मोक्ष की जिज्ञासा हो एवं मोक्ष के मार्ग प्रदर्शक सद्गुरु की प्राप्ति हो जावे, तो यह नर फिर नारायण ही हो जाता है । '**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**' जो ब्रह्म को सोऽहम् रूप से जान लेता है, वह स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है ।

जानत तुमहि तुमहि होई जाहि ।
सोई जानेउ जेहि देहि जनाई ।।

मानव जीवन प्राप्त करके भी यदि आत्मा को न जाना एवं अन्य सभी कर्म करता रहा ऐसे मनुष्य को शास्त्रों में कृपण, आत्म–हत्यारा एवं बिना सींग–पूँछ वाला देवताओं का पशु कहा गया है ।

जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाय ।
सो कृत निन्दक मंद मति आतमहन गति जाय ।

अस प्रभु छाड़ि भजहि जे आना ।
ते नर पशु बिन पूँछ विशाना ।।

–रामायण

जो देवताओं को भी दुर्लभ है, वही तीनों विशेषताएँ हमें ईश्वर की कृपा से आज प्राप्त हो चुकी है । जो ऐसी ईश्वर की कृपा को सौभाग्य समझ, श्रद्धा पूर्वक स्वीकार नहीं करता है, वह मनुष्य जन्म–मरण के चक्रों में भटकता हुआ सदा दुःख भोगता रहेगा ।

आकर चार लक्ष चौरासी, योनि भ्रमत यह जीव अविनाशी ।।

–रामायण

मनुष्य जीवन हो, मोक्ष मार्ग के प्रदर्शक सद्गुरु भी हो, किन्तु मोक्ष की इच्छा न हो, तो यह मानव जीवन निरर्थक ही चला जाता है । जैसे भागवत् पारायण के समय ८८ हजार ऋषियों में एक परीक्षित ही मुमुक्षु था । दूसरा धुन्धकारी । अन्य किसी को मोक्षेच्छा जाग्रत नहीं हो पाई, इसलिए किसी अन्य का कल्याण भी नहीं हुआ था । कौरवों एवं पाण्ड़वों की १८ (११+७) अक्षौहिणी सेना के मध्य केवल एक अर्जुन को ही मुमुक्षुता जाग्रत हुई थी, उसी ने गीता कथामृत का श्रद्धापूर्वक पान किया, जिससे उसी का शोक–मोह नष्ट हुआ एवं वही एक स्व–स्वरूप की प्राप्ति करने में समर्थ हुआ अन्य कोई नहीं । कौरवों एवं पाण्ड़वों में मानव जीवन एवं कृष्ण कृपा भी थी, किन्तु मुमुक्षुता केवल एक अर्जुन में ही जाग्रत हुई थी ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा

संजय एवं धृतराष्ट्र दोनों ही इस गीता ज्ञान को एकाग्रता एवं ध्यान पूर्वक देख, सुन रहे थे, किन्तु मुमुक्षुता न होने से उन दोनों का नाम मोक्ष श्रेणी में उल्लेख नहीं किया गया है ।

जैसे कुश्ती खेल के मैदान में दर्शक अनेक होते हैं किन्तु कुश्ती दो पहलवानों के मध्य में होती है । हार-जीत दर्शक से सम्बन्ध नहीं रखती, वह तो खिलाड़ियों को प्रभावित करती है । आज हम लोग श्रोता बन भागवत, गीता, रामायणादि सुनते नहीं जैसे अर्जुन, परीक्षित, लक्ष्मण, हनुमानादि ने श्रवण की थी । हम लोग तो केवल उन श्रोता एवं वक्ता के दर्शक बनकर सुनते हैं, अपने को मुख्य श्रोता नहीं बनाते हैं । इसलिए अनेकों बार श्रवण करने पर भी लाभ नहीं हो पाता है । अन्यथा अमृत या जहर को जीने या मरने हेतु एक बार पीना ही पर्याप्त है, बार बार नहीं । यदि बार बार पिने पर भी आप वही बने रहें जो पान करने के पूर्व थे, तो फिर अमृत या जहर असली ही नहीं माने जावेंगे, या फिर हमने पान ही नहीं किया । उत्तम श्रोता वही जो पान कर हजम कर लें । मध्यम वह जो सुनकर दुसरों को सुना दे किन्तु अपने जीवन में न उतारे, स्वयं उन आदेशों का पालन न करें । अधम श्रोता तो वह है जो कथा में जाकर केवल सोता रहे । उसका मन कथा में बैठा नहीं केवल शरीर ही बैठा है । वह तो अधम श्रोता है, जैसे पत्थर को पानी में डालने से भीतर बाहर सुखा ही रहता है, पानी उसे भिगो नहीं पाता । मध्यम श्रोता तो कपड़े को पानी में डालने जैसे है, जो पानी में जब तक रहता है, भीगा रहता है । किन्तु बाहर आने से पानी का संग छूट जाता है । उत्तम श्रोता शक्कर, चीनी, मिश्री, गुड़ का पानी में घुल मिल जाने जैसा है । वह फिर पानी से बाहर नहीं आता ।

ज्ञान साधन चीनी एवं पानी मिलन जैसा उत्तम है, भक्ति साधन कपड़ा एवं पानी मिलन जैसे मध्यम है एवं कर्म साधन पत्थर एवं पानी मिलन जैसे अधम है ।

श्रोता वक्ता एक घर, तब कथनि का स्वाद ।
श्रोता तो घर में नहीं, वक्ता करे सो वाद ।।

महाभारत के युद्ध में ऐसा ही हुआ है। वहाँ मनुष्य जीवन प्राप्त सैनिक भी हैं । गुरु कृष्ण की कृपा भी बरस रही है, किन्तु मोक्ष की इच्छा अर्जुन के अलावा किसी एक को भी नहीं। तब गुरु बिचारा क्या करे जब तक कि जीव को परमात्मा की प्राप्ति हेतु जिज्ञासा ही न हो ।

प्रभु कृपा से मानव जीवन भी प्राप्त हो जावे । पूर्व या वर्तमान जीवन में किये निष्काम कर्म एवं उपासना के फल स्वरूप मोक्ष की इच्छा भी जाग्रत हो जावे । किन्तु तत्त्वदर्शी सद्गुरु की प्राप्ति न हो तो मानव जीवन व्यर्थ हो जाता है । जीव जन्म–मरण के चक्र से छूट नहीं पाता है ।

गुरु बिन भव निधि तरई न कोई । जो विरंचि शंकर सम होई ।

गुरु के बिना आत्म तत्त्व का श्रवण करावे भी कौन ? जगत् में प्रेय मार्ग के उपदेशक तो बहुत हैं, किन्तु श्रेयमार्ग के बताने वाले वक्ता दुर्लभ है।

"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं संता ।"

यदि आत्म तत्त्व के श्रवण कराने वाले संत मिल गये तो उनकी बात को श्रद्धा पूर्वक सुनने वाले श्रोता भी कोई भाग्यशाली ही होते हैं । जैसे चंदन हर जंगल में नहीं, हंस हर सरोवर में नहीं, हीरा, सोना, पन्ना हर खदान में नहीं, कस्तूरी हर मृग को नहीं, मुक्ता हर हाथी को नहीं, मणि हर सर्प को नहीं होती । इसी प्रकार आत्म ज्ञान के श्रोता एवं वक्ता भी हजारों लाखों की संख्या में नहीं होते । खेल के मैदान, जादू खेल, सर्कस, सिनेमा, राजनेता के समक्ष भीड़ मिलेगी, किन्तु सत्संग में कितने लोग आकर बैठते हैं ?

बहुत जन्मों के निष्काम कर्म एवं भक्ति के फल स्वरूप ईश्वर कृपा से कोई आत्मदर्शी महापुरुष मिलता है । उनमें श्रद्धा विश्वास का होना और भी दुर्लभ कहा गया है । श्रवण हुआ तो उसका हृदयंगम करना एवं समझना मुश्किल लगता है ।

सुनत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक ।

यह आत्म वस्तु वाचातीत, अचिन्त्य, अकथनीय, अवर्णनीय, निराकार होने से इसको शब्दों में कहना एवं मन, बुद्धि द्वारा इसका निश्चय

करना एक आश्चर्यजनक विषय है । आत्म वस्तु अप्रमेय होने से इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, एवं निराकार होने से मन-बुद्धि द्वारा अनुमानगम्य भी नहीं है । वह परोक्ष भी नहीं है एवं इन्द्रिय विषय की तरह प्रत्यक्ष भी नहीं है ।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृणवन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्यलब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।

– कठोपनिषद, २/७

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चित् एनम्,
आश्चर्यवत् वदति तथैव च अन्यः ।
आश्चर्यवत् च एनम् अन्यः श्रृणोति,
श्रुत्वअपि एनम् वेद न च एव कश्चित् ।

–गीता, २/२९

आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो ।

सद्‌गुरु की शरण में जाकर श्रद्धा एवं एकाग्रतापूर्वक अपने आत्म विषयक महावाक्यों का श्रवण करना चाहिए एवं फिर उस उपाधि रहित, सर्व प्रकाशक, स्वयं प्रकाश, सोऽहम् आत्मस्वरूप को ज्ञानचक्षु द्वारा जानना चाहिए । संसार में देखने का अर्थ नेत्र इन्द्रिय द्वारा दर्शन करना है, किन्तु परमार्थ में दर्शन का अर्थ देखना नहीं 'जानना' है ।

विमूढानानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः । – गीता, १५/२०

अर्थात् शुद्ध मन, बुद्धि द्वारा उसे जानना चाहिए ।

सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः – कठो, उप.१/३/१२

इस परम तत्त्व को जानने के लिए मन, बुद्धि, वाणी साहस करते तो हैं, किन्तु वे उसे बिना जाने लौट आते हैं । मन, बुद्धि, वाणी के बिना संसार की सिद्धि नहीं होती है, इनके बिना संसार से सम्बन्ध जुड़ नहीं पाता है । किन्तु परमात्मा को जानने में इन्द्रियाँ निरुपयोगी एवं बाधक भी हैं । रूप दर्शन में नेत्र, मन, बुद्धि साधक हैं, किन्तु स्वरूप दर्शन में बाधक हैं । लोग इनसे परे नहीं जा पाते हैं । इन्हीं की दीवारों के मध्य फँस जीवन नष्ट कर देते हैं ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। गीता : ७/२५

यह शरीर एवं सृष्टि स्थूल है जो दिखाई देती है । इसमें यह नाम, रूप सब माया का विकार है किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म अस्ति, भाति, प्रिय रूप आत्म तत्त्व है वह किसी को दिखाई नहीं देता । आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं पड़ता है बल्कि आत्म शक्ति का अंश मात्र प्राप्तकर यह सब इन्द्रियाँ अपना कार्य करती है । किन्तु साधक अज्ञानता वश उसे अपने नेत्र, श्रोत्रादि इन्द्रियों से देखने की इच्छा कर नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप को जानने से वंचित् रह जाता है ।

परमात्मा को जानने हेतु इन्द्रियों को माध्यम नहीं बनाया जा सकता । इन्द्रियों को तो संसार ज्ञान के लिए ही माध्यम बनाया जा सकता है । रूप दर्शन हेतु नेत्र, शब्द श्रवण हेतु श्रोत्र, किन्तु परमात्म दर्शन हेतु इन्द्रियों के पीछे पहुँचना होगा, जहाँ से इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ हो रही हैं । इसीलिए कहा है –

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/६ केन. उप.

इस आत्म स्वरूप अन्तर्यामी परमात्मा को कोई भी साधक इन चर्म चक्षु द्वारा सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पशु, पक्षी, वृक्ष लता मनुष्यादि की तरह नहीं देख सकता किन्तु जिस चैतन्य आत्मशक्ति द्वारा समस्त नाम, रूप दृश्य को एवं उस नेत्र को भी देखता है, उसी को तू ब्रह्म जान । जो इस देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न नाम, रूप धारी व्यक्ति को भगवान मान कर अज्ञानी उपासना करते है, वह ब्रह्म का वास्तविक रूप नहीं है ।

''उतिष्ठत जाग्रत''– ''उठो एवं जागो'' – कठोपनिषद, १/३/१४

परमात्मा के लिए इन्द्रियों के आगे भागो नहीं । संसार के लिए तो 'जागो एवं भागो', क्योंकि संसार के पदार्थ एवं व्यक्ति तुम से दूर एवं पृथक है । किन्तु परमात्मा तो नित्य प्राप्त एवं तुम्हारा नित्य सिद्ध स्वरूप है, उसके लिए साधन की आवश्यकता नहीं । साधन साध्य जगत् हैं, इसलिए प्राप्तव्य

है । अप्राप्त की प्राप्ति कर्म साधन से ही होती है, किन्तु मुमुक्षु से उसका साध्य मोक्ष, आत्मा, परमात्मा, आनन्द कोई भिन्न नहीं है, इसलिए यहाँ केवल जानना ही पर्याप्त है । मृग को कस्तूरी हेतु जानना मात्र पर्याप्त है, भागने, खोजने की आवश्यकता नहीं । खोजना वहाँ होता है, जहाँ वस्तु हमसे दूर, दृश्य एवं जड़ रूप होती है ।

ब्रह्म को सांसारिक पदार्थों की तरह हमें न देखना है न प्राप्त करना है । वह न दूर है, न अप्राप्त है । आत्मा सत्य, विभू, अणु, नित्य, अनन्त एवं ज्ञान है । वह दृश्य नहीं, तब दर्शन कैसे हो ? भिन्न नहीं तब प्राप्त कैसे हो ? नाराज नहीं तो प्रार्थना कैसी ? साकार नहीं तो सेवा कैसी ? अतृप्त नहीं तो भोग कैसा ? अशुद्ध नहीं तो स्नान कैसा? व्यापक है तो मन्दिर व आसन कैसा? निराकार है तो ध्यान एवं वस्त्र अलंकार कैसा ?

आत्मा नित्य एवं मेरा स्वरूप है इसलिए साधन साध्य नहीं है । ब्रह्म स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश, साधन निरपेक्ष है । साधन ब्रह्मानुभूति में विघ्न रूप ही है ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आत्मा द्वारा सब कुछ जाना जाता है, किन्तु आत्मा स्वयं को उसी प्रकार दृश्य रूप में नहीं देख सकते । जैसे प्रकाश सबको दिखाता है, स्वयं को नहीं, जैसे कैमरा सबको दिखा सकता है, किन्तु स्वयं को नहीं ।

येनेदं सर्वम् विजानाति तं केन विजानीयात्
विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । – बृह्मदा. उप. ४/५/१५

ब्रह्म वस्तु साक्षात् अपरोक्ष है । यह आत्मा मैं स्वयं हूँ, यह मेरा स्वरूप है, इसलिए न मुझसे दूर है न भिन्न है, न प्रत्यक्ष है न परोक्ष है । मेरी आत्मा व मैं कहने को द्वैत-सा प्रतीत होता है, किन्तु मेरी शक्ति मेरा वजन क्या यह मुझसे भिन्न नापा तोला देखा जा सकेगा ? कदापि नहीं । यह मुझसे जैसे भिन्न नहीं, इसी प्रकार मेरी आत्मा मुझसे भिन्न किसी दूर देश में नहीं है । इसलिए कहीं जाने, खोजने, ढूँढने, देखने की जरूरत नहीं है । आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है । प्रति= प्रत्येक, अक्ष = इन्द्रियाँ, अर्थात् आत्मा

शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की तरह अनुभवगम्य विषय (प्रमेय) नहीं है । जो इन्द्रियगम्य नहीं, वह प्रत्यक्ष नहीं एवं जो प्रत्यक्ष नहीं उसे ही अप्रमेय, अगोचर, अचिन्त्य कहते हैं । अनुमानगम्य धुवाँ देख अग्नि का निश्चय, पुत्र देख पिता का निश्चय, कार्य देख निमित्त कारण का निश्चय, घड़ा देख कुम्भार का निश्चय करने की तरह परमात्मा अनुमानगम्य भी नहीं है । इसलिए परमात्मा न प्रत्यक्ष है, न परोक्ष है, बल्कि वह साक्षात् अपरोक्ष है । स्वयं ही है । इन्द्रिय प्रमाण सदा जड़ वस्तु हेतु ही उपयोगी होते हैं, जड़ वस्तुओं का प्रकाशक उनसे भिन्न कोई चैतन्य होता है, पर चैतन्य का कोई अन्य चैतन्य प्रकाशक नहीं है, इसलिए वह स्वयं प्रकाश ही है ।

यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातं अविजानताम् । केन उप.२/३

जो यह कहता है कि मैं आत्मा को दृश्य वस्तु की तरह इन्द्रियों द्वारा देख चुका हूँ । वेद कहता है की वह ब्रह्म को बिलकुल नहीं जानता है एवं जो यह कहता है कि मैं आत्मा को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से नहीं जानता हूँ। बस उसी ने आत्मा को अपेराक्ष रूप से स्वयं से जाना है ।

आत्मा ध्येय वस्तु नहीं, आत्मा का कोई ध्याता नहीं, क्योंकि आत्मा स्वयं ही सब पदार्थों का ध्याता, द्रष्टा, ज्ञाता है । आत्मा ध्यान का विषय नहीं, ध्यान का विषय साकार होता है । आत्मा निराकार होने से ज्ञान का विषय है । ज्ञान द्वारा सोऽहम् रूप से जाना जाता है । '**ज्ञानं ज्ञेय**', '**ज्ञानं गम्यम्**' ब्रह्म सूक्ष्म दृष्टि द्वारा गुरु कृपा से आत्मा रूप से जाना जाता है । इसे जानने हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास विवेक, वैराग्य, षट्- सम्पति तथा मुमुक्षुता साधन सम्पन्न हो जाना चाहिए ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

१।२।१२।। मु.उप.

परमात्मा को आत्मा रूप से जानने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं । जो यह कहते हैं कि पर्वत पर किसी दिशा से आरोहण किया जावे अन्त में तो पर्वत शिखा पर ही पहुँच जावेंगे । "All road lead to God" यह

कहना सरल लगता है, किन्तु सत्य नहीं है । केवल एक ही मार्ग है, ''**नान्य पन्थाः**'', ''**ज्ञानात् मुक्तिः**'', ''**ऋते ज्ञाने न मुक्तिः**'', यह विचार है । विचार का मार्ग ही परमात्मा की उपलब्धि का अनुभव करा पाता है । लेकिन करोड़ों कर्म द्वारा नहीं ।

वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः । – ११ वि. चूड़ा.

यदि नाम रूप की उपासना छोड़ उसका अधिष्ठान सच्चिदानन्द रूप से ज्ञान किया जाय तो यह जीव सदा के लिए जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त हो सकता है । मुक्ति के लिए ब्रह्मात्म ज्ञान ही एकमात्र मार्ग है । विचार द्वारा ही जीव बन्धन भ्रान्ति से मुक्त हो सकता है, क्योंकि बन्धन अविचार से मान लिया गया है । विचार यही करना है कि 'जाति, कुल, गोत्र, नीति, नाम, रूप, गुण, दोष, देश, काल, विषय से मैं आत्मा सदा मुक्त हूँ, जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ ।' यह निश्चयवाला पुनर्जन्म को नहीं पाता है ।

जाति नीति कुल गोत्र दूरंग नाम रूप गुण दोष वर्जितम् ।
देश काल विषयातिवर्ति यद्ब्रह्म 'तत्वमसि' भावयात्मनि ।

– २५५ से २६४ वि. चूड़ा.

अनादि काल से जीव ८४ लाख योनियों में भटकता हुआ कभी-कभी देव-दुर्लभ यह मानव देह पाता है एवं सकाम-निष्काम कर्म तथा साकार-निराकार उपासना करता आ रहा है ।

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। गीता : ७/१९

इस प्रकार अनेक मानव जन्म में किए निष्काम कर्म उपासना के फल स्वरूप जीव के अन्तःकरण के मल तथा विक्षेप दोष दूर हो जाते हैं । परिणामस्वरूप आत्मज्ञान को प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त करता है । ऐसी अवस्था में ईश्वर की कृपा से किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की प्राप्ति हो जाने पर यह जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को अपरोक्ष रूप से जान लेता है । जिस ब्रह्म को अनादि से मैं भिन्न जान ढूँढ रहा था, वह ब्रह्म मैं ही हूँ एवं जिस शरीर को मैं रूप मान रहा था, यह शरीर मैं नहीं हूँ । जीव जिस जीवन

में यह आत्म निश्चय कर लेता है, वही जीव का अन्तिम जीवन हो जाता है, फिर इस देह संघात् में 'मैं-मेरा' अहंकार नहीं होने से यह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है ।

यह सब ब्रह्म ही है । नाम, रूप, भिन्न हैं किन्तु सूत्र रूप आत्मा तो एक ही है । जैसे पुष्पमाला में रंग, सुगन्ध पुष्प भिन्न-भिन्न होने पर भी सब को धारण करनेवाला सबमें से निकलता हुआ सूत्र तो एक अखण्ड़ ही रहता है । उसी तरह समस्त प्राणियों के नाम, आकार, जाति, स्वभाव भिन्न होने पर भी सबको धारण करनेवाला आत्मा तो एक ही है और वही आत्मा मैं हूँ । जब सभी जीवों में मैं एक हूँ, तब कैसे किसी को मारुँ ? कैसे किसी की चोरी करूँ ? कैसे किसी की निन्दा करूँ ? जब मैं सर्वत्र सूत्रवत् व्यापक हूँ, तब किसी का अपमान कैसे करूँ ? इस प्रकार का निश्चय रखने एवं निश्चय कराने वाला महात्मा वास्तव में जगत् में दुर्लभ है ।

सत्संगति दुर्लभ संसारा, निमिष दण्ड भरि एकहुँ बारा ।

सत्संगत्वे निःसंगत्वं निःसंगत्वे निर्मोहत्वम् ।
निर्मोहत्वे निश्चल तत्त्वं निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्ति ।।

सत्संग किसी देश, काल तथा वस्तु के संग को नहीं कहते हैं । सत्य के संग का नाम सत्संग है । सत्य नाम आत्मा का है । आत्मा का चिन्तन करना ही सत्संग है । इस प्रकार के सत्संग से असंगता मन में आती है । अपने को देहसंघात् से भिन्न अनुभव करने पर देहसंघात् से मोह-ममता दूर हो वैराग्य हो जाता है । जब मैं-मेरा भाव समाप्त हो जाता है, तब अचल, अखण्ड, नित्य, आत्मा में सोऽहम् भाव को प्राप्त कर यह जीव जीवन्मुक्त हो जाता है ।

कर्म-उपासना मोक्ष में बाधक

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा ।

– ५६, विवेक चूड़ामणी

मुक्ति का हेतु कर्म, उपसाना तथा ध्यान नहीं है । मुक्ति का हेतु एकमात्र ज्ञान है । यदि आत्मा में बन्ध सत्य होता तो वह केवल ज्ञान से निवृत्त कभी नहीं होता । वेद जब ज्ञान से मोक्ष बताता है तो सिद्ध होता है कि बन्धन अज्ञान कल्पित है । यदि बन्ध सत्य होता तो फिर कर्म, उपासना से भी निवृत्त नहीं हो पाता । यह बन्धन आत्मा में सत्य नहीं, बल्कि रस्सी में मंद अन्धकार के कारण होनेवाली सर्प भ्रान्ति के समान मिथ्या है । जिस प्रकार उस मिथ्या सर्प भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान रस्सी ज्ञान से ही हो सकती है अन्य किसी दण्ड, पत्थर, तलवारादि से नहीं ।

अविचारा कृतोबन्धो विचारान्मोक्षो भवति ।
तस्मात् सदा विचारयेत । २, पैङ्गल उप.

इस प्रकार जीव को आत्मा के अज्ञान से आत्मा में बन्ध प्रतीत होता है, वह बन्ध सत्य नहीं है । इसलिए वह बन्ध भ्रान्ति कर्म, उपासना योगादि साधन से नहीं बल्कि आत्म ज्ञान द्वारा ही निवृत्त हो सकती है ।

ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो नैव कर्मणा । ३५, भावनोपनिषद्

संसार का नाश अर्थात् जन्म-मरण की निवृत्ति तो ज्ञान से ही होती है, कर्म से कदापि नहीं अतः कर्म त्याग ही मोक्ष में हेतु है ।

यदि कर्म का फल मोक्ष हो तो किसान (चाषी) के कर्म के फल रूप प्राप्त होनेवाली फसल की तरह यह भक्तों का मोक्ष भी नाशवान् ही होगा ।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । – गीता ९/२१

जैसे यज्ञादि के फल स्वरूप स्वर्ग एवं भक्ति के फलस्वरूप बैकुण्ठादि लोक भी अनित्य ही हैं । उपासना भी एक मानसिक कर्म-चिन्तन होने से उसका फल भी कर्म की तरह अनित्य ही होता है ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः । – गीता, ८/१६

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डक. उप. १/२/१२

उन परमब्रह्म परमात्मा को जानने एवं प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को क्या करना चाहिए, इस जिज्ञासा पर कहते हैं –

अपना कल्याण चाहनेवाले जिज्ञासु को पहले बतलाए हुए सकाम कर्मों के फलस्वरूप, इस लोक और परलोक के समस्त सांसारिक सुखों की भली भाँति परीक्षा करना चाहिए अर्थात् विवेक पूर्वक उन सुखों की अनित्यता और संसार बन्धन, जन्म-मरण रूप दुःखरूपता को समझकर जिज्ञासु को सब कर्म, उपासना एवं उनके फल भोग से सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिए ।

यह निश्चय कर लेना चाहिए कि कर्तापन के अभिमान पूर्वक सकाम भाव से किए जानेवाले कर्म, अनित्य फल को देनेवाला है तथा मिलने वाले लोक भी अनित्य ही है ।

अतः जो सर्वथा क्रिया साध्य नहीं है, ऐसे नित्य प्राप्त परमात्मा की प्राप्ति कर्म द्वारा कदापि नहीं हो सकेगी । उसकी प्राप्ति हेतु हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा एवं विनय भावयुक्त होकर ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए, जो वेदों के रहस्य को भली भाँति जानते हैं और परब्रह्म में स्थित हैं ।

कर्म के पाँच उपयोग

कर्म कर्ता को कर्म से पाँच प्रकार का उपयोग होता है – (१) पदार्थ की प्राप्ति, (२) पदार्थ का विकार, (३) पदार्थ की उत्पत्ति, (४) पदार्थ का संस्कार तथा (५) पदार्थ का नाश ।

१ प्राप्ति : जैसे कुम्हार को कर्म द्वारा जंगल जाकर अप्राप्त मिट्टी के लिये प्राप्ति रूप कर्म का उपयोग होता है । किन्तु अग्नि उष्णतावत् आत्मा नित्य मुक्त स्वभावी है । अतः नित्य मोक्ष स्वरूपा आत्मा में मुक्ति की प्राप्ति कहना अज्ञान ही है । आत्मा में बन्ध नहीं है, इसलिए मोक्ष की प्राप्ति रूप कर्म का भी उपयोग मुमुक्षु के लिए व्यर्थ है । जैसे गमन रूप क्रिया से ग्राम की प्राप्ति हो जाती है, वैसे नित्य प्राप्त मोक्ष स्वरूप का कर्म से मोक्ष की प्राप्ति रूप उपयोग नहीं बनता है।

२ विकार : जैसे भोजन बनाने वाला पाक कर्म द्वारा अन्न, दूध, दही का रूपान्तर करना कर्म का विकार रूप उपयोग कहलाता है । वैसे ही मुमुक्षु को मोक्ष के लिए कर्म का विकार रूप उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा में प्रथम बन्ध माने एवं मोक्षावस्था में चतुर्भुजाकारादि विलक्षण विकार रूप प्राप्ति हो किन्तु कूटस्थ, निर्विकार आत्मा में विकार रूप कर्म का उपयोग नहीं है ।

३.उत्पत्ति : जैसे कुम्हार के उत्पत्ति रूप कर्म द्वारा घट की उत्पत्ति होती है, वैसै मुमुक्षु को आत्मा के मोक्ष की उत्पत्ति की आवश्यकता नहीं । आत्मा नित्य मोक्ष स्वरूप है । आत्मा परमानन्द स्वरूप है । रस्सी में सर्प तीन काल में नहीं है उसी प्रकार आत्मा में बन्ध की निवृत्ति नित्य सिद्ध है । इस प्रकार स्वभाव सिद्ध मोक्ष की उत्पत्ति कर्म से नहीं बनती । जो वस्तु पूर्व से नहीं होती है, उसकी ही उत्पत्ति कर्म द्वारा करना पड़ता है । जैसे धन, पुत्र, मकान, वस्त्र औजार, यंत्र, रथादि ।

मोक्ष की प्राप्ति में वेदान्त श्रवण का भी उपयोग नहीं है । किन्तु आत्मा नित्य मुक्त है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है । इस नित्य प्राप्त

सत्य आत्मा बोध के लिए ही श्रवण, मनन की आवश्यकता है कि मैं आत्मा नित्यप्राप्त, नित्यसिद्ध हूँ । मेरे मोक्ष के लिए किंचित् भी कर्तव्य नहीं है । इस ज्ञान, वेदान्तज्ञान से मोक्ष हेतु कर्तव्य की भ्रान्ति छूट जाती है ।

४ संस्कार : जैसे वस्त्र को धोने रूप कर्म का संस्कार मल की निवृत्ति रूप है, वैसे मल की निवृत्ति रूप संस्कार का उपयोग मुमुक्षु को कर्म से नहीं है । क्योंकि आत्मा नित्य शुद्ध है । अतः निर्मल आत्मा की शुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता । इससे मुमुक्षु को आत्मा में मल की निवृत्ति रूप संस्कार कर्म का उपयोग भी नहीं बनता ।

आत्मा तो चींटी से ब्रह्मादिक तक समान नित्य शुद्ध ही है । आत्मा में मल का पूर्णाभाव है । मुमुक्षु के अन्तःकरण का पाप मल तो आत्मा जिज्ञासा से पूर्व कर्म, उपासना द्वारा ही निवृत हो चुका है । इसलिए मुमुक्षु को कर्म से पाप रूप मल की निवृत्ति हेतु संस्कार रूप कर्म का उपयोग नहीं बनता है ।

यदि अज्ञान को मल कहें तो वह ज्ञान द्वारा ही निवृत्त होगा, कर्म द्वारा कदापि नहीं । क्योंकि जैसे अन्धकार का विरोधी एक मात्र प्रकाश ही है, उसी प्रकार अज्ञान का विरोधी एक मात्र ज्ञान ही है, कर्म नहीं । आत्मा में मल ही नहीं है तब मल की निवृत्ति हेतु संस्कार रूप कर्म का उपयोग भी नहीं बनता ।

५ नाश : जैसे दण्ड के प्रहार रूप कर्म का उपयोग घट नाश में होता है, वैसे मुमुक्षु को अन्य किसी का तो नाश करना नहीं, उसके लिए तो बन्ध का नाश ही उपयोगी है । वह बन्ध आत्मा में अज्ञान से कल्पित हुआ है, उस अज्ञान का नाश अधिष्ठान आत्मा के ज्ञान से ही होगा । इस अज्ञान के नाश हेतु भी कर्म का नाश रूप उपयोग मुमुक्षु के लिए नहीं बनता ।

उपरोक्त पांचों प्रकार के उपयोगों में से मुमुक्षु के लिए मोक्ष प्राप्ति अथवा परमात्म प्राप्ति में एक भी उपयोग ग्राह्य नहीं है । इससे मुमुक्षु ज्ञान के साधन वेदान्त श्रवणादि में ही प्रवृत्त होता है, कर्म, उपासना योगादि साधनों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

वेदान्त श्रवण के अनन्तर भी जिन्हें निज मोक्ष हेतु वेदोक्त कर्म, उपासना आदि साधनों के करने की कर्तव्यता मालूम हो तो समझना चाहिए कि वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त नहीं हो पाये हैं । तत्त्वज्ञ के लिए किसी भी प्रकार के वेद प्रतिपादित कर्म, उपासना, योगादि साधनों को करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । '**तस्य कार्यं न विद्यते**' यदि करता है तो उसे अज्ञानी ही समझना चाहिए । इसलिए कर्म को छोड़कर ज्ञान के साधन रूप श्रवणादि में ही मुमुक्षु की प्रवृत्ति होती है ।

उपासना भी कर्म का एक अंग है । इसलिए उपासना के खंडन में कर्म के खंडन वाली युक्ति ही उपयोगी है, अन्य युक्ति की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार कर्म एवं उपासना मोक्ष का हेतु नहीं है, वरन् केवल ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ।

कर्म उपासना पक्षपाती का विरोध

भेदवादी अज्ञानी लोग कर्म-उपासना द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं एवं उसके लिए वे युक्ति बतलाते हैं कि जैसे पक्षी आकाश में एक पंख में उड़ान नहीं कर पाता है, दोनों पंख आवश्यक हैं, वैसे मोक्षधाम को गमन करने के लिए मुमुक्षु को ज्ञान रूप एक ही पंख से पहुँचना असंभव होगा । उसे कर्म-उपासना रूप दूसरा पंख भी अवश्य स्वीकार करना होगा ।

पक्षी को गमन हेतु एक साथ दोनों पंख आवश्यक हैं, किन्तु यह युक्ति मुमुक्षु के लिए निर्मूल है । क्योंकि पक्षी को तो दोनों पंख एक समय पैदा होने से उनका परस्पर विरोध भी नहीं है । किन्तु ज्ञान एवं कर्म का परस्पर विरोध है । कर्म एवं उपसाना द्वैत भाव द्वारा संपादित होते हैं जैसे कि मैं यज्ञादि कर्म का कर्ता हूँ एवं इन्द्र आदि देव मुझे फल देने वाले हैं, मैं भक्ति करने वाला भक्त हूँ, विष्णु आदि देव मुझे अपने लोक में पहुँचाने वाले हैं । जबकि ज्ञान अद्वैत भाव पैदा होने से है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" मेरे अलावा अन्य किसी की कोई स्वतंत्र सता नहीं है ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेहनानास्ति किञ्चन्'

ज्ञान अन्तर्मुख वृत्ति से होता है किन्तु कर्म, उपासना बहिर्मुख वृत्ति एवं साधन सामग्री द्वारा होता है ।

पक्षी को अन्य ग्राम एवं वृक्ष हेतु उड़ान आवश्यक है किन्तु मुमुक्षु का मोक्षधाम, स्वधाम, परमधाम तो स्वयं आत्मानुभूति मात्र है । उसे पक्षी की तरह गमन क्रिया करने की आवश्यकता नहीं, इसलिए उसे कर्म-उपासना रूप द्वितीय पंख की आवश्यकता भी नहीं ।

ज्ञान के फल मोक्ष को यदि स्वर्ग के समान लोक विशिष्ट अदृष्ट मानें तो ऐसा मोक्ष वेद विरुद्ध होगा । क्योंकि ज्ञानी के प्राण प्रारब्ध शेष हो जाने पर यहीं अपने कारण में लीन हो जाते हैं । अज्ञानी की तरह वासनानुसार अन्य लोक को गमन नहीं करते हैं । यदि लोक विशेष में प्राणों का जाना माना जावेगा तो फिर वह स्वर्ग, बैकुण्ठादि लोक की तरह मोक्ष भी नाशवान् ही होगा । उत्पन्न फल सभी नाशवान् ही होते हैं ।

यदि मोक्ष को लोक विशेष भी मान लें तो भी मोक्ष ज्ञान से होगा । क्योंकि वेद में मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही बतलायी है, कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीनों का समुच्चय द्वारा नहीं कहा है ।

शंकावादी का कथन

कोई अज्ञानी कर्म, उपासना सहित ही ज्ञानोत्पति हो सकेगी ऐसा मानने के लिए युक्ति बतलाते हैं - जैसे अन्तःकरण की शुद्धि हेतु कर्म-उपासना उपयोगी है, उसी प्रकार ज्ञान के फल मोक्ष के हेतु भी कर्म-उपासना को स्वीकार करना होगा ।

जैसे वृक्ष की उत्पत्ति का हेतु जल का सींचना आवश्यक है, उसी प्रकार जल ही वृक्ष के फल की उत्पत्ति का भी हेतु है । जंगलों में भी वृक्षों में जो फल आते हैं, वह वृक्षों की जड़ें पृथ्वी से जल को ग्रहण करती रहती हैं । यदि जल का सम्बन्ध वृक्ष से या पौधे से न हो तो वृक्ष एवं पौधा सूख जाता है, फिर वह फल एवं पुष्प कुछ भी प्रदान नहीं कर सकेगा । वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु कर्म और उपासना है । वही ज्ञान का फल मोक्ष का भी हेतु होगा । इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ही मोक्ष के हेतु हैं । इसलिए ज्ञानी को भी कर्म करना चाहिए कर्मों को त्यागना नहीं चाहिए । जैसे जल बिना वृक्ष नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-उपासना से उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा ।

अथवा अन्तःकरण की शुद्धि कर्म-उपासना द्वारा होकर ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु शुभ कर्म न होने से ज्ञानी पुरुष को पाप लगेगा एवं कर्म-उपासना छोड़ देने से अन्तःकरण में पुनः चंचलता आ जावेगी तब उस चंचल अन्तःकरण में ज्ञान नहीं रह सकेगा, जैसे जल बिना वृक्ष जीवित नहीं रह पाता है ।

समाधान

उपरोक्त तीनों युक्ति भी निर्मूल हैं, क्योंकि वृक्ष की उत्पत्ति में तो जल का उपयोग परमावश्यक है एवं रक्षा हेतु भी जल आवश्यक है किन्तु जल फल उत्पति का हेतु नहीं है । फल देने के संस्कार वाले वृक्ष ही फल एवं पुष्प देने के संस्कार युक्त पौधे ही पुष्प देने में समर्थ होते हैं । जिन वृक्षों एवं पौधों में फल एवं पुष्प देने की सामर्थ्य नहीं है, उन्हें जल सिंचन करने पर भी पुष्प एवं फल उत्पन्न नहीं होते हैं । यदि जल, पुष्प एवं फल का हेतु होता तो पृथ्वी के सभी पौधों पर पुष्प एवं वृक्षों पर फल दिखाई पड़ते । बल्कि ऐसा देखा जाता है कि फल देनेवाले वृक्ष भी अपनी वृद्धावस्था में जल सिंचन होने पर भी फल प्रदान नहीं कर पाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि कर्म-उपासना ज्ञान की उत्पत्ति में तो उपयोगी है, किन्तु मोक्ष में नहीं । ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व अन्तःकरण शुद्धि हेतु तो कर्म-उपासना अवश्य करें, किन्तु मोक्ष इच्छा जाग्रत होने के बाद मोक्ष निमित्त कर्म-उपासना का त्याग ही कर्तव्य है । कर्म-उपासना ज्ञान के सहायक श्रवण-मनन के विरोधी होने से उनका त्याग करना उचित है ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये ।
वस्तु सिद्धिर्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ।। ११ , वि. चूड़ामणि

सर्वप्रथम परमात्मा की ओर जाने वाले साधक का प्राणी मात्र के प्रति निष्काम कर्म एवं उपासना करना अपने आप में बहुत ही उत्तम साधना है । इससे उसके चित्त के मल एवं विक्षेप दोनों दोषों का नाश एवं आत्म-जिज्ञासा का उदय हो जाता है । लेकिन आत्म साक्षात्कार रूप मोक्ष तो आत्मा-अनात्मा का विवेक करने से अनात्मा से मन को वैराग्य करा नित्य वस्तु आत्मा में 'मैं आत्मा हूँ', देह भाव की तरह बुद्धि को दृढीभूत करने से

होगी । इस आत्मा-निष्ठा को 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' निष्ठा के बिना करोड़ों कर्मों द्वारा भी मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकेगी ।

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।
आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्तिर्न, सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।

६, विवेक चूड़ामणि

मोक्ष का जिज्ञासु चाहे चारों वेदों, अठारह पुराणों तथा दो सौ चालीस से अधिक उपनिषदों को मुखस्त कर ले, सभी देवताओं का पूजन करे, चाहे सभी प्रकार के निष्काम, सकाम कर्म क्यों न करता रहे किन्तु ब्रह्म व आत्मा का सोऽहम् रूप से जब तक बोध जाग्रत नहीं होता है उसका सौ ब्रह्माओं के जीवन काल व्यतीत होने तक भी उस भेद दर्शी का कल्याण अर्थात् मुक्ति सम्भव नहीं है ।

आत्म-जिज्ञासा उदय न होने तक ही अन्तःकरण की शुद्धि हेतु कर्म-उपासना अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु आत्म-जिज्ञासा उदय होने के वाद उपासना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे नदी तट आजाने पर नौका का प्रयोजन व्यर्थ हो जाती है ।

शंकावादीः-जैसे वृक्ष की उत्पत्ति एवं रक्षा हेतु जल सिंचन आवश्यक है, जल के बिना वृक्ष सुख जाता है, इसी प्रकार कर्म-उपासना से ज्ञान की उत्पत्ति एवं रक्षा हो सकेगी । कर्म-उपासना के न करने से अन्तःकरण मलिन एवं चंचल हो जाने से उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा, इसलिए ज्ञानी को कर्म व उपासना ज्ञानरक्षा निमित्त करना चाहिए ।

समाधान :-इस उपरोक्त कथन को भी निर्मूल ही जानना चाहिए । क्योंकि आभास सहित अर्थात् चेतनता सहित अन्तःकरण की 'मैं असंग ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्ति वेदान्त ज्ञान है । कर्म, उपासना में सेवक व स्वामी, मैं कर्ता एवं ईश्वर मेरे कर्मों का फल प्रदाता है, इस प्रकार कर्म-उपासना द्वैत भाव प्रतिपादक होने से, अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति का नाश हो जावेगा, रक्षा नहीं होगी ।

शंकावादीः-यदि कहे कि कर्म-उपासना से ब्रह्मविद्या रूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है और कर्म-उपासना के छोड़ देने से उत्पन्न विद्या का नाश हो जावेगा इसलिए उसकी रक्षा के लिए कर्म-उपासना करते रहना चाहिए ।

समाधान :-तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं । क्योंकि एक बार उत्पन्न हुई अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति से अज्ञान और भ्रान्ति का नाश रूप फल उसी समय हो जाता है । तब अज्ञान और भ्रान्ति का नाश हो जाने पर अहं ब्रह्मास्मि रूप ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति या रक्षा के लिए कर्म-उपासना करना अनावश्यक हो जाता है । जैसे शत्रु मर जाने पर हाथ में शस्त्र पकड़े रहने की आवश्यकता नहीं रहती । फिर अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति की रक्षा कर्म-उपासना से होती भी नहीं है, बल्कि कर्म-उपासना तो ब्रह्माकार वृत्ति की विरोधी है । क्योंकि कर्म-उपासना के अनुष्ठान करने पर उसकी सामग्री का ही वृत्ति रूप से ज्ञान होगा, उपासक-उपास्य, स्वामी-दास का ही भेद ज्ञान होगा । 'मैं ब्रह्म हूँ'- ऐसा ज्ञान नहीं होगा । इस कारण कर्म-उपासना द्वारा ज्ञान एवं ब्रह्माकार वृत्ति की रक्षा नहीं होती ।

ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कर्म-उपासना अन्तःकरण में मल और विक्षेप दोष निवृत्ति हेतु आवश्यक है, ऐसा साधक स्वीकार करें, किन्तु मुमुक्षुता जाग्रत हो जाने पर कर्म-उपासना का फल सहित त्याग करना ही उचित है ।

ज्ञानी के लिए पाप-पुण्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है । क्योंकि पुण्य-पाप और उनका आश्रय अन्तःकरण परमार्थ से नहीं है । बल्कि अज्ञान के कारण रस्सी में सर्प भ्रम की तरह आत्मा में प्रतीति होती है । यह अविद्या और मिथ्या प्रतीति ज्ञानी में नहीं होती इसलिए उसे अशुभ कर्म के अनुष्ठान से पाप नहीं एवं शुभ कर्मानुष्ठान से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती है । ज्ञानी के अज्ञान का नाश होने से उसके मन में पाप और चंचलता का अभाव हो जाने से उसे कर्म एवं उपासना की आवश्यकता नहीं है ।

जिस ज्ञानी को- मैं ब्रह्म हूँ- इस प्रकार दृढ़ निश्चय द्वारा 'मैं देह हूँ' ऐसी भ्रान्ति नष्ट हो चुकी है, फिर उस ज्ञानी के मन से ब्रह्म ज्ञान दूर हो जावे तो भी उसे अपने आत्मा में पुनः ''मैं देह हूँ'' ऐसी भ्रान्ति कदापि नहीं हो सकती । फिर भ्रान्ति के अभाव में ब्रह्माकार वृत्ति का कोई उपयोग नहीं रहता । जैसे कांटे से कांटा निकल जाने पर दूसरे कांटे का उपयोग नहीं

रहता । अर्थात् देहभाव, कर्ताभाव, अविद्या, नष्ट हो जाने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति ज्ञान का भी कोई उपयोग नहीं रह जाता, जैसे सूर्योदय के बाद दीपक की ज्योति व्यर्थ ही हो जाती है ।

हाँ ! जीवन्मुक्ति के आनन्द में वृत्ति की अपेक्षा है । उसके लिए वेदान्त श्रवण, मनन, चिन्तन आवश्यक है । कर्म-उपासना नहीं । वेदान्त चिन्तन से ही ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है, जो जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द का हेतु है । यद्यपि अन्तःकरण की चंचलता से उस ज्ञानी के विदेह मोक्ष में कोई हानि नहीं होती तो भी चंचल अन्तःकरण में स्वरूप आनन्द का भान नहीं होता, इससे चंचलता जीवन्मुक्ति की विरोधी हो सकती है । किन्तु जिस अन्तःकरण में 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उस ज्ञानी के लिए विक्षेप एवं समाधि दोनों समान है । इससे अन्तःकरण की निश्चलता के लिए ज्ञानी को किसी कर्म का आरम्भ नहीं बनता ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः । – गीता १२/१६

फिर भी ज्ञानी की प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रारब्धाधीन है । क्योंकि प्रारब्ध कर्म सभी का विलक्षण है ।

ज्ञानी के अन्तःकरण की चंचलता भी वेदान्त चिन्तन से ही दूर हो जाती है, उसे कर्म, उपासना करने की आवश्यकता नहीं रहती ।

जिसे जीवन्मुक्ति के आनन्द की इच्छा हो वह ब्रह्माकार वृत्ति की आवृत्ति के निमित्त वेदान्त अर्थ का ही चिन्तन करे । बिना वेदान्त चिन्तन के ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न नहीं होती एवं बिना ब्रह्माकार वृत्ति के ब्रह्मानन्द का विशेष रूप से भान नहीं होता । कर्म, उपासना द्वारा केवल अन्तःकरण विक्षेप रहित तो हो जाता है, किन्तु अन्तःकरण की निश्चलता मात्र से ब्रह्मानन्द का विशेष रूप से भान नहीं होता है ।

जिस ज्ञानी का प्रारब्ध भोग का है, उसकी प्रवृत्ति भोग में होगी एवं उसके अनुसार वह साधन भी करेगा एवं निवृत्ति प्रधान ज्ञानी भोगों में ग्लानि करेगा ।

ज्ञान कर्म समुच्चय

संसार में प्राणी मात्र दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्षाभिलाषी हैं । सभी जीवों को सुख-दुःख द्वन्द्व की अनुभुति होती है । अनुकूल विषयों से सुख एवं उसके नष्ट होने या प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःखानुभव होता है । सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, मन के धर्मों को, इन संवेदनों को अज्ञानवशात् जीवात्मा अपने प्रकाशक आत्मा में प्रतीत करा देता है । सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मानापमान, अपना-पराया, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, कर्ता-भोक्ता आदि समस्त द्वन्द्व मन के हैं । मंत्र, औषध, मूर्च्छा, समाधि या सुषुप्ति अवस्था में मन आत्मा में लीन हो जाने से, विषय एवं उनसे मिलनेवाले सुख-दुःख, मान-अपमान, अपने-पराये का अनुभव नहीं करता, क्योंकि सुख-दुःखादि वृत्तियों को उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति और उन्हें मैं रूप से आत्मसात् कर स्वयं को सुखी या दुःखी बनानेवाली अहं वृत्ति उस अवस्था में निष्क्रिय हो जाती है । परन्तु अविद्या वृत्ति से युक्त हुए प्राज्ञ जीव का उस समय भी अभाव नहीं रहता है । अतः सुषुप्ति में भी अहं वृत्ति निरपेक्ष शान्त-वृत्ति रूप आनन्दानुभूति सब को अनुभव सिद्ध ही है ।

आनन्द ही आत्मा का स्वरूप एवं सिद्ध स्वभाव है । समस्त चेष्टाओं की निवृत्ति ही उसके प्रकाशक स्वरूप के प्रकाशित होने का स्थान है । जैसे सिनेमा के पर्दे पर चित्रों का समाप्त हो जाना या फिल्म कट जाना ही प्रकाशक प्रकाश दर्शन का स्थान है । इस आनन्द स्वरूप आत्मा का ही

आभास रूप सुख, अनुकूल संवेदन में प्राप्त होता है । और इसी आनन्द के आभास मात्र सुख को पाने में सभी पुरुषों की प्रवृत्ति दिखायी देती है । आत्मा विषय निरपेक्ष आनन्द स्वरूप है ''रसो वै सः'' आनन्द घन मिश्रीवत् है । मन विषय पाकर मिष्टान्नवत् ''रसमय'' ''आनन्द मय'' होता है । किसी भी सांसारिक वस्तु का संयोग आत्मा के लिये सुखप्रद नहीं हो सकता , क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है जो विषय निरपेक्ष है । ज्ञान स्वरूप, आनन्द स्वरूप, सत स्वरूप इस आत्मा को अनात्म जड़, असत्, दुःख रूप देह संघात् से भिन्न जानना ही ''अध्यात्म ज्ञान'' है ।

आत्म वस्तु अंश-अंशी, कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य, अधिष्ठान-अध्यस्त, ज्ञाता-ज्ञेय, व्यापक-व्याप्य आदि भेद से रहित है । समस्त द्वंद्व आत्मा में कल्पित हैं । असत्, अचिंतित और असुख का बाध (निषेध) करने के लिये ही आत्मा की 'सच्चिदानंद' संज्ञा प्रसिद्ध है । आत्मा में जन्म-मरण, काम-क्रोध, संयोग-वियोग आदि का सर्वथा अभाव है । इस आत्म तत्त्व का जब मुमुक्षु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के द्वारा 'सोऽहमात्मा', 'सोऽहम्' रूप से साक्षात्कार कर लेता है उस सुदृढ ज्ञानी पुरुष को किसी से किसी प्रकार का भय, शोक, क्रोध, काम उत्पन्न नहीं होता और उसकी किसी प्रकार के कार्य में मन उदय होने पर भी क्षति नहीं होती है । जब तक मनुष्य अपने साक्षी स्वरूप से भूला हुआ है, तब तक वह जन्म-मरण रूप संघर्षात्मक संसार में फँसा रहता है ।

जिसको जो वस्तु, विषय, व्यक्ति सर्वाधिक प्रिय होता है, उसके लिए अन्य सभी गौण हो जाते हैं । सभी को छोड़ उस एक मुख्य के लिए शक्ति, समय, धन को लगा प्राप्त करने का साधन करता है । मुमुक्षु परमानन्द को श्रेय जान समस्त प्रेय पदार्थों से मन को उपराम कर सद्गुरु की शरण में पहुँच जाता है । जब तक हमारे समर्पण में कमी है, हम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकेंगे । जो साधक अपना सर्वस्व समर्पण कर देने को प्रस्तुत हो जाता है, वह अति शिघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । प्रायः साधक इसीलिए अपने दुःखों से नहीं छूट पाते हैं क्योंकि वे अपने इष्ट पदार्थ के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने को तैयार नहीं है । इष्ट प्राप्ति में सब कुछ

दाँव पर लगाने का साहस एवं इष्ट प्राप्ति का भरोसा नहीं है । हम कई इष्ट देवताओं को एक साथ मान उनकी उपासना अपने सुख प्राप्ति के लिए करते हैं । यह बहु देवतावाद ही हमारे लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है । बिना एक देवता के जाने परम सुख व संतोष की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है ।

मुमुक्षु की तीव्र जिज्ञासा के लिए ज्ञानयोग ही एकमात्र उपाय है । अज्ञान ही जीव, जगत् एवं बन्धन का जनक है । यह किसी कर्म, उपासना, योगादि साधन से निवृत्त होने वाला नहीं है । एक, अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान, कर्म-उपासना, योगादि से नहीं हो सकता । क्योंकि कर्म, उपासना द्वैत भाव द्वारा सम्पन्न होते हैं कि मैं कर्म का कर्ता हुँ और मुझसे भिन्न कोई ईश्वर मेरे कर्मों का फल देने वाला है । कर्म की अपेक्षा वहीं है, जहाँ विकृति, नूतनता एवं परिवर्तन सम्भव है । अविकारी, निराकार, निर्गुण, असंग, अपरिच्छन्न व्यापक में कर्म की गति नहीं है । अध्यास जगत् अधिष्ठान ब्रह्म में परिवर्तन नहीं लाता । जैसे मन्द अन्धकार में अध्यस्त सर्प अपने अधिष्ठान रस्सी में कोई विकार नहीं लाता, यह सर्वमान्य सिद्धांत है । अतः कर्म, भक्ति से निरपेक्ष (अपेक्षारहित) केवल ज्ञान द्वारा ही सत्य का साक्षातकार है । जहाँ उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार, संस्कार, नाशादि फल की अभिलाषा हो, वही क्रिया मानी जा सकती है ।

ज्ञान ही सीधा अज्ञान का नाशक होने से मोक्ष का एकमात्र साक्षात् कारण है । अन्य साधन तो ज्ञानोत्पत्ति के साधनों को उपलब्ध कराकर कृतार्थ हो जाते हैं अर्थात् निष्प्रयोजनीय, अनुपयोगी हो जाते हैं । रस्सी से सर्प भ्रम की निवृत्ति लोक में जप, ध्यान, पूजा, यज्ञ, देव आराधना, प्राणायाम, समाधि आदि साधनों द्वारा न होकर अधिष्ठान रस्सी के ज्ञान से हो जाती है ।

बन्धन अज्ञान जन्य होगा तभी ज्ञान द्वारा निवृत्त होना संभव होगा । यदि आत्मा में बन्धन अज्ञान जन्य न माना जावेगा, तब तो ब्रह्मादिक देवता भी मोक्ष प्राप्ति नहीं करा सकेंगे । क्योंकि धर्मी का धर्म नित्य स्वभाव है, अग्नि उष्णतावत् । आत्मा मुक्त है यदि अमुक्त है तो उसे कौन मिटा सकेगा ? कोई नहीं ।

अतः ज्ञानमार्ग एकमात्र मोक्षोपाय होने से कठिनता का प्रश्न नहीं उठता । भोजन करना जितना भी कठिन हो भूख निवृत्ति के लिए वह एक मात्र उपाय है । उसे कठिन तो तब कहा जाता जब कोई भूख निवृत्ति का अन्य मार्ग सम्भव होता । अतः भूख निवृत्ति में भोजन करना, जिस प्रकार एक मात्र उपाय होने से उसे कठिन नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार मोक्ष में ज्ञानमार्ग एक मात्र उपयोगी होने से कठिन नहीं है, कठिन और सरल सापेक्षिक है । इसीलिए वेद कहता है –

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' – श्वेताश्वतर उप.६/१५

इस सावधानी के लिए गुरु की अत्यन्त आवश्यकता होती है । गुरु वही हो सकता है जो ब्रह्म साक्षात्कारवान् हो एवं शिक्षा देने में, जिज्ञासु के मन में कांटे की तरह चुभने वाले संशय को निर्मूल करने की शास्त्रीय युक्तियों को जानता हो । निराकरण करने की सामर्थ्य हो । जिस गुरु से अपनी शंका निवृत्त न हो, वह अपना गुरु नहीं हो सकता । दुःखी के दुःख की निवृत्ति करने की इच्छा सामर्थ्य एवं प्रवृत्ति श्रद्धा, प्रेम एवं निष्काम भाव से होनी चाहिए । जिसने स्वयं गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, उसे दूसरे को उपदेश करने का अधिकार भी नहीं है। क्योंकि उसका ज्ञान कभी भी प्रमाणिक नहीं हो सकेगा । परमहंस ही अद्वैत ज्ञान के उपदेष्टा रहे हैं एवं वही आज भी हैं । अन्य शास्त्र पाठी, भेदवादी, कर्मकाण्ड़ी गुरु नहीं हो सकते। स्वंय जो अद्वैत मार्ग में निष्ठा रखता हो, चल चुका हो, लक्ष्य का साक्षात्कार कर सका है वही दूसरों को भी मार्गदर्शन करा सकता है एवं लक्ष्य पर शिष्य पहुँचा या नहीं पहुँचा उसे भी जान सकता है तथा त्रृटि बता निवृत्ति करने का उपाय भी बता सकता है ।

अद्वैत दर्शन में ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु ब्रह्मरूप ही होता है । '**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**' अतः गुरु रूप से साक्षात् परब्रह्म ही जीव की मुक्ति कराता है । ज्ञानमार्ग में ईश्वर एवं गुरु अभिन्न हैं व गुरु की सेवा ही ईश्वर की सेवा है । गुरु की पूजा ही परमात्मा की पूजा है । गुरु में प्रेम ही ईश्वर में प्रेम है । जैसी भगवान् में भक्ति है –'**यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ**'– वैसी सद्गुरु के प्रति होना चाहिए ।

गुरु में श्रद्धा एवं उसकी आज्ञा के बिना किसी विचार के पालन करना ही शिष्य के श्रेय का एकमात्र उपाय है । स्वभावतः जितने गुणों से सम्पन्न शिष्य होगा, उतना ही वह गुरु के उपदेश को जीवन में उतारने में सक्षम होगा । शेरनी का दूध स्वर्ण पात्र में ही धारण किया जाता है, अन्यथा पात्र नष्ट हो दूध भी नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार योग्य चित्त में ही ब्रह्मविद्या धारण की जा सकती है । अन्यथा काम, क्रोधादि विकारों से वह विकृत हो जाता है । उसे अधिकारी बनने हेतु वेद के कर्मकाण्ड का ही सेवन करावें ।

विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि तत्त्वज्ञान को प्राप्त होकर तुम ग्राम शूकर बनने की इच्छा मत करना । नाना विषयों की इच्छा कर तदर्थ नाना साधन, देव पूजा, अर्चना मत करना। प्रतिष्ठा इस मार्ग में शिघ्र ही मिल जाती है, किन्तु तत्त्वज्ञानी उसे शूकरी विष्ठा की तरह अनुपादेय ही जानता है । अपनी पूर्णानन्द अवस्था को जाने बिना सुखार्थ इधर-उधर भटकना ग्राम शूकर तुल्य है । वह कृपण है, जो अपने आत्मा को जाने बिना जीवन यात्रा समाप्त कर यहाँ से अन्य बैकुण्ठ, स्वर्ग, नरकादि लोक में चला जाता है, वह शास्त्र दृष्टि में परमहंसों के लोक में कृपण ही कहलाता है । क्योंकि स्वयं आनन्द स्वरूप आत्मा होकर भी सर्वदा बाहर ही सुख की तलाश में मृग-मरीचिका नीरवत् खोज, निराश हो, दुःखी हो मर रहा है ।

समस्त कर्म फलेच्छा द्वारा होने से वे कर्म के कर्ता को फल भोगने, जन्म-मरण के चक्र में डालते हैं । कर्म मोक्ष का कारण नहीं हो सकता क्योंकि जो-जो उत्पन्न होनेवाला है, वह नाश रूप ही होता है ।

यत् यत् जन्यं, तत् तत् अनित्यम् ।

निष्काम भाव से परमात्मा को अपने से पृथक् मान जो उपासना, कर्म किया जाता है, वह जीव के चित्त शुद्धि का तो साधन बनता है किन्तु मोक्ष का नहीं । चित्त शुद्धि बिना कोई मोक्षाधिकारी भी नहीं होता है । अतः वेदान्त क्रम समुच्चय सिद्धान्त को स्वीकार करता है । ज्ञानोदय से पूर्व ज्ञानाधिकारी बनने की योग्यता के लिए कर्म, उपासना कर्तव्य है । किन्तु मुक्ति हेतु एकमात्र ज्ञान को ही साधन मानता है ।

अभिप्राय यह है कि विवेक-वैराग्य-षट्-सम्पत्ति आदि साधनों से सम्पन्न मुमुक्षु व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्ति में उपाय भूत ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से वेद ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करने को प्रस्तुत होता है ।

नित्य प्राप्त आत्म स्वरूप की अज्ञानता वश जीव खोज करते-करते जब निराश हो जाता है तब वेद उसे आत्म-स्वरूप का ज्ञान कराते हैं, क्योंकि आत्मज्ञान ही मोक्ष का उपाय है ।

तमेव विदित्वाति मुत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

श्वेता. उ. ३/८,६/१५

ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्धक जीव के दुष्कर्मों की निवृत्ति के लिए वेद के कर्मकाण्ड भाग में नित्य कर्मोंको प्रथम बताया गया है । काम्य कर्मों का विधान भी दुष्ट पुरुषों को अपनी और आकर्षित कर उसे उसकी स्वाभाविक कुप्रवृत्ति की ओर से निवृत्त करने के लिए है । पितृलोक आदि की प्राप्ति होना कर्म का मुख्य फल नहीं है । सकाम कर्म करने वाला दुराचार से बच जाता है, किन्तु आवागमन से नहीं छुट पाता है । कर्मानुष्ठान करने वाले अज्ञ व्यक्ति को कर्म के द्वारा शरीरादि प्राप्त होने से जन्म-मरण का दुःख बना ही रहता है । जाति, आयु, भोग- ये कर्म के फल हैं, इनका होना देह सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं है । अतः यह कहना होगा कि कर्म तो देह सम्बन्ध कराने के लिए ही होते हैं । देह सम्बन्ध होने पर प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, मानापमान, आदि संसार का होना स्वाभाविक है ।

प्रत्यागत्म तत्त्व (स्वयं) को न जानने के कारण मन के आधीन रहने वाला व्यक्ति विधि-निषेध कर्मों को करता है, उनसे धर्माऽधर्म की निष्पत्ति होती है, उनसे पुनः शरीर की प्राप्ति होती है । इस प्रकार जन्म-मरण क्रम कुम्भार के चाक पर रखे बर्तन की तरह अनादि काल से जीव निरन्तर चला आ रहा है । अतः कर्मों से जैसे संसार में अनित्य फल मिलता है, यह सभी के अनुभव सिद्ध है । उसी प्रकार पारलौकिक फल सम्पादक यज्ञ, तप, दानादि कर्म होने के नाते उनके फल भी नित्य नहीं हो सकते । इसीलिए स्वर्ग, बैकुण्ठादि लोकों तक कर्मी व उपासक जाकर पुनः नीचे गिरते हैं ।

अर्थात् उनके फल भी अनित्य हैं । कर्म का फल ऐहिक हो या पारलौकिक, अनित्य ही है ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । – गीता ९/२१

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । – गीता, ८/१६

अज्ञानी से कर्म के होते रहने तक जन्म-मृत्यु चक्र की निवृत्ति नहीं हो सकती । अतः संसार की निवृत्ति के लिए अज्ञान का त्याग करना परमावश्यक है ।

अज्ञान ही इस संसार का मूल है, अतः उसके त्याग बिना किसी को शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता । इसीलिए अज्ञान की निवृत्ति हेतु सद्गुरु के पास जा कर ब्रह्मविद्या को श्रद्धा भक्तिभाव से छल कपट रहित हो शम दमादि साधन सम्पन्न हो एकाग्र एवं सावधान मन से प्राप्त करना चाहिए, तभी जिज्ञासु का परम कल्याण होता है ।

कर्म द्वारा संसार बन्धन की निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती । क्योंकि प्रकाश से अप्रकाश (अन्धकार) की निवृत्ति होते देखी गई है । ब्रह्म विद्या प्रकाशात्मक है, अतः वही संसार की मूलभूत अप्रकाश रूप अविद्या, अज्ञान एवं उसके कार्य रूप जगत् की निवृत्ति कर सकती है । क्योंकि सम सत्ता ही परस्पर साधक या बाधक होती है । इस नियमानुसार विद्या और अविद्या, ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी होने से अज्ञान अविद्या के निवर्तक है, कर्म नहीं । अज्ञान जैसे अप्रकाश रूप है, उसी प्रकार कर्म भी अप्रकाश रूप हैं, अतः दोनों (अज्ञान, कर्म) में कोई विरोध नहीं, जो अज्ञान को निवृत्त कर सके बल्कि अज्ञान ही कर्म का जनक है, श्रुति भी कहती है –

''न कर्मणा न प्रजया ।''
''कर्म कि होंहि स्वरूप हि चीन्हें ?''

क्या आत्म स्वरूप को जानने वाला कभी भेद बुद्धि कर किसी देवता की उपासना रूप कर्म, जप, यज्ञ, पूजा आदि कर सकेगा ? अर्थात्

कभी नहीं । क्योंकि जो देवता की भेद उपासना करते हैं उसे वेद पशु कहते हैं ।

अन्योऽसावहमन्योऽस्मीत्युपास्ते योऽन्यदैवतम् ।
न स वेद नरो ब्रह्मन् स देवानां यथा पशुः
अथयोऽन्यां देवतामुपासते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति
न से वेद यथा पशुरेवम् स देवानाम् । –

बृह.उप. १/४/१०

ब्रह्मविद्या का फल अविद्या की निवृत्ति रूप मोक्ष तो निश्चित है । उसे अपने फल की उत्पत्ति में अन्य कर्म–उपासनादि साधनों की अपेक्षा नहीं है, ज्ञान व कर्म की साधना में परस्पर विरोध है । कर्म–उपासना द्वैत भाव पर निर्भर करती है । एवं ज्ञान में अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम् रूप अद्वैत निष्ठा रहती है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, जाति, आश्रम अभिमानी के लिए ही कर्म–उपासना की व्यवस्था है और ब्रह्मविद्या जाति, आश्रम–अभिमान से रहित मुमुक्षु के शुद्ध अन्तःकरण में ही रहती है । अतः विद्या व कर्म में विरोध है । इसलिए एक साधक से एक काल में दो विरोधी साधना (द्वैत एवं अद्वैत) नहीं हो सकती । ज्ञान में प्रवृत्ति अन्तर्मुख रहती है और पूजा, यज्ञादि कर्म में बहिर्मुख प्रवृत्ति रहने से दोनों में विरोध है । ज्ञान वस्तु प्रमाणाधीन है । घड़ा नेत्र प्रमाण द्वारा जाना गया व अन्यथा नहीं जाना जा सकता । किन्तु कर्म में व्यक्ति की स्वतंत्रता है, वह करे, न करे अथवा अन्यथा करे । ज्ञान प्राप्ति में पुरुष परतन्त्र है यथा प्रमाण (इन्द्रिय), यथावस्तु (घड़ा, चप्पल, पेंट) जो जैसा होता है ,उसे स्वीकार करता है । अतः प्रमाण एवं वस्तु के अधिन है ज्ञान वहाँ पुरुष स्वातन्त्र्य नहीं कि हमारी इच्छा होगी तो घड़ा,घड़ी, साइकिल को मानेंगे अन्यथा नहीं । किन्तु शास्त्र विहित यज्ञ, तप, दान तो कर्ता की मर्जी के अधीन हैं, उसके करने, न करने अथवा अन्यथा करने में वह स्वतंत्र है । इस कर्म एवं ज्ञान का परस्पर विरोध होने से ज्ञान–कर्म साथ–साथ नहीं हो सकते । कर्म–ज्ञान समुच्चय वेदान्त सिद्धान्त से मान्य नहीं हैं ।

जैसे सूर्य की तेज धूप के कारण मरुस्थल में या 'डामर रोड़' पर पानी की भ्रान्ति होती है एवं मरुस्थल ज्ञान होने पर वह जल भ्रान्ति छुट जाती है । वैसे ही आत्मा में अविद्या के कारण होनेवाली देह संघात् की भ्रान्ति आत्मविद्या आत्मज्ञान के होने पर निवृत्ति हो जाती है । और मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय हूँ, यह अनात्म बुद्धि नष्ट हो मैं अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी आत्म ब्रह्म हूँ - ऐसा शुद्ध ज्ञान हो जाता है । विद्या अर्थात् साक्षी ज्ञान हो जाने पर कर्म का आश्रय कर्ताभाव न रहने से कर्म निर्बीज हो जाता है, फिर ज्ञानी को कर्म कैसे सहायक हो सकेगा ? अर्थात् ज्ञान-कर्म समुच्चय मानना अज्ञानी का ही मताग्रह है । इस प्रकार कर्म और ज्ञान के परस्पर विरोधी होने के कारण विद्वान् के द्वारा, ज्ञानी पुरुष के द्वारा ज्ञान के साथ भेदमूलक धार्मिक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जा सकता । इसलिए मुमुक्षु को चाहिए की वह कर्म को त्याज्य कर ज्ञान में ही श्रद्धा करे ।

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः

निष्कर्ष यह है कि आत्मज्ञान के द्वारा जब देहाभिमान रूप मूल अविद्या नष्ट हो गई, कर्ता भाव समाप्त हो गया तो कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी ।

प्रमाण रूप वेदान्त ज्ञान, ब्रह्मविद्या द्वारा जब एक बार सद्गुरु के उपदेश द्वारा उत्पन्न ज्ञानाग्नि से अज्ञान, अविद्या का नाश हो जाने पर वह पुनः उत्पन्न ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकेगी । जैसे अग्नि में जलकर मर जाने वाली स्त्री पुनः सन्तान को जन्म नहीं दे सकेगी या युद्ध में मारा गया शत्रु जीवित होकर पुनः विजयी को मारने, हराने, बंदी बनाने के लिए कारण नहीं हो सकेगा ।

ब्रह्म विद्या द्वारा जब भली प्रकार देहाध्यास रूप अविद्या का नाश हो जाता है, तब वह पुनःउत्पन्न नहीं होती है । इस कारण ज्ञानी में कर्तृत्व-भी-कर्तृत्वाभिमान उदय नहीं होते हैं । यदि यह कर्ता-भोक्ताभाव आत्मा का धर्म सत्य होता तो फिर सुषुप्ति, समाधि काल में भी प्रतीत होता । धर्मी आत्मा नित्य होने से उसका स्वभाव भी अग्नि उष्णतावत् नित्य होने से यदि

आत्मा में बन्धन होता तो किसी भी प्रकार उसकी निवृत्ति नहीं हो पाती, तब तो वेद का कथन भी अप्रमाणिक हो जाता कि ''ज्ञान से मुक्ति होती है'', ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' । निष्कर्ष यह है कि ''अहं ब्रह्मास्मि'' यह ज्ञान होने पर कर्म प्रवृत्ति के लिए अवकाश, श्रद्धा, इच्छा, प्रयासादि ही नहीं रहता । अतः कहना होगा कि ज्ञानी के लिए कर्म किंचित् भी आवश्यक नहीं है । कर्म में उसी का अधिकार होता है जो आत्मज्ञान से अभी विमुख देहाभिमानी, फलोन्मुख, देवोन्मुख है । इसलिए ज्ञान मुक्ति का स्वतंत्र साधन है । जैसे घर के अन्धकार हेतु प्रकाश एकमात्र स्वतन्त्र साधन है, अतः मुमुक्षु जनों को कर्म का त्याग ही करना चाहिए । अर्थात् कर्मानुष्ठान में आसक्ति रखकर समय, शक्ति, आयु, जीवन एवं बुद्धि का नाश नहीं करना चाहिए ।

कोई भी कर्म एक कारक के माध्यम से नहीं है । यज्ञादि, पूजा कर्मों की निष्पत्ति अनेक कारकों (साधन, सामग्री) से हो पाती है । अर्थात् उन-उन कर्मों के लिए द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, देवता, सामग्री, फल-फूल पत्र, दिशा देश निश्चित रहते हैं, उनसे उन-उन कर्मोंका सम्पादन किया जाता है । इसलिए कर्म के लिए अनेक सहकारी सहयोगी की अपेक्षा रहती है, किन्तु ब्रह्म विद्या में केवल प्रमाण एवं वस्तु की अपेक्षा रखता है । वह अन्य सहकारी (कारकों) की अपेक्षा नहीं करता है । कृषि, अग्निष्टोम के फलार्थ अनेक कृषक को, यज्ञ कर्ता को अन्यान्य वस्तु की सहायता की आवश्यकता होती है । ज्ञान साधना में उलटा फल भी नहीं होता जैसा कि कर्म कर्ता को अहंकार होता है एवं भूल से विपरीत फल प्राप्त होता है । अस्तु ज्ञान, कर्म, सम समुच्चय नहीं हो सकता । वेदान्त क्रम समुच्चय को स्वीकार करता है ।

मूढ़ता भक्ति नहीं

भला ध्यान करने से किसी को मुक्ति प्राप्त हो सकेगी ? ध्यान करना तो क्रिया है। अभ्यास द्वारा किए जानेवाले ध्यान से मुक्ति नहीं होती। ध्यान क्रिया नहीं है । वास्तविक् ध्यान तो साक्षीभाव है। ध्यान में जीया जाता है, हुआ जाता है। ध्यान किया नहीं जाता। ध्यान तो एक समझ है। ध्यान एक अन्तर अवस्था है, जहाँ केवल तुम हो सकते हो। ध्यान जाग्रतावस्था है। बेभान होना मूर्च्छा अवस्था है, वह जड़ता ध्यान नहीं है । ध्यान का अर्थ होशियार रहना, सजाग रहना, याद रखना है ।

देह में छिपे शाश्वत, नित्य साक्षी आत्मा को पाने या जानने के लिए तो नदि का सागर से मिलने की तरह अपने व्यष्टी अहंकार को परमात्मा के सत्ता के साथ एकत्व करना होगा । यही मोक्ष है । मोक्ष के लिये अपने अहंकार को मिटाना पड़ता है, आत्म समर्पण करना पड़ता है ।

तुम मोक्ष को इतना सस्ता मत समझो कि राम-राम की चादर ओढ़ ली, हाथ में माला पकड़ ली, मुख से राम-राम, श्री राम, श्रीराम तोते की तरह बोल दिया धर्मशाला, मन्दिर, गोशाला खुलवा दी-तो क्या हमारा मोक्ष हो जाएगा ? इन बाह्य कर्मों से मुक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं । इन सब बाह्य कर्मों से तुम धार्मिक जैसे दिखाई पड़ते हो किन्तु तुम्हारा मन संसार में रमण कर रहा है । जैसे कर में माला चल रही हो दुकानदार की ग्राहक से बातचीत भी चल रही है, रुपया भी गिनकर तिजोरी में रख रहा है । मुख में राम-राम जप चल रहा है कुत्ता आया तो उसे भी डण्डा मार भगा रहा है,

बच्चों को भी डांट रहा है एवं नौकर, मजदूर को गाली दे रहा है । यह बाहर की आडम्बरों से मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

तुम प्राणगति अटका कर बैठ गए, डॉक्टरों को भी चकित कर दिखाया, आयु दीर्घ बना बैठे, किन्तु इससे क्या फर्क कि कोई कितने वर्ष जीया । महत्व शरीर को आसन प्राणायाम द्वारा तोड़-मोड़ करने का नहीं, उससे कुछ होना होता तो सर्कस वालों का हो जाता । रस्सी पर चलनेवाले नट का हो जाता, जो ध्यान साध कर चल रहा है । वह थोड़ी भी वृत्ति को इधर-उधर फुरने नहीं देता । देह को उल्टा खड़े करने से, कान फोड़वाने, मौनी बनने, लिंग में कड़ा लटकाने, धूनी रमाने, कन्द-मूल-फल-पत्ते, दूधाहारी, पवनाहारी, जलाहारी बनने से, शरीर को भूखा रखने, कोड़े मारने, आग पर नग्न चलने या शीत, वर्षा, उष्ण ऋतु में नग्न रहने से नाना प्रकार के कष्ट सहने से मुक्ति मिलने वाली नहीं है । तुम परमात्मा को ही दूसरे रूप में सता रहे हो, मार रहे हो क्योंकि वही तुम्हारे भीतर सहन कर रहा है ।

अशास्त्र विहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकार संयुक्ताः काम राग बलान्विताः ।।- १७/५ : गीता

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुर निश्चयान् ।।
- १७/६ : गीता

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। १६/२३ : गीता

तस्मात् छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि । १६/२४ : गीता

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा है - जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित केवल मन कल्पित तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त है, जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण के साक्षी रूप में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, इनको तू असुर स्वभाव वाले जान ।

कई लोग आँख होकर भी गान्धारी बने रहते हैं या फोड़ लेते हैं । कान होकर भी बहरे बन जाते हैं कर्ण छिद्र बन्द कर देते हैं । कोई उर्ध्व शरीर को जमीन में गाड़ पड़ा है । कोई शीर्षासन कर मुक्ति पाना चाहता है । यह सजगता नहीं है, यह असहजावस्था है । जीवन को सर्कस मत बनाओ । यह कोई साधना है ? यह सिर्फ मूढ़ता है । यह नटी विद्या ब्रह्म प्राप्ति का साधन नहीं है ।

विमूढ़ा नानु पश्यन्ति

पहले वे चोर थे, अब साधु बन गए । दिशा वही है, वाहन बदल लिए । किन्तु साक्षी को तो अभी भी नहीं पहचाना । इधर बाजार का, धन का चिन्तन चल रहा था, उधर आश्रम, गुफा, प्रतिष्ठा, शिष्य का संग्रह चिन्तन चल रहा है । किन्तु सभी अवस्थाओं का जो साक्षी बन गया है, मध्य में ठहर गया, न भोग में अटका है, न त्याग में, उसी ने परमात्मा को जाना है । जब साक्षी ही हो गए तो फिर कोई भी अवस्था में आग्रह क्यों हो, कि ऐसा ही हो, ऐसा न हो । साक्षी बस साक्षी है, जो भी हो, जैसा हो, हम जानेंगे । हम बदलेंगे नहीं, करेंगे नहीं, मिटायेंगे नहीं, रोकेंगे नहीं । साक्षी होने के लिए घर छोड़ जंगल जाने की, महल छोड़ झोपड़ी बनाने की, नाम छोड़ अनामी बनने की, कहलाने की जरूरत क्या ? मौन का तात्पर्य साक्षी होना है न कि वाणी से चुप हो बैठ मौनी बाबा के नाम से प्रसिद्धि चाहना है । नामधारी साधु संत, तुम्हें समझा रहे हैं - घर, महल, पत्नी, नौकरी छोड़ो । किन्तु वे झोंपड़े आश्रम बनाकर, शिष्य शिष्या बना रहे हैं । तो क्या महल झूठा और झोंपड़ी सच है ? झूठा है तो समस्त स्वप्न झूठा है, आधा नहीं । दो दफे भोजन करना गलत है, असाधुता है । तब क्या एक समय भोजन करना कोई साधुता का लक्षण है ? अन्य के हाथों से बना हुआ खाना असाधुता है, तो क्या स्वपाकी होना कोई साधुता है ? दूसरे की पत्नी पराई है तो क्या तुमने किसी की लड़की से विवाह कर लिया यह पराई स्त्री नहीं है ? दुसरों का शरीर तो पर है ही, किन्तु जिस शरीर को 'स्व' कहते हो वह भी 'पर' है । वह क्या तुम्हारा है ? वह तो माता-पिता के द्वारा रज-वीर्य धातु से निर्मित हुआ है या पंचभूतों के द्वारा रचा गया है । साक्षी होना

है तो कहीं भी किसी भी अवस्था वृत्ति के हो सकते हो । उसके लिए देश-काल, वस्तु, अवस्था, वृत्ति को बदलने की जरूरत नहीं । जंगल की तलाश न करो, साक्षी की तलाश करो । वह साक्षी परमात्मा तुम्हारे भीतर है और तुम बाहर गुफा में, हिमालय में, तीर्थ में जा खोज रहे हो । ध्यान साधकर दर्शन करना चाह रहे हो, यह सब मन की विवेक शून्यावस्था का परिणाम है । जागे मन का लक्षण नहीं है ।

दीपक दिखाने, हुलहुली कर चिल्लाने, मंत्रोच्चार करने, श्लोक, दोहा, साखी बोलने, नेवैद्य चढाने से, नारियल फोड़ने से, धूप, अगरबती जलाने से, जोर से ढोल-घंटा पीटने, शंख बजाने, तीर्थ जाने से, तपोवन जाने से, भिक्षा वृत्ति कर जीवन निर्वाह करने, गंगा में त्रिकाल स्नान करने से कहीं मोक्ष लाभ हो सकेगा ? अज्ञानता द्वारा किए किसी भी प्रकार के साधन से बन्धन ही प्राप्त होगा । कर्म से कर्ता भाव को मिटाओ, साक्षी भाव को जगाओ । यदि मुक्ति के लिए प्राण व्याकुल हैं तो । कर्ता भाव ही बन्धन है, साक्षी भाव ही मुक्ति है ।

जिनके पास खाने को, पहनने को, रहने को नहीं, वे भी मांग कर, जोड़-जोड़ या उधार रुपया लेकर तीर्थ, कुम्भ स्नान के लिए पैदल, बस या ट्रेन में चले जा रहे हैं, लाखों की भीड़ वहाँ स्नान करती, श्लोक बोलती, पूजा, आरती, पुष्प चढाती दिखाई पडती है । गरीब मुसलमान हज को जा रहा है, सभी जाति बन्धुओं से गले मिल रोते हुए, क्योंकि इतना दूर कष्ट कर जा रहे हैं, फिर न जाने आना होगा या नहीं । लोग तीर्थ, गंगा, हज कर लौट आते हैं । क्या हुआ ? कोई इनसे पूछता भी नहीं कि जब तुम तीर्थ, गंगा, हज, कुम्भ नहीं गए थे, गुरु धारण नहीं किया था, तब कैसे थे एवं लौट वहाँ से आने पर क्या हो गये ? जबकि रोगी डॉक्टर के पास जाने के पूर्व की अवस्था एवं अस्पताल से लौट आने की अवस्था का अन्तर भली प्रकार जान लेता है । भूखा भोजन के पूर्व एवं पश्चात् के अन्तर को जान पाता है । परन्तु इन धार्मिक लोगों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, बल्कि अब ये अहंकारी अवश्य हो जावेंगे, क्योंकि चार धाम की यात्रा कर आए हैं । हज कर आए हैं, मार्ग के सुख-दुःख का ज्ञान, भोजन-शयन का स्थान, मार्ग व्यय का

हिसाब लिख रखा है डायरी में । दर्शनीय स्थान की पुस्तक साथ ले आए हैं अब ये गाँव वालों के लिए नक्शों की तरह मार्गदर्शक के काम आने लग जावेंगे । किन्तु इन सब से क्या हुआ ? दूसरों की सेवा में यदि अपने तन, धन, मन को लगाते तो फिर भी कुछ पुण्य प्राप्त कर लेते । वह तो तुमने किया नहीं, अब दूकान पर बैठ तिलक, माला पहन ज्यादा मिलावट, झूठ, बेईमानी करोगे । क्योंकि धर्म की चादर ओढली है, तिलक माला धारण कर रखी है । लोगों को पूरा विश्वास है यह झूठ नहीं कहेगा, क्योंकि तीर्थ कर आया है । हज कर आए हैं । किन्तु पुण्य नहीं करेंगे । पाप तो करेंगे, हाजी जी, पंडित जी, पिताजी ।

खोजी होय तुरत मिल जाऊँ पल भर की तलाश में

खोजी वही हो सकता है जो उसे जानकर खोज रहा है । बिना समझे मनमाना परमात्मा के नाम पर कुछ करने से वह परमात्मा को जन्म-जन्म भी नहीं खोज सकेगा । जरा भीतर देखो जिसे तुम जन्मों से बाहर खोज रहे हो वह तुम्हारे साथ तभी से भीतर हृदय मन्दिर में द्वार खोल तुम्हारी प्रतिक्षा में दृष्टि लगाए बैठा है । बल्कि इधर से उधर प्रकाश कर रहा है । और हम प्रकाशक की ओर न दौड़ प्रकाश्य जगत् की ओर ही तेजी से दौड़ रहे हैं ।

जगत् आत्म प्राण पति रामा । तासु विमुख किमि लहि विश्रामा ।

परमात्मा की बाहर खोज सहज योग नहीं, भीतर खोज ही सहज योग है । लोग नाहक दौड़ धाम कर रहे हैं, कोई चला काशी, कोई चला काबा, कोई चला मक्का कोई चला मदीना कोई चला गंगा । नाहक दौड़ रहें हैं ।

तुम्हारे पण्डित-पुरोहित भी तुम्हें समझा रहे हैं कि जन्मों-जन्मों के कर्म बन्धन को काटना सहज बात नहीं है, अनन्त जन्म लगेंगे । जल्दी होनेवाला नहीं है । लेकिन सद्गुरु कहते हैं । बस !

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा

एक क्षण में हो जावेगा । कर्ण को कुन्ती पुत्र बनने में, राजा को मनुष्य बनने में, अलंकार को स्वर्ण बनने में क्या देरी लग सकेगी ? नहीं, वह

तो पूर्व से ही है, इसी प्रकार जीव ब्रह्म तो है ही, करना कुछ नहीं । जैसे प्रकाश होने पर अन्धकार को मिटने में वर्षों, घण्टों या मिनिट नहीं लगते, एक क्षण में घटना घट जाती है । ऐसे ही अज्ञान को एक क्षण में ज्ञानोदय तिरोहित कर देता है ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः तत्कवयो वदन्ति ॥

– कठ. उप., १.३.१४

हे मनुष्यों । तुम जन्म–जन्मान्तर से अज्ञान निद्रा में सो रहे हो । अब तुम्हें परमात्मा की दया से यह देव–दुर्लभ मानव शरीर मिला है । इसे पाकर अब एक क्षण भी प्रमाद में मत खोओ । शिघ्र सावधान हो जाओ । श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उनके उपदेशामृत द्वारा अपने कल्याण का मार्ग ओर परमात्मा का रहस्य समझ लो । परमात्मा की तत्त्व बड़ा गहन है । उसके स्वरूप का ज्ञान उसकी प्राप्ति का मार्ग महापुरुषों की सहायता और परमात्मा की कृपा के बीना वैसा ही दुस्तर है, जिस प्रकार छुरे की तेज धार पर चलना । ऐसे दुस्तर से सुगमता पूर्वक पार होने का सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं ।

जैसे आप स्वप्न में भोक्ता, स्वप्न में कर्ता, स्वप्न में आप के शरीर का जन्म–मृत्यु होती प्रतीति होती है । किन्तु जब स्वप्न से किसी सद्गुरु की कृपा से जाग्रत हो जाओगे, तब पाओगे कि न मैं चोर, न हत्यारा, न राजा, न साधु, ना ब्रह्मचारी, न संन्यासी हूँ । परदे के बाहर ही राम, रावण, सीता का भेद है । परदे के पीछे सब एक अभिन्न है, एक गाँव के हैं, एक पिता के भी तीन भाई हो सकते हैं । किन्तु बाहर बड़ी ही होशियारी से राम–रावण युद्ध, लंका पर चढ़ाई एवं सीता को प्राप्त करने की लीला चल रही है । यह आपकी जीवन लीला मात्र है, यहाँ न पति को पत्नी से, न पत्नी को पति से प्यार है । अन्दर से सब बिखरे, टूटे हुए नारंगी की तरह हैं किन्तु बाहर से एकरस बने दिखाई देते हैं, नारंगी के छिलके की तरह । बड़े अभ्यास से आप स्वप्न में तपस्या करके संन्यासी साधु बने या रात्रि को स्वप्न में चोरी के अपराध में सजा भोगे, किन्तु जाग्रत में आपको हंसी आवेगी । तब आप न अपने को

चोर पाते हैं, न साधु संन्यासी, बल्कि दोनों अवस्थाओं का साक्षी द्रष्टा ही पाते हैं । तुम न चोर हो सकते हो, न साधु हुए थे । तुम्हारे सम्मुख समस्त कर्म हुए, वे सब नाटक हैं, भ्रान्ति हैं, वह सब तुम नहीं, तुम्हारे भी नहीं है । तुम केवल समस्त क्रियाओं के साक्षी मात्र हो ।

यह मन ही तुम्हें बन्धन में डाल रहा है । झंझटों में फंसा रहा है । इस मन के विलिन होते ही समस्त बन्धन टूट जाते हैं । यह मन ही तुम्हारी फांसी है, यह मन तुम्हारा नरक-स्वर्ग है । मन ही कैद है, दीवार है । मन के हटते ही बृहद् आकाश में तुम अपने को पाओगे, मन के हटते ही सब एक हैं, फिर न कोई ब्राह्मण है न शूद्र । सब विचारों का ही भेद है । तुम्हें जन्म से विचार दे दिए गए कि तुम ब्राह्मण, हिन्दु, जैन, मुसलमान हो, तुम वही मान जी रहे हो, तुम्हें कोई शूद्र बता दे , तो तुम सारे जीवन कर्णवत् शूद्र पुत्र ही मानते चले जाते हो ।

यहाँ जिन्दा व्यक्ति को जलाया जा रहा है, शूद्रता के नाम पर एवं पत्थर मिट्टी के मकानों, मूर्तियों को बचाया एवं बनाया जा रहा है । मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, मूर्ति, ग्रन्थ, जो मानव की रक्षा के साधन हेतु निर्मित किए गए थे, वे आज मानव के उपयोग में न आकर मानवों को उनकी रक्षा में होम दिया जा रहा है । मार, काट, जला दिया जा रहा है । मानव के रक्त से उन जड पाषाण मन्दिर, मस्जिदों की इमारतों की जुड़ाई एवं रक्षा हो रही है । कैसी यह धर्मान्धता है ? क्या यह अमानवीय कर्मों से मानव सब योनियों में श्रेष्ठ पुकारा जाता है ? श्रेष्ठ मानव कहलाने वाले, धर्म के मर्म को जाननेवाले, परमात्मा को एक अखण्ड माननेवाले भक्त, शूद्र आदमी को अपने कुँए से पीने-जीने के लिए पानी नहीं लेने दे रहे हैं । क्योंकि कुँआ व जल ब्राह्मण के हैं । यदि ट्रेन में आप भोजन कर रहे हैं, शूद्र पास में बैठा हो, आपको मन में कोई विकार नहीं उठेगा । यदि भोजन करते करते बात-बात में यह ज्ञात हो जावे कि यह चमार है, तो फिर आपका मन घृणा से भर जावेगा, अपने में ग्लानि हो जावेगी, भोजन का रस चला जावेगा । यदि कोई तिलक, माला, राम-राम की चादर ओढे शूद्र भी दीख जावे तो शिघ्र पैर छू आशीर्वाद ग्रहण कर लेंगे ।

तुम्हें ब्राह्मण, शूद्र, साधु, चोर से कुछ परेशानी नहीं । परेशानी तो शब्द से है । सुना कि यह शूद्र या ब्राह्मण हैं वहीं घृणा या प्यार उदय हो जाता है । आदमियों पर जाति का लेबिल मत लगाओ दुकानदारों की तरह । वह कोई बाजार में बिकने वाली वस्तु नहीं कि यह चीनी, यह नमक, यह चूना, यह तेल, यह घी का डब्बा की तरह ।

जो थोडा सा जागा हुआ पुरुष है वह तो कहेगा कि न में हिन्दु हूँ, न मैं मुसलमान हूँ, न मैं ब्राह्मण हूँ, न मैं शुद्र हूँ । मैं केवल इन्सान हूँ । इतना ही काफी है कि मैं आकाश के नीचे पृथ्वी पर रहने वाला मानव हूँ । जो मनुष्यता को स्वीकार नहीं करता वह परमात्मा की तरफ कैसे दृष्टि उठा सकेगा ? लोगों को डब्बे में भरे सामान की तरह गुड़, तेल, नमक, मिर्च की तरह लेबिल मत लगाओ । दुकानवाले को तो सामान बिक्री करने के लिए लेबिल लगाना ही पड़ेगा ।

तुम्हारे हिन्दु, मुसलमान, जैन, बौद्ध के भेद मनुष्य बनने नहीं दे रहे हैं । मानवता के अहंकार को छोड़ यदि कोई हिन्दु, मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, उड़िया, पंजाबी, मारवाड़ी, पने का अहंकार किया तो सब मिट्टी में मिल जावेंगे ।

यह जमीन सब प्राणी की है । यहाँ का चांद, सूरज, पवन, पानी सबका एक है । यहाँ आकाश, प्रकाश, पवन, प्रकृति में सीमाएँ तुम कागज नक्शे की तरह नहीं खींच सकोगे । आकाश, सूर्य, चंद्र, पवन, का जाति, प्रांत, देश से विभाजन नहीं हो सकता । यहाँ सम्प्रदाय, मजहब व धर्म के ठेकेदारों के झगड़ों की भी जरूरत नहीं । इनके हटते ही अखण्ड विश्व शान्ति का जन्म तत्काल हो सकता है । पृथ्वी पर से गरीबी, भय, दुःख, अशांति, हत्या, चोरी का समूल उन्मूलन हो जावेगा ।

आश्चर्य है सम्पूर्ण देश की आय में से ७० प्रतिशत धन बल युद्ध की तैयारी, देश रक्षा सेना युद्ध शस्त्र, सामग्री में खर्च होता है । एवं ३०% जीवन रक्षा हेतु । उल्टा हो गया । होना था ७० प्रतिशत खर्च जीवन हेतु एवं ३० प्रतिशत मृत्यु हेतु, अन्य को मारने हेतु । इस राजनीति को पागल न कहोगे तो और क्या कहोगे ? १०० प्रतिशत जीवन की सेवा में लगे तो आज समग्र

पृथ्वी स्वर्ग हो जावे । लेकिन यह नर्क बन गया है । जमीन पर स्वर्ग सुख छोटा हो गया है । दुःख, अशान्ति, भय, हत्या, चोरी, व्यभिचारी, जमाखोरी, झूठ, बेइमानी, मिलावट, ठगी बढ़ती जा रही है ।

वर्तमान में दूरी समाप्त हो गई है । पृथ्वी बहुत छोटी हो गई है, तेज वाहनों की अपेक्षा से । न्यूयार्क में नाश्ता करो, लंदन में भोजन एवं भारत में आकर मल त्याग करो । एक अणु बम एटमबम, हाइड्रोजन बम, पूरी दुनियाँ को जलाने में समर्थ होकर बैठे हैं, प्रतिक्षा में हैं कि कब अपने सहित जगत् को भस्मीभूत कर दें । मगर आदमी की मूढ़ता उसे जाति, मजहब से मुक्त होने नहीं देती वे बजाय स्वर्ग के नरक बनाने में ज्यादा रस लेते हैं । प्रेम, एकता, समता में श्रद्धा नहीं है । वैर, हिंसा, घृणा, अपना-पराया भेद में राजनेता मजहबी धर्मान्ध ठेकेदार ज्यादा रस लेते हैं । इससे इन लोगों का धंदा चलता रहता है । लोगों के शोषण में ही इनके पदों की, धर्म ठेकेदारों की जीविका रोटी चल रही है । यदि इस पृथ्वी से हिंसा विदा हो जावे, राष्ट्र सब मिट जावे, मजहब सब टूट जावे, और युद्ध समाप्त हो जावे तो यह पृथ्वी स्वर्ग से भी अलौकिक हो जावे क्योंकि स्वर्ग में भी शैतान है, युद्ध है राजनीति है, झूठ, बेइमानी, व्यभिचार उच-नीच है । मगर यहाँ के पंडित, राजनेता, धर्मगुरु, एवं मूढ समाज भेद को बनाये रखना चाहते हैं । वे नहीं चाहते हैं कि विश्व शान्ति हो जावे । यदि मानव मन में शान्ति हो जावे तो फिर वकील, पोलिस, सरकार, चुनाव, मंत्रीमंडल, विधान सभा की क्या जरूरत रहेगी । लेकिन इनकी जरूरत बेइमानी से बनाये रखना पड़ता है ।

मोक्षार्थ कर्म उपासना अकर्तव्य

जिसे ज्ञान में अदृढता है, ऐसे अदृढ ज्ञानी को मनन, निदिध्यासन ही करना चाहिए, कर्म एवं उपासना नहीं ।

मुमुक्षु के लिए कर्म–उपासना का त्याग एवं वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन ही वेद कर्तव्य बतलाता है कर्म–उपासना नहीं ।

दृढ ज्ञानी को कर्म–उपासना तो कर्तव्य है ही नहीं, बल्कि श्रवण, मनन भी कर्तव्य रूप नहीं है । जो ज्ञानी मनन–निदिध्यासन में प्रवृत्त होता है वह स्वेच्छा से भले हो, किन्तु उसके लिए वेदाज्ञा नहीं है ।

मैं वेदाज्ञा का पालन नहीं करूँगा तो मुझे जन्म–मरण रूप संसार प्राप्त होगा, इस बुद्धि से की जानेवाली क्रिया कर्तव्य मानी जाती है, किन्तु जन्म–मरण रूप संसार की बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती, इसलिए अपनी इच्छा से मनन–निदिध्यासन करना भी ज्ञानी के लिए बन्धन रूप नहीं है ।

जिस साधक को प्रमाण रूप वेद शास्त्र प्रतिपादित विषय वस्तु के प्रति संशय है ऐसा साधक श्रवण कर्तव्य समझ कर करे ।

जिस साधक को वेद शास्त्र प्रमाणित ''तत्त्वमसि'' उपदेश में अर्थात् जीव ब्रह्म एकत्व रूप प्रमेय में संशय हो वह मनन कर्तव्य समझकर करे । जिसे देह में मैं बुद्धि एवं ब्रह्म के प्रति अन्य रूप विपर्यय बुद्धि हो तो ऐसा साधक निदिध्यासन कर्तव्य समझ कर करे । किन्तु जिस ज्ञानी को तीनों संशय सद्गुरु के उपदेश से निवृत्त हो चुके हैं, उस दृढ ज्ञानीके लिए वेदान्त तत्त्व का श्रवण–मनन एवं निदिध्यासन भी कर्तव्य रूप नहीं है ।

इस प्रकार मंद बोधवान् अथवा दृढबोधवान् के लिए कर्म-उपासना करने की किंचित् भी कर्तव्यता नहीं है । हाँ ! भेद बुद्धि वाले को तो वेदान्त श्रवण-मनन अवश्य कर्तव्य रूप है । दृढबोधवान् को तो श्रवणादि भी कर्तव्य रूप नहीं है ।

जिसे आत्म ज्ञान की तीव्र इच्छा है, भोगों की इच्छा नहीं है, उसका अन्तःकरण शुद्ध है । इसलिए वह उत्तम जिज्ञासु ही है । उसे भी बोध के लिए श्रवण, मननादि साधन ही करना चाहिए, कर्म उपासना नहीं । क्योंकि कर्म-उपासना का फल आत्म जिज्ञासा तो उसे पहले से ही सिद्ध है ।

मंद जिज्ञासु वह है जो भोगों में आसक्त होता हुआ भी ज्ञान की सामान्य इच्छा से वेदान्त श्रवण में प्रवृत्त हो चुका है । उसे अपने भोगासक्ति को निवृत्त करने हेतु वेदान्त श्रवण को छोड़ कर्म-उपासना का साधन नहीं अपनाना चाहिए । क्योंकि कर्म-उपासना का फल अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता की प्राप्ति तो उसे श्रवण से ही प्राप्त हो जाने वाली है । बारम्बार वेदान्त श्रवण से उसके अन्तःकरण के दोष नष्ट हो कर इस जन्म या पर जन्म में दृढ ज्ञान द्वारा मोक्ष हो जावेगा ।

इस प्रकार उत्तम जिज्ञासु वैराग्यवान् एवं मंद जिज्ञासु भोगासक्त को वेदान्त श्रवण, मनन दृढ बोध हेतु कर्तव्य है, कर्म-उपासना नहीं । श्रवण, मनन को छोड़ कर्म, उपासना में प्रवृत्त होने वाला साधक आरुढ पतित है ।

जो भोगासक्त वेदान्त श्रवण में प्रवृत्त नहीं हुआ किन्तु ज्ञानाभिलाषी है, उस मंद जिज्ञासु को निष्काम कर्म एवं उपासना ही कर्तव्य रूप साधन है ।

जो ज्ञान की इच्छा नहीं करता केवल भोगासक्त है, ऐसे बहिर्मुख व्यक्ति को सकाम कर्म में ही अधिकार है, उपासना में नहीं । जो सकाम कर्म भी न करना चाहे वह बारम्बार जन्मता एवं मरता ही रहेगा ।

कर्म, उपासना का मंदबोध से विरोध

कर्म, उपासना भी अन्तःकरण की शुद्धि और निश्चलता द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु ज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर कर्म, उपासना

करते रहने से उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है । इसलिए कर्म-उपासना ज्ञान के प्रथम रक्षक एवं ज्ञान के बाद विरोधी ही सिद्ध होते हैं ।

कर्म का हेतु

"मैं कर्ता हूँ" यज्ञादि मेरे लिए कर्तव्य है और उन यज्ञादि कर्म का फल स्वर्गादि लोक विशेष है, ऐसी भेद बुद्धि वाले से ही कर्म सम्पादित हो सकते हैं । अथवा "मैं उपासक हूँ" और देवता उपास्य है, इस भेद बुद्धि से ही उपासना होती है । इस प्रकार की दोनों भेद बुद्धि "सर्व ब्रह्म है" इस बुद्धि को दूर करके ब्रह्म को एकदेशीय परिच्छिन्न मानकर ही होती है । इसलिए कर्म-उपासना ज्ञान के विरोधी कहे गये हैं ।

शरीर से भिन्न आत्मा का कर्ता रूप से ज्ञान कर्म का हेतु है । अथवा शरीर में अपरोक्ष आत्म बुद्धि से शरीर के धर्म, जाति, आश्रम अवस्था प्रतीत होते हैं । ऐसे देहाभिमानी के लिए कर्म में कर्तव्य बुद्धि होती है । किन्तु जिस ज्ञानी को शरीर में आत्म बुद्धि नहीं है, बल्कि शरीर से भिन्न ब्रह्मरूप से आत्मा का बोध है, इस प्रकार के ज्ञानी को अपने प्रति जाति, आश्रम एवं अवस्था की भ्रान्ति नहीं होने से भी उसे कर्म का अधिकार नहीं ।

ब्रह्म विद्या अपने फल की उत्पत्ति में किसी कर्म, उपासना आदि की अपेक्षा नहीं करती । क्योंकि ब्रह्म विद्या का फल मोक्ष भी स्वर्ग के समान ही लोकविशेष रूप अदृष्ट होता है । यदि ऐसा माना जाता एवं वह भी कर्म-उपासना से प्राप्त होता है, तब तो मोक्ष में कर्म-उपासना की आवश्यकता होती । किन्तु वेद में तो ब्रह्म विद्या का फल मोक्ष स्वर्ग की तरह लोक विशेष नहीं है । वरन् मोक्ष तो नित्य प्राप्त है, किन्तु भ्रान्ति के कारण बन्ध की प्रतीति होती है । उस भ्रान्ति की निवृत्ति ब्रह्म विद्या से हमारे लिए उसी प्रकार प्रत्यक्ष है जैसे अधिष्ठान रस्सी ज्ञान से सर्प भ्रम की निवृत्ति प्रत्यक्ष है । जैसे रस्सी का ज्ञान सर्प भ्रान्ति के निवारण में अन्य की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही बन्ध की भ्रान्ति के अधिष्ठान नित्य मुक्त आत्मा का ज्ञान ही बन्ध भ्रान्ति के निवारण में समर्थ है, कर्म और उपासना की अपेक्षा नहीं करता है ।

यद्यपि ज्ञानी पुरुष आत्मा को संग रहित निष्क्रिय जानता है, फिर भी ज्ञानी शरीर के भोजनादि क्रिया या राज्य पालन आदि अधिक क्रिया होने पर भी उसका ज्ञान से विरोध नहीं है । न ज्ञान ही उनका विरोधी है । ज्ञान का विरोधी व्यवहार या व्यवहार का विरोधी ज्ञान प्रतीत नहीं होता । आत्मा से व्यवहार का सम्बन्ध नहीं है, आत्मा असंग है । समस्त क्रिया देह संघात् द्वारा होती है, इस बुद्धि से ही वह कर्म को देखता है । इसलिए ज्ञानी की प्रवृत्ति भी निवृत्ति ही मानी गई है ।

जैसे राज्य पालन, युद्ध, विवाह, संतान, विद्या, कृषि, व्यापार ज्ञान के विरोधी नहीं है, इसी प्रकार अन्य बहिर्मुख लोगों को ज्ञानाधिकारी बनाने हेतु वे दृढज्ञानी महात्मा कर्म, उपासना करें, मन्दिर मूर्ति निर्माण करें, योग, यज्ञ, पूजा, पाठादि कार्य करे तो वह दृढ ज्ञान के विरोधी नहीं होंगे । असंगात्मा को कर्ता मान जो कर्म करे कि मैं कर्म का कर्ता एवं ईश्वर मेरे कर्म का फल प्रदाता है, इस भाव से जो कर्म-उपासना करे, वह ज्ञान के विरोधी हो सकेंगे । किन्तु आत्मा को असंग रूप निश्चय से जाननेवाला कर्म, उपासना से उसका ज्ञान दूर नहीं होता । इसलिए आभास रूप कर्म, उपासना दृढ ज्ञान के विरोधी नहीं होते । आत्मा को अंसग एवं समस्त व्यवहार को चिदाभास के धर्म जानकर जो विद्वान् शुभ कर्म करता है, उसका ज्ञान से विरोध नहीं ।

संशय युक्त ज्ञान को मंद बोध कहा जाता है । ऐसे मंद बोधवान् के लिए आभास रूप कर्म और आभास रूप उपासना दोनों ही विरोधी हैं । यदि ऐसा संशय हो कि आत्मा असंग है अथवा संग तो ऐसे मंद बोधवान् को कर्म-उपासना नहीं करना चाहिए ।

मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, मैं केवल द्रष्टा, साक्षी, अकर्ता, आत्मा हूँ यह चिंतन की बारम्बार कर्तव्यता है । यदि संशय निवृत्त न हुआ एवं कर्म-उपासना करता रहे तो ''मैं कर्ता हूँ'' ऐसा विपरीत भेद बुद्धि उत्पन्न हो जायेगी । इसलिए मंद बोध होने से पूर्व ही कर्म-उपासना करनी चाहिए, उसके अनन्तर नहीं करें ।

मंदबोध वाला कर्म-उपासना में श्रद्धा करता रहेगा तो उत्पन्न अदृढ़ ज्ञान भी नष्ट हो जायेगा ।

जैसे पक्षी उत्पन्न अंडे को पंख निकलने से पूर्व सेवन करता है, पंख निकलने के बाद नहीं । यदि पंख उत्पन्न के बाद भी अंडे को सेवन करता रहे तो बाल पक्षी के उस अंडे के जल, से पंख गल जाते हैं । वैसे ही ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व कर्म, उपासना का सेवन करना चाहिए, ज्ञान उत्पन्न होने पर नहीं । यदि ज्ञान उत्पन्न होने पर भी मुमुक्षु कर्म, उपासना का सेवन करता रहेगा पक्षी के पंख नष्ट होने के समान जिज्ञासु का मंद बोध भी नष्ट जो जायेगा । जैसे वृद्ध पक्षी को अंडे के तरल पदार्थ के सम्बन्ध से कुछ हानि नहीं होती, वैसे ही दृढ बोधवान् पुरुष को कर्म-उपासना के करने से कोई लाभ अथवा हानि नहीं ।

इस प्रकार दृढ़ ज्ञानी को मोक्ष हेतु वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधन करना भी कर्तव्य नहीं है ।

अतः अदृढ ज्ञानी एवं मुमुक्षु दीनता को छोड़कर अपने यथार्थ स्वरूप में अहं बुद्धि, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि बुद्धि करना चाहिए ।

हे आत्मन् ! तू तो शुद्ध, ब्रह्म अजन्मा, अमृत, असंग, अखण्ड, सर्व प्रकाशक, द्रष्टा, साक्षी आत्मा है । अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान से एवं देह संघात् को मैं मानने से तूने इस मिथ्या संसार की रचना की है । तू ही सबका अधिष्ठान, प्रकाशक, स्वयं प्रकाश अविनाशी आत्मा है । तू समस्त देवों का देव, महादेव है । तू सुखों का सागर है । इस मिथ्या स्वप्न संसार को देख दुःखी मत हो । जैसे मन्द अन्धकार में रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, वैसे ही तुझ आत्मा अधिष्ठान के अज्ञान से जीव, जगत् तथा ईश्वर की प्रतीति होती है । जैसे प्रकाश द्वारा रस्सी ज्ञान से सर्प भ्रम दूर हो रस्सी का दर्शन हो जाता है, वैसे ही आत्मा के ज्ञान से जीव, जगत् तथा ईश्वर भ्रान्ति दूर हो ''अहं ब्रह्मास्मि'' बोध हो जाता है ।

अविचारा कृतोबन्धो विचारान्मोक्ष भवति ।
तस्मात् सदा विचारयेत । २, पैङ्गल उप.

अविचार जन्य जो बन्ध है, वह विचार से निवृत्त होता है, इसलिए जीव और परमात्मा के विषय में सदैव विचार करना चाहिए । अज्ञान कृत बन्ध की निवृत्ति विचार से आत्म ज्ञान द्वारा ही हो सकती है, अन्य साधन से नहीं । कर्म–उपासना से चित्त शुद्धि होती है मोक्ष नहीं होता ।

वेदान्त वाक्य ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप अन्तःकरण की वृत्ति से प्रपंच सहित अज्ञान की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है ।

हे आत्मन् ! स्वरूप अज्ञान से ही परमानन्द की प्राप्ति एवं दुःख निवृत्ति की इच्छा उत्पन्न होती है । तू स्वयं परमानन्द स्वरूप है, इससे उसको प्राप्त करने की इच्छा भ्रान्ति से है । जो वस्तु अप्राप्त हो उसकी ही प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ, साधन किया जाता है । किन्तु अपना स्वरूप तो सदा प्राप्त है, उसकी प्राप्ति की इच्छा भ्रान्ति बिना हो ही नहीं सकती ।

जन्म–मरणादि रूप संसार आत्मा में कभी हुआ नहीं । अत : उससे छूटने की इच्छा भ्रान्ति मात्र ही है । हे प्रियात्मन् ! तू जन्म–मरण से रहित चेतन ब्रह्म ही है, इसलिए अपने स्वरूप में जन्म–मरण, बन्ध–मोक्ष सुख–दुःख की भ्रान्ति मत मान ।

ज्ञानी– अज्ञानी दोनों का ही स्वरूप आनन्द एवं मुक्त है, किन्तु अज्ञानी को विषय प्राप्ति से आनन्द प्राप्त होता हुआ– सा भान होता है जबकि ज्ञानी विषय संयोग से आने वाले सुख को यह समझता है कि यह आनन्द मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं बल्कि अन्तर्मुख वृत्ति में आभास पड़ रहा है । इस प्रकार ज्ञानी की विषय भोग में भी, आत्मानन्द का निश्चय होने से समाधि की स्थिति बनी रहती है ।

यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधया

अज्ञानी इस गूढ़ रहस्य को नहीं जानता है कि विषयों के संयोग से प्राप्त हुआ सा आनन्द वस्तु का नहीं, बल्कि मेरे स्वरूप आनन्द का ही स्थिर वृत्ति पर आभास पड़ रहा है । इसलिए अज्ञानी विषय संयोग से सुखी एवं वियोग में दुःखी मानता है ।

अज्ञानी तो सदा आत्म विमुख ही रहता है किन्तु प्रारब्धानुसार भोजनादि व्यवहार काल में ज्ञानी भी आत्म विमुख हो जाता है । ज्ञानी बुद्धि को सदा आत्माकार ही बनाये रखे तब भोजन, शयन, गमन, पठन-पाठन, स्नानादि क्रिया को भी नहीं कर सकेगा । इससे यह स्वीकार करना पड़ता है कि आत्म विमुखता ज्ञानी अज्ञानी दोनों को ही होती रहती है । ज्ञानी भी जब व्यवहार में आता है, उपदेश करता है, शिष्यों के कल्याणार्थ क्रोध करता अथवा दण्ड देता है, तब वह तत्त्व को भूल आत्म विमुख देखने मात्र से हो जाता है । किन्तु अन्दर से उसकी स्तुति, ध्यान, स्मरण उसी तरह बना रहता है, जैसे अज्ञानी को समस्त व्यावहारिक कार्य करते हुए भी अपने नाम, जाति का स्मरण नित्य बना रहता है ।

चैतन्यात्मा तो अज्ञान रहित सबका समान है । ज्ञानी-अज्ञानी यह उपाधि अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति की है । क्योंकि अज्ञान का प्रकाशक आत्मा अज्ञान से रहित है । अज्ञान का साक्षी आत्मा अज्ञान रूप नहीं हो सकता । जब यह कहा जाता है कि मैं अज्ञानी हूँ, तब मैं अज्ञानी होता नहीं । यदि मैं अज्ञानी ही होता तो, मैं अज्ञान को जानता हूँ, ऐसा बिना ज्ञान के निश्चय नहीं किया जा पाता । मुझे अज्ञान का ज्ञान है तभी तो सद्गुरु सत्संग में मन को लाकर बैठाया एवं श्रवण, मनन द्वारा उसका अज्ञानी पना दूर होकर अब देहाभिमान के स्थान पर आत्म ध्यान चलने लगा और मैं वह सत्ता हूँ, जो इस मन के अज्ञान एवं ज्ञानावस्था को भली प्रकार जानता रहता है । इस तरह यह निश्चय हुआ कि मेरा दृश्य मन-बुद्धि ही अज्ञानी एवं ज्ञानी होता है । मैं उनको जानने वाला साक्षी आत्मा भिन्न हूँ । सूक्ष्म दर्शी ज्ञानी बन्धन भ्रान्ति से सदा मुक्त है क्योंकि मन को ही बन्धन भ्रम रहता था उसे ही गुरु ज्ञान द्वारा दूर होता हुआ मेरे द्वारा देखा जाता है । मैं न बन्धन धर्मी हूँ, न मुक्ति की अपेक्षा वाला हूँ । बन्ध मोक्ष अज्ञानी मन की ही कल्पना है । मैं नित्य मुक्त, नित्यानन्द स्वरूप हूँ । बन्ध रूपी काल्पनिक भ्रम रोग दूर करने के लिए मुक्ति ही महाभ्रम रूपी औषध है । मृत्यु भ्रम रोग दूर करने हेतु तू अमर आत्मा है इस महाभ्रम को खड़ा किया जाता है । यह साधन साध्य वस्तु नहीं है ।

“सदा मे समत्वं न मुक्ति न बन्धः,
चिदानंद रूपः शिवोऽहं, शिवोऽहम् ।”

जो कुछ, कर्म, तप, उपवास, साधन द्वारा प्राप्त होता है, वह सदा अनित्य पदार्थ, लोक, पद ही होगा । जो आज नहीं तो कल साधन कृपा अथवा प्रतिक्षा के बाद फलित होगा, प्राप्त होगा वह नित्य, अविनाशी, परमानन्द स्वरूप नहीं हो सकेगा ।

“यत् यत् साध्यम् तत् तत् अनित्यम्”

जो अपना स्वरूप आत्मा नित्य प्राप्त ही है, उसकी अज्ञानता के कारण अप्राप्ति प्रतित हो रही है ।

मैं शरीर हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ । शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि की क्रिया एवं स्थिति मेरी है, यह अहंकार का जब सद्गुरु के उपदेश द्वारा नाश होता है कि मैं शरीर नहीं बल्कि अशरीरी, निराकार, निरवयव, निरामय, निर्गुण आत्मा हूँ । मैं कर्ता–भोक्ता अन्तःकरण नहीं बल्कि अकर्ता–अभोक्ता, असंग, साक्षी द्रष्टा आत्मा हूँ । मेरे स्वरूप में बन्ध नहीं, इसलिए मुझे मुक्ति हेतु किसी साधन की अपेक्षा नहीं । मैं नित्य मुक्त हूँ, मुझे दुःख नहीं इसलिए मैं नित्यानन्द स्वभावी हूँ । इस प्रकार के शुद्ध निश्चय को ही वेदान्त में आत्म साक्षात्कार, आत्मनुभूति अथवा प्राप्तस्य प्राप्ति कही जाती है ।

आत्मा तीनों कालों मे विद्यमान है, वह साधन साध्य वस्तु नहीं । किन्तु अज्ञान के कारण स्व स्वरूप आत्मा कि विस्मृति हो रही है । किन्तु अज्ञान दूर होते ही देहाभिमान नष्ट हो जाता है एवं स्व स्वरूप आत्मा “अहं ब्रह्मास्मि” “मैं ब्रह्म ही हूँ” यह बुद्धि में स्पष्ट भासित होने लग जाता है । इसका यह मतलब नहीं कि अज्ञान काल में मैं, आत्मा, मुक्त, आनन्द, सत रूप नहीं था, अब गुरु ज्ञान द्वारा हुआ है । आत्मा अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति होने की तरह अप्राप्तस्य प्राप्ति नहीं है, बल्कि प्राप्तस्य प्राप्ति कहलाती है ।

ज्ञान रूपी तप द्वारा ही आत्म तत्व की प्राप्ति कही जाती है । जप, तप, पूजा, उपवास, प्राणायाम, मौन, ध्यानादि कष्ट साध्य क्रिया तप नहीं । ज्ञान रूपी तप द्वारा ही आत्म स्मृति रूप प्राप्ति होती है ।

कुरुते गंगा सागर गमनं
व्रत परि पालनमथवा दानम् ।
ज्ञान विहीनः सर्वंतेन
मुक्तिम् न भवति जन्म शतेन ।।

– १७ अपरोक्षानुभूति

हे आत्मन् ! समस्त दुःखों से छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति हेतु चाहे अडसठ तीर्थ, सप्त पुरी, चार धाम, समस्त ज्योतिर्लिंग दर्शन, गंगा सागर यात्रा एवं स्नान करें, चाहे नाना प्रकार के यम, नियम, व्रत, उपवास करें अथवा दान, ध्यान, पूजा-पाठ, मंत्र- माला करें परन्तु ''वह परमात्मा मैं हूँ'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' यह ज्ञान हुए बिना सौ जन्मों में भी जीव को मुक्ति की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकेगी ।

आनन्द रहस्य

संसार के प्रत्येक प्राणी की भाषा, भोजन, जाति, क्रिया, धर्म का प्रत्यक्ष भेद होने पर भी चाह का विषय तो एक ही है । तात्पर्य यह है कि समस्त विभिन्नताओं के बीच मानव अखण्ड शान्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है । लेकिन हमारी अनादि काल से आन्तरिक मांग जिस अखण्डानन्द की है, उसे पाने का सरल सीधा मार्ग अपने को पहचानना है । वह हम छोड़ केवल पदार्थ को पाने, सम्पत्ति बढ़ाने, सम्बन्धों को बढ़ाने में सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देते हैं । इसीलिए जीवन में दुःख फलित हो रहा है । श्रम तो बहुत करते हैं किन्तु मिलता कुछ नहीं, दौड़ते बहुत हैं, लेकिन पहुँचते कहीं नहीं । सोचते बहुत कुछ हैं, लेकिन होता कुछ नहीं । सारे जीवन ऐसा निष्फल श्रम चलता रहता है ।

आप सोचते हैं कि हम सभी सुख चाहते हैं, किन्तु सुख की खोज, पद, प्रतिष्ठा, धन, पुत्र के रूप में हो अथवा स्वर्ग बैकुण्ठ के रूप में । क्या कभी विचार किया कि पृथ्वी पर अरबों-अरबों लोग सुख की यात्रा पर निकलते हैं और वे मन कल्पित सुख का सपना सजा भी लेते हैं, पर क्या सुख को किसी ने पाया है ? सुख पा लेते हैं, तो भी वह सुख पाने के बाद ही व्यर्थ हो जाता है । उसका कारण यह है कि सुख का स्वभाव ही है कि वह मिलने के साथ ही व्यर्थ हो जाता है । वास्तविक बात यह है कि हम सुख की खोज में दुःख की ओर से मन को हटाये रहते हैं । पर जैसे ही हमें सुख मिला, वहाँ से मन मुक्त हुआ एवं फिर दुःख उभर आता है, दुःख दिखाई पडने लगता है । फिर हम उस मूल दुःख को भुलाने हेतु किसी नये सुख की

खोज में निकल पड़ते हैं । **यही तो कारण है कि व्यक्ति अपने दुःख को भुलाने हेतु क्लब, मन्दिर, मस्जिद, सिनेमा, उपन्यास, ताश, शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन करता रहता है । किन्तु दुःख भुलाने से दुःख मिटता नहीं है । दुःख वही है । जैसे क्लोरोफार्म रोगी को सुंघा देने से दर्द का पता नहीं चलता है । सुख पाने की जब तक दौड़ चलती है, तब तक मन दुःख को भूला रहता है एवं जैसे मन को सुख मिला तो फिर छुपा दुःख दिखाई पड़ जाता है ।**

क्या हम घर की छत पर ऊँट तो नहीं खोज रहे हैं ? जैसे घर की छत पर ऊँट नहीं मिल सकता । उसी प्रकार संसारी वैभव, राज्य, सम्पदा, धन, पुत्र द्वारा भी परमानन्द कभी नहीं मिल सकेगा ।

स्वास्थ्य खोजा नहीं जा सकता । रोग मिटाया जा सकता है । स्वास्थ्य तो स्वतः प्रकट हो जाता है । मिट्टी हटायी जाती है, पानी स्वतः प्रकट हो जाता है । **दुःख मिटाया जाता है सुख नहीं पाया जा सकता । सुख तो स्वतः परिणाम है दुःख मिटने का । तृप्ति स्वतः परिणाम है भूख मिटने का ।** भूख मिटाई जा सकती है, तृप्ति पाई नहीं जाती । इसी प्रकार दुःख के कारण को खोज कर मिटाना होगा । सुख स्वतः उसका परिणाम प्रकट हो जावेगा । सुख को सीधे पाने का प्रयास व्यर्थ होगा । अन्धकार को सीधा भगाने को प्रयास व्यर्थ होगा । प्रकाश को प्रकट करते ही अन्धकार का अभाव स्वतः हो जावेगा ।

व्यक्ति दुःख को मिटाने का उपचार न कर दुःख को भुलाने का ही विचार करता रहता है । इससे भीतर का दुःख घना होता चला जाता है । अतः हमें दुःख के कारण को भीतर ही खोज उसे जड़ से काटना होगा । उसके बिना बाहरी सुख के आवरणों से हम कितना ही अपने दुःख को भुलाने की कोशिश करें, दुःख फैलता ही जावेगा कैन्सर रोग की तरह । यह वैसे ही है जैसे किसी वृक्ष को नष्ट करने के लिए हम पत्तों और डालों को काटते रहे तो वृक्ष और घना होता ही जाता है, उसे तो जड़ से नष्ट करना होगा । **सुख की खोज में व्यक्ति ध्यान, मंत्र, माला, पूजा, पाठ, मन्दिर, तीर्थ चला जाता है, वह धार्मिक नहीं है । धार्मिक तो**

वह है जो दुःख के कारण की खोज पर निकलता है, अन्तर्यात्रा पर निकलता है । जो देह से पृथक् अपने आत्म स्वरूप को जान लेता है ।

कोई संसारी सुखी होने के लिए नाना धन का संग्रह करता है एवं जब सभी धन, पद, वस्तु प्राप्त होने पर भी सुख नहीं मिलता है तब वह इन सबको त्यागने का मार्ग अपना लेता है । किन्तु गृहस्थी एवं त्यागी संन्यासी दोनों एक ही संसार की यात्रा में दौड़ रहे हैं । दौड़ दोनों की चल रही है । दोनों अति पर पहुँच रहे हैं, घड़ी के पैण्डुलम की तरह एक पाने की ओर तो एक छोड़ने की ओर । एक जीवन को सुखी करने हेतु तो एक जीवन को कष्ट देने हेतु । देखा नहीं ! साधु कैसे-कैसे अपने ही शरीर को यातना देने में लगे हैं । कुंभ मेले के समय रास्ते में पड़े हठयोगी कोई कांटे पर पड़ा है, कोई आग पर चलता है, कोई कोड़े मारता है, कोई खड़े रहने का संकल्प किए है, कोई एक हाथ ऊपर उठाये ही सदा चल रहा है । कोई लिंग में रस्सी बांध ट्रक खींच दिखा रहा है । कोई मूत्र इन्द्रिय चमडें में कड़ा लटकाए घुम रहा है । कोई पत्ते, पवन, जल खाकर जीवन समाप्त कर रहा है, मध्य में कोई विरला ही रुकता है । साक्षी बनकर कोई गुरुकृपा पात्र मुमुक्षु ही रहना जानता है ।

जो लोग यहाँ त्यागने की बात करते हैं, प्रथम उनके लिए वह सब कुछ अनेक गुन ज्यादा स्वर्ग में मिल जाने की बात भी बतला दी जाती है । यह त्याग में भी एक बड़ा लोभ छिपा है । यह भी एक बड़ा व्यापार है ।

याद रखो ! तुम्हारा स्वर्ग वही होगा, जो वस्तु, अवस्था यहाँ पर अभाव रूप है । जैसे हिमालय में रहनेवालों के लिए राजस्थान स्वर्ग होगा, जहाँ ठंडक है न पानी है । लेकिन रेगिस्थान राजस्थान के लागों के लिए हिमालय एक स्वर्ग है । जहाँ गरम हवा नहीं चलती, बालू के पहाड़ नहीं उड़ते, चलते, जहाँ पानी की प्यास भी नहीं लगती । हमारी धारणानुसार ही स्वर्ग एवं नरक हम लोग स्वतः तैयार कर लेते हैं । जिन-जिन कामनाओं का यहाँ निषेध किया है वही सब स्वर्ग में प्रचुर मात्रा से मिलने की मानसिक व्यवस्था बना रखी है इन पंडित, पुरोहित, पंडाओं के द्वारा । यहाँ स्वर्ण मत छुओ, वहाँ स्वर्ण के महल होगे । यहाँ स्त्री स्पर्श न करो, वहाँ अप्सराएँ नग्न नृत्य करती आपका स्वागत करेंगी । यहाँ इच्छा कामना ना करो, वहाँ

कल्पवृक्ष के नीचे बैठ सभी उन कामनाओं की पूर्ति कर सकोगे । जो यहाँ मृत्युलोक में पूर्ण करना असम्भव था । यहाँ शराब मत पीओ, वहाँ आपको स्वर्ग में शराब के बहुत झरने मिलेंगे । इन सब महान प्रलोभनों के पीछे व्यक्ति तपश्चर्या त्याग का मार्ग अपनाता है । किन्तु तपश्चर्या तभी वास्तविक होती है, जब वह सुख के लिए नहीं बल्कि दुःख के कारण को मिटाने के लिए होती है । देह को सताने, नष्ट करने से दुःख नहीं मिटते ।

कर्मकाण्डी एक राजा ययाति हुआ उनके जीवन में यही दुःख की कहानी स्पष्ट दिखाई पड़ती है । मृत्यु आती है, ययाति समय की मांग करता है । मृत्यु बदले में उसके पुत्र की मांग कर लेती है कि किसी को लेकर ही जाऊँगा । ययाति के १०० पुत्रों में से छोटे बेटे ने स्वीकार कर लिया किन्तु पिता का प्रस्ताव सभी बड़े लड़कों ने अस्वीकार कर दिया । तब मृत्यु ने उस छोटे बेटे से पूछा की तुम्हारे बड़े भाईयों ने इन्कार कर दिया कि जब हमारे पिता बूढ़े होकर भी जीवन का मजा और लेना चाहते हैं, वे मरने को तैयार नहीं तब हम क्यों मरें ? अपने जीवन का उपयोग किये बिना और तुम शिघ्र क्यों तैयार हो गये ? उस छोटे बालक ने कहा मैंने जीवन का राज स्पष्ट जान लिया कि व्यक्ति इतना चलता है किन्तु अन्त तक पहुँचता कहीं नहीं । तब फिर मैं आज ही क्यों न यात्रा समाप्त कर दूँ ? जब १०० वर्ष में पिता को सुख नहीं मिला तब मुझे कैसे मिलेगा ? मैं प्रयोग करके जहाँ पहुँचता एवं जो स्थिति पर पहुँचता उसे मैंने आज ही पिता में देख लिया है कि यही घटना मेरे साथ भी घटेगी । इस प्रकार ययाति के पुत्र से मांगा हुआ समय भी बीत गया । फिर मौत आ गई फिर ययाति ने कहा अभी तो मैंने कुछ किया भी नहीं, करने का सोचना भी पूरा नहीं हुआ और तुम आ गये ? थोड़ा मुझे और समय सोचने एवं करने के लिए चाहिए । मौत ने फिर वही सवाल किया कि बदले में मुझे फिर किसी पुत्र को दो, तभी मैं जाऊँगा । कहते हैं इस प्रकार ययाति ने हर १०० वर्ष कि मृत्यु आने पर अपने दस पुत्रों को बारि-बारि से राजी करता रहा और वह ११०० वर्ष जीवित रहा, किन्तु जब मौत आई तो मामला वहीं था जो पहले दिन था । जन्म से अतृप्त पैदा होकर जीवन लीला समाप्त होने तक अतृप्त ही बने रहते हैं । जो पाना था, वह जन्म के दिन जितना दूर था, मृत्यु के दिन तक भी उतना ही दूर रहता है । यह फासला सूर्य

की तरफ पीठकर अपनी छाया को दौड़कर पकड़ने जैसे व्यर्थ प्रयत्न है । अतः अब आप बाहर सुख को न खोज अपने भीतर खोजें कि दुःख कहाँ है ?

भीतर देखेंगे तो दुःख को हम सरलता से पहचान लेते हैं । सर, पेट, कमर, घुटने में दर्द है, यह दुःख नहीं है, यह तो पीड़ा है, यह तो कष्ट है, यह तो औषध द्वारा दूर प्रायः हो जाता है । लेकिन बिना दर्द के भी लोग दुःखी ही बने रहते हैं । घर में सब सुविद्या है, धन, पद, पुत्र, एवं शरीर में भी कोई तकलीफ नहीं तो क्या आप समझते हैं व्यक्ति का दुःख नष्ट हो गया ? यदि यह सत्य होता तो मीरा, महावीर, बुद्धादि घर राज्य, छोड क्यों जाते ? कैान– सी कमी थी ? सब था, लेकिन भीतर दुःख था । कष्ट नहीं था, कोई लेकिन दुःख था । दुःख क्या है ? आत्म अज्ञान । जब तक आत्म बोध जाग्रत नहीं होता तब तक जीव का दुःख किसी लौकिक या पारलौकिक पदार्थ, पद पाने से नहीं मिटता । क्योंकि आत्मा ही अखण्ड शान्ति स्वरूप है । जगत के पदार्थ विनाशी होने से सब दुःख रूप ही है ।

स्वयं को न जानना ही सबसे बडा दुःख है एवं स्वयं को जानना ही पृथ्वी पर सबसे बडा सुख है । मैं कौन हूँ, इस खुद के स्वरूप के प्रति अनजान बने रहना ही दुःख है । दुःख है तो बस एक यही कि मैं अपने आपको नहीं जानता और जब तक मैं अपने आपको न जान लूँ, तब तक दुःख से मुक्त, दुःख के सागर से पार नहीं हो सकता । और जिस क्षण मैं स्वयं को जान लूँ, उसी क्षण अखण्ड आनन्द के द्वार खुल जायेंगे ।

स्वयं को जान लेना ही धार्मिकता है । स्नान कर तिलक लगा लेना, थोड़ा जप कर लेना, ग्रंथ की चार पंक्तियाँ पढ़ लेना, मूर्त्ति के आगे सर टिका लेना, हाथ जोड़ लेना, चोटी रख, जनेउ पहन लेना कोई धर्म नहीं । इनका धर्म से कोई सम्बन्ध भी नहीं । यह सब क्रिया कांड धर्म के द्वार पर खड़ा नहीं कर सकते । सब जानलें, पढ़लें, रटलें, इनसे कुछ नहीं होगा, जब तक कि आप स्वयं अपने को न जानें कि मैं इस देह मैं कौन हूँ। उसे जानना ही होगा जो सबके भीतर छुपा बैठा है तभी कल्याण हो सकेगा। कैसे इसे जानेंगे, कैसे इसे पहचानेंगे ? एक छोटा सा काम करके देखें तो जना सकेंगे कि यह दुःख क्या है और मैं क्या हूँ ?

साधारणतः दुःख आता है तो हम जानते हैं एवं सुख आता है तब भी हम जानते हैं । जैसे आकाश में बादल आते हैं, ठहरते हैं तथा चले जाते हैं, हम उसे जानते हैं । लेकिन दुःख आने से हम दुःखी नहीं होते हैं । यदि हम दुःखी हो जाते तो फिर हम सुखी कभी नहीं हो पाते । और यदि सुख मिलने से हम सुखी हो जाते तो फिर दुःखी कभी नहीं हो पाते । किन्तु हम अज्ञानता से मन की किसी अप्रिय घटना के घट जाने से कहते हैं, मैं दुःखी हूँ । किसी अनुकूलता की अवस्था में कहते हैं, मैं सुखी हूँ । जो भी घटना हमारे सहारे मन में घटती है और हम कहने लगते हैं ''मैं यही हूँ'' । बच्चा, किशोर, यूवा, प्रौढ़, बूढ़ा । विचारो ! यदि मैं बच्चा होता तो यूवा कैसे होता, यदि मैं यूवा होता तो वृद्ध कैसे होता ? सूर्य गर्म है तो फिर ठंडा कैसे होता और बर्फ शीतल है तो उष्ण कैसे होता ? चीनी, शक्कर, मिश्री, गुड़ मीठा है तो कड़वा कैसे हो सकेगा ?

अभी हम यहाँ हाल में, घर में, कमरे में, बैठे हुए हैं, आप चाहें तो बाहर जा सकते हैं । जो बाहर सड़क तक बैठे या खड़े हैं, वे भीतर आ सकते हैं । तो फिर जो मकान के भीतर बाहर आ-जा सकता है, कपड़ों को पहने एवं खोल सकता है, क्या इससे यह बात प्रमाणित नहीं होती है कि वह मकान एवं कपड़ों से पृथक् है ? इसी प्रकार आप शरीर में प्रवेश कर शरीर से बाहर भी चले जाते हैं, तो क्या इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती है कि आप देह से पृथक् हैं ? इसी प्रकार आप दुःख को आते एवं जाते, सुख को आते एवं जाते देखते हैं तो इससे यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि आप सुख-दुःख से पृथक् कोई मध्य में तीसरे ही द्वन्द्वातीत साक्षी पुरुष है ? मैं दिन के प्रकाश को देख यह नहीं कहता कि ''मैं सूर्य हूँ'' एवं अन्धकार को देख कभी नहीं कहता हूँ कि ''मैं रात्रि हूँ'' । मैं तो अन्धकार एवं प्रकाश का द्रष्टा हूँ । मैं कहूंगा मैंने देखा दिन हुआ, मैं कहूँगा रात्रि प्रकट हुई ।

जीवन की प्रत्येक घटनाओं, अवस्थाओं, वृत्तियों के साथ अपने को बांध लेने से कि ''मैं यही हूँ'' अज्ञान घना हो जाता है । दुःख विराट् होता चला जाता है । इसी को कृष्ण कहते हैं ''पर धर्म भयावह'' । जो जीवन के प्रत्येक अनुभव से स्वयं को पृथक् कर जानता है, वह द्वन्द्वातीत

पुरुष ही मुक्ति को प्राप्त करता है । मन के धर्म सुख–दुःख से अपने को पृथक् जानने वाला मन का साक्षी ज्ञानी ही परमानन्द का अनुभव करता है । ऐसा जानो कि मैं केवल देखने वाला हूँ कि देह में रोग, भूख, प्यास, दर्द हुआ । मन में सुख–दुःख जागा और मैंने जाना कि यह–यह, यहाँ–यहाँ, इसको–इसको हुआ । मैं केवल देखने वाला हूँ । जवानी आई, बुढ़ापा आया मैं जाग रहा हूँ, जान रहा हूँ कि नींद उतर रही है, सूर्य छिप रहा है, अंधेरा प्रकट हो रहा है । चेतना ढल रही है नींद मूर्च्छा उतर रही है ।

मनुष्य का जितना पुरुषार्थ बाहरी दुनियाँ की खोज में लगा रहा है, सूर्य–चन्द्र, ग्रह पृथ्वी समुद्र की गहराई खोजने में कर रहा है यदि यह उतना ही साहस स्वयं की गहराई को खोजने में करले तो यह अवश्य ही स्वयं को जान सकेगा । स्वयं को जानने का सूत्र है, सभी अनुभवों से सभी अनुभूतियों से अपने को पृथक् कर लेना, भिन्न कर लेना । इसमें कोई आँख बंद कर पद्मासन लगाकर, नाक बंदकर प्राणायाम करने की जरूरत नहीं । न घर छोड़ मंदिर जाने की जरूरत है । मंदिर जायें तो यह विचार रहे कि मैं मंदिर जाने वाला नहीं हूँ, मैं केवल देख रहा हूँ कि यह जीव मंदिर जा रहा है । बाजार आफिस जावें तो भी यही विचारों कि मैं नहीं जा रहा हूँ यह जीव बाजार, आफिस, दुकान जा रहा है । मैं तो केवल जान रहा हूँ । रास्ते पर चलें या भोजन करें तब भी यही विचारें कि मैं चलने वाला, खाने वाला, काम करने वाला नहीं हूँ । मैं केवल देखने वाला हूँ । जैसे शुकदेव द्वारा ज्ञानामृत का पान करने के बाद राजा परिक्षित का देह भाव समाप्त हो गया एवं द्रष्टा भाव जाग्रत हो गया कि मैं नहीं मरूँगा । इस परिक्षित की मृत्यु होगी ऐसा मैं जानूँगा । स्वामी राम भी कहते थे अपने मित्रों से आज राम को बाजार में बहुत गालियाँ पड़ी । मैंने जाना मैं तो और लोगों की तरह जानने वाला था कि राम गड्ढे में गिर गये । मैंने भी देखा, जैसे और आस–पास के खड़े लोग देख रहे थे ।

साधना की उपयोगिता, गुरु की दीक्षा की उपयोगिता, शास्त्र की उपयोगिता इसी बात में है कि वह आपको परिधि से हटा कर केंद्र बिंदु पर खड़ा कर दे । वह तीसरा केंद्र बिंदु है साक्षी भाव । जो द्वन्द्व से आपको

अलग खड़ा कर सके । जो गुरु आपको अपने समस्त जीवन के चलते चक्रों से अलग खड़ा कर दिखावे । जो साधाना, गुरु व शास्त्र आपको देह से भिन्न, क्रियाओं से भिन्न तथा कर्ता–भोक्ता अभिमान से पृथक् न दर्शा सके वह सद्गुरु भी नहीं हो सकता । जो देह संघात् से भिन्न सभी दृश्यों का ''वीटनेस'' हो सके, साक्षी हो सके, एक ईमानदार गवाही हो सके वही आनन्द को उपलब्ध हो जाता है । जितना साक्षी भाव विकसित होता जाता है, उतना ही यह द्वन्द्वातीत होता चला जाता है । फिर आप पायेंगे कि न मैं पीड़ा हूँ, न मैं रोग हूँ । न सुख है, न दुःख है । मैं तो इन सबसे भिन्न हूँ । मैं तो सब अनुभूतियों से पृथक् हूँ । यह जो आप में जागृत होगी साक्षी भाव की, यही एक विलक्षण आनन्द होगा । इस साक्षी भाव को पा लेना ही धर्म को प्राप्त कर लेना है । अपने खुद के स्वरूप को पा लेना, जान लेना ही सच्चा धर्म है, वही कृतार्थ हो जाता है ।

हम उसे कभी नहीं खोज पावेंगे जो न सुख है, न दुःख । अंधेरे में भाग कर प्रकाश को नहीं खोज सकेंगे । जो द्वन्द्व से बाहर है, हम उसे द्वन्द्व में कभी नहीं खोज सकेंगे । जो ग्रहण–त्याग, सुख–दुःख, शुभ–अशुभ, चंचल–शांत, कर्ता–भोक्ता, घृणा–प्रेम से पृथक् है, हम उसे इन समस्त द्वन्द्वों में नहीं पा सकेंगे, बल्कि खोज में जीवन ही नष्ट कर देते हैं । वह जो सबसे पृथक् है और किसी अनुभूति में किसी अनुभव में आविष्ट नहीं लेता जो बाहर रह जाता है, उसे कैसे देख पायेंगे ? हाँ, उसे सरलता से जाना जा सकता है यदि आप अपने माने हुए अहंकारों से, पुर्व की सुनी धारणाओं, गुरुओं से सीखें सांप्रदायिक सिद्धांतों को एक तरफ रख दें तो मेरी बात सीधी एवं अत्यंत सरल हृदयस्पर्शी हो सकती है कि बात बिल्कुल सत्य है, जिसे हम कठिन मान रहे थे । सत्य किसी एक जाति, सम्प्रदाय, उम्र, प्रांत या देश के व्यक्ति से संबंधित नहीं, सत्य पर सबका अपना जन्म सिद्धाधिकार है । केवल सत्य को पाने की जिज्ञासा होनी चाहिए । सत्य से ज्यादा सरल विश्व में कुछ नहीं है ।

खोजी होय तुरत मिल जाऊँ
पल भर की तलाश में

कठिनाई तो मिथ्या को पाने में है, जैसे धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा, सत्य में प्रवेश की युक्ति समझें तो परमात्मा ही मैं है ।

जब जीव सोने जा रहे हो तो आप जानो कि एक व्यक्ति सोने जा रहा है, नींद उसे घेर रही है, आँख भारी एवं बंद होने जा रही है, बारम्बार मुँह से जम्हाई ले रहा है और में उसे भीतर से जान रहा हूँ । बिस्तर लगा दिये हैं और अब वह सो रहा है । जब यह जागेगा तब भी मैं इसे जानूँगा । जब भूख लगे तो भी जानते रहना कि पेट के किसी हिस्से में कुछ कमी सी लग रही है एवं मैं उसे जान रहा हूँ । जितनी यह प्रतीति गहरी होती चली जावेगी, उतनी आपकी सत्य में बुद्धि प्रतिष्ठित होती चली जावेगी । दुःख मिट जावेगा आनन्द स्वतः प्रकट हो जावेगा । आत्म अज्ञान रूप अन्धकार ही हमारे दुःखों का मूल कारण जिसे हटाने के लिए आत्म ज्ञान ही एकमात्र प्रकाश है । यह ज्ञान ही आत्म ध्यान है । अर्थात् प्रत्येक क्रिया में भीतर से सजग रहना जो हमारे भीतर प्रत्येक स्थिति का ज्ञाता, प्रकाशक है, प्रत्येक स्थिति को जानने वाला Knower है, यह जानना ही आत्मा का स्वरूप है, यही तुम हो ।

अभी आप सुन रहे हैं और आपको यह ख्याल है कि स्वामीजी बोल रहे हैं और मैं सुन रहा हूँ । यदि स्वामीजी की तरफ से विचार करें तो यह मालूम होगा कि बोला जा रहा है और यदि आपके पीछे से भी यह विचारेंगे कि इधर से मन द्वारा सुना जा रहा है, उधर से वाणी द्वारा बोला जा रहा है और मैं दोनों के पीछे खड़ा जान रहा हूँ । यदि आप थोड़ी-सी चेष्टा करें तो यह बात सरल हो जावेगी, सरल ही है । कठिन तो ना समझोने मान रखी है । इसीलिए तो कहा **"विमूढ़ा नानु पश्यन्ति, पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः"** बस क्रियाओं के पीछे उनके मालिक इन्द्रियों को ही जवाब दार बनायें एवं स्वयं उनसे पीछे खड़े उनको देखने वाले ही बने रहें यही कर्म में कुशलता है ।

योगः कर्म सु कौशलम् ।

बन्धन का कारण परमात्मा नहीं

जो अकारण है, वह रहेगा, उसे मिटाया नहीं जा सकता । जो सकारण है उसका नाश होगा । शरीर का कारण पिता-माता हैं इसलिए इसका नाश होगा । इसके अतिरिक्त भी शरीर वायु से जीता है । वायु न होगी तो नष्ट हो जावेगा । शरीर तेज से जीवित है । यदि तेज नहीं होगा तो नष्ट हो जावेगा । शरीर जल से है, यदि जल न मिले तो शरीर समाप्त हो जावेगा । शरीर अन्न से पोषित है, अन्न बिना मर जावेगा । अकारण आत्मा अनादि है, इसीलिए वह अनन्त भी है । शरीर सबके सकारण है, इसीलिए वह अन्त स्वभावी भी है । शरीर सबके सकारण है, इसलिए समय पर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु शरीर में छिपी आत्मा अकारण होने से देह के नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता ।

एक बालू का कण उसके अस्तित्व का नाश हम नहीं कर सकते । हम उसे पीस दें, जला कर राख बना दें, किन्तु उसके अस्तित्व का नाश कभी नहीं हो सकता । लहर मिटेगी, किन्तु जल का अस्तित्व बचेगा, जल मिटेगा तो भाप का अस्तित्व रहेगा, भाप मिटेगी तो बादल बन रहेगा एवं बादल मिटेगा तो पुनः जल रूप में अस्तित्व प्रगट हो जावेगा ।

जब एक बालू के कण को अस्तित्वहीन नहीं किया जा सकता है, तब इतने विराट् जगत् को कैसे अस्तित्वहीन किया जा सकेगा ? विज्ञान कहता है शक्ति का नाश नहीं है । यही बात धर्म शास्त्र कहता है, परमात्मा अविनाशी है । वह जो आकार में निराकार छुपा है, उसका नाश नहीं होता है । जो चीज शून्य से, अभाव से, उन अस्तित्व से पैदा होगी वही शून्य में

विलीन हो सकेगाी । जो शून्य से उत्पन्न नहीं हुआ वह शून्य में कदापि नहीं खो सकता । जगत् की उत्पत्ति सत ब्रह्म से हुई है, इसीलिए जगत् का समूल नाश, अभाव कभी नहीं हो सकता ।

भोजन से शरीर निर्मित हुआ है, भोजन से पोषित है एवं भोजन अर्थात् पृथ्वी में पुनःविलीन हो जाता है । इसीलिए अन्नमय कोष यह शरीर कहलाता है । तीन महीने भोजन न मिले तो शरीर सम्पूर्ण नष्ट हो जावेगा । तीन महिने भी इसलिए बचा रहेगा कि जो मांस, रक्त, मज्जा, मेद, चर्बी जमा है, वह देह दीपक को शक्ति, रोशनी देती रहेगी । जिस क्षण संचित शक्ति रूप तेल समाप्त हो जावेगा, देह दीपक बुझ जावेगा । तुम वह चैतन्य, स्वयं प्रकाश, महान ज्योति हो, जो देह दीपक के रहने एवं बुझने को भी प्रकाशित करती रहती है ।

आप जब बीमार पड़ते हो, तब आँख बन्द करके इस बात को देखने की कोशिश करो कि शरीर बीमार पड़ा है । बीमारी को तुमने नियन्त्रण नहीं दिया, वह स्वयं देह की किसी अव्यवस्था से प्रकट हुई है एवं कुछ काल के बाद यह अपने आप आया मेहमान स्वयं ही अपना भोजन, औषध, आराम, सहानुभूति परिवारवालों एवं रिश्तेदारों की लेकर चला जावेगा । बीमारी तुम्हें कहाँ छू पाती है ? तुम तो उसके आने-जाने के दुःख-दर्द, पीड़ा से असंग, साक्षी आत्मा हो । तुम्हारा शरीर बीमार हो या नहीं, दुःख-पीड़ा उसमें हो या नहीं, सुख-आराम हो या नहीं, तुम उससे सदा दूर ही प्रकाशक अनुभोक्ता (अनुभवों का ज्ञाता) बने रहते हो ।

पैर में कांटा चुभा है, पीड़ा हो रही है, तुम उसे देख रहे हो । पेट में पीड़ा हुई, चिल्ला रहे हो, लेकिन तुम उस दर्द एवं चिल्लाहट के अनुभव के भी अनुभोक्ता उससे सदा न्यारे ही रहते हो । तुम सदा उसके जाननेवाले मात्र हो । पैर की हड्डी टूट गई, दर्द हो रहा है, प्लास्टर चढ़ा हुआ है और तुम यह सब घटना के अनुभोक्ता उन अवस्थाओं से दूर ही रहते हो । तुम नहीं टूटे हो, तुम अभी भी अखण्ड हो, पूर्ण हो, मन बन्ध गया है, तुम अभी भी मुक्त हो । तुम अभी भी साबुत हो। विचारो, हड्डी का टूटना तुम्हारा है या तुम उसके अखण्ड ज्ञाता हो ?

जब बीमार पड़ो तो खोजो कि तुम्हारे भीतर कोई है, जो बीमार नहीं पड़ा है, बल्कि बीमार अवस्था का अनुभोक्ता है । वह बता रहा है आज देह स्वस्थ नहीं, आज मन स्वस्थ नहीं । जिस दिन तुम्हें यह होश आ गया, उसी दिन दुःख, भय, अशान्ति, दीनता, मृत्यु आदि द्वन्द्व से मुक्ति मिल जावेगी । परमानन्द का द्वार खुल जावेगा । जब दुःख आवे, अशान्ति चिन्ता हो तो खोजो कि तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा तत्त्व पड़ा है, जो होनेवाली हर घटना से अस्पर्शित रह गया है । जब तुम पर कोई आक्रमण करे, तुम्हें गिरा छाती पर चढ़ बैठे । तब सोचो क्या कोई मुझे किसी उपाय ये स्पर्श कर सकेगा ? कदापि नहीं । क्योंकि मैं अमर, असंग, अखण्ड आत्मा हूँ । विचारें, क्या यह शरीर तुम्हारा है ? क्या यह अंग तुम्हारे हैं ? लेकिन जो दुःखी नहीं हो सकता, उसके प्रति दुःख की भ्रान्ति, जो मर नहीं सकता, उसके प्रति मृत्यु की भ्रान्ति हो रही है । जो सम्राटों का सम्राट है, वह अपने को भिक्षुक जान भीख मांगता द्वार-द्वार भटक रहा है ।

ज्ञानी को कोई बन्धन में डाले, अपमानित करे या सम्मानित करे, वह यह जानता है कि जिसे लोग बाँध रहे हैं, अपमानित कर रहे हैं, मार डाल रहे हैं या सम्मानित कर रहे हैं, वह शरीर मैं नहीं हूँ । मैं जो हूँ, उसे कोई देख ही नहीं सकता, तब स्पर्श करना, अपमान पहुँचाना, सम्मान करना या मार डालना कैसे सम्भव हो सकेगा ? क्योंकि मैं अमृत आत्मा देह से भिन्न हूँ ।

देह भी मरता नहीं है । देह क्या है ? केवल पंच महाभूतों का जोड़ । जिसे मृत्यु की घटना बतलाते हैं, उस अवस्था में न आकाश मरता है, न वायु मरती है, न तेज मरता है, न जल मरता है, न पृथ्वी मरती है, सभी तत्त्व अपने-अपने महाकारण में मिल जाते हैं । उसीमें से निकलकर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं । केवल सम्बन्ध बदलते हैं । इस परिवार से सम्बन्ध टूटा, इस आकृति से सम्बन्ध टूटा, अब नये परिवार एवं आकृति में सम्बन्ध जुड़ जावेगा । केवल पति-पत्नी, पिता-माता, पुत्र-पुत्री के सम्बन्ध विनाशी, मिथ्या हैं, न पंचभूत विनाशी है न आत्मा । जिस दिन तुम अपने शरीर व आत्मा को दूध-पानी की तरह, अन्धकार, प्रकाश की

तरह पृथक् जान लोगे, उसी दिन तुम मुक्त हो जाओगे । देह को मैं मानना ही बन्धन रूप है ।

स्वयं को पहचाने बिना परमात्मा की अखण्डता की पहचान कभी नहीं हो सकती । जिसने स्वयं को जाना, उसी ने परमात्मा को जाना, क्योंकि व्यापक अखण्ड परमात्मा से यह शरीर वासी मैं आत्मा भिन्न नहीं है, ''अयमात्मा ब्रह्म'' ।

पर यह परम अभिव्यक्ति ''अहं ब्रह्मास्मि'' अज्ञानी देहाभिमानी के मन में बैठा दी जावे तो उसे सत्य की किरण का भी पता नहीं चल सकेगा । मुख से दोहराने लगेगा कि मैं निष्क्रिय, असंग, आत्मा हूँ यह खतरा है । वह चलेगा नहीं एवं मंजिल मिली ही नहीं, किन्तु बात वह बिल्कुल सिद्ध की भाषा में बोलने लग जाता है । पहुँचा हुआ बताने लग जाता है । जो पहला कदम ही नहीं चले, जिन्हेंाने अभी क, ख, ग भी परमात्मा का पूरा नहीं जाना है, और वे ब्रह्म की बात करने लग गये ।

आप सुर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी, भूत, भविष्य एवं दूसरों की मन की बात भले जानते हों । आप बड़े विशेषज्ञ हो सकते हैं, लेकिन आप अपने सम्बन्ध में भ्रान्ति में हैं कि मैं अपने बारे में जानता हूँ । स्वयं की तो हमें कोई खबर नहीं, कोई पहचान नहीं । हमारा आत्मज्ञान क्षीण है । ना के बराबर है । हमें यह बात बिल्कुल पता नहीं कि मैं कैान हूँ । लेकिन हम सब सोचते हैं कि हमें पता है कि मैं अपने को जानता हूँ ।

जिज्ञासु एवं सत्य के खोजी में भेद है । जिज्ञासु के प्राण परमात्मा के लिए व्याकुल नहीं हैं । इसलिए वह सम्प्रदाय में बन्ध जाता है । सत्य की खोज में निकला था, किन्तु हाथ में हथकड़ी पड़ गई सम्प्रदाय की । जो सत्य तुम्हें बाँध ले, वह सम्प्रदाय है । सत्य तो मुक्ति दिलाता । यही उसकी परख की कसौटी है । जो मुक्ति न दिला उल्टा हमें शिष्य बनाकर रखे, गुलाम बनाकर रखे, सत्य को जानने में रुकावट डाले, वह सम्प्रदाय की जेल है । उसने अब तुम्हारे मुक्ति की ओर उड़ने के पंख काट दिए । लेकिन जो मोक्ष का अभिलाषी है, सत्य का खोजी है, वह मुमुक्षु सम्प्रदाय में कभी

नहीं रूक सकेगा । क्योंकि मुक्ति की इच्छा उसके प्राणों से उठी है । भूख जब प्राणों से उठती है, तब वह बिना भोजन किये शान्त नहीं रह सकेगा । यदि प्यास सच्ची है तो जितनी देर लगेगी, पानी खोजने में प्यास उत्तरोत्तर बढ़ती जावेगी, शिथिल नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार मुक्ति की भूख सच्ची होती तो सम्प्रदाय में बन्धकर एक जगह नहीं रह पाते । मधुमक्खी शिघ्र आगे-आगे रस की तलाश में पुष्प, पौधे बदलती जाती है । नीरस पुष्प पर सदा नहीं बैठती है, यदि भूख असली है, तो जितने भूखे रहोगे, भूख बढ़ती जावेगी, उतनी गहरी होगी, वह चुप शान्त नहीं रहने देगी ।

सत्य को पाने में समय नहीं लगता, केवल मन की भ्रान्ति, मन की सफाई करने में ही सद्गुरु को श्रम करना होता है । सत्य अभी यहीं और तुम्हीं हो । ऐसा थोड़े ही है कि सत्य कल होगा । सत्य पहले था, आज है, कल भी रहेगा । यह शरीर आज ही है, न पूर्व था, न पश्चात् रहेगा । बस जिस दिन तुम मुक्ति के लिये तैयार हो जाओगे, उसी दिन प्रकट हो जावेगी । तुम्हारी आँख बंद है, इसलिए रास्ता चाहिए । तुम्हारे भीतरी अन्धकार के कारण भटकाव है । कितनी देर तुम लगाओगे तुम्हारे पर निर्भर करता है । सत्य तो शाश्वत है, उसकी तरफ से कोई शर्त नहीं लेकिन तुम उस क्रांति को इतनी जल्दी चाहते भी नहीं । इसलिये देर लग रही है ।

खोजी होय तुरन्त मिल जाऊँ पल भर की तलाश में (कबीर)

तुम जब किसी गुरु के सम्मुख जाते हो, तो उसे हराने के उद्देश्य से जाते हो ताकि तुम्हारा अहंकार सुरक्षित रहे । अहंकार हार स्वीकार नहीं करता है । तुम किसी गुरु को सुनते हो तब उस गुरु को ''यह गुरु नहीं है'' सिद्ध करने की कोशिश में रहते हो । यह बचने का सुगम उपाय है। जैसे ही तुम्हारे अहंकार ने निर्णय दिया कि गुरु, गुरु नहीं है तुम झंझट से साफ बच गये, अब कुछ ग्रहण करने की जरूरत ही नहीं रही । इसलिए जिस गुरु के पास तुम्हारे अहंकार को सुरक्षित करने की, तृप्त करने की व्यवस्था हो, उससे सजाग रहना वह तुम्हें बांधने में इच्छुक है । जहाँ तुम्हारे तर्क से गुरु बाहर मालूम पड़े वहाँ कोई क्रांति की सम्भावना है ।

गुरु के सम्बन्ध में जल्दी निर्णय नहीं लिया जा सकता । यह कोई मटकी खरीदने या स्वर्ण को कसौटी पर चढ़ा बाहर से तत्काल निर्णय लेने की वस्तु नहीं है । और जितना गहरा गुरु होगा उतनी ही कठिनाई उसे परखने में लगेगी ।

जो गुरु तुम्हें धोखा देना चाहेगा उसका व्यवहार तुम प्रथम बहुत भला पाओगे । फिर जैसे-जैसे तुम उसके पास जाओगे, वैसे-वैसे ही उसकी वास्तविकता प्रकट होगी, उतनी ही तुम मुश्किल में पड़ जाओगे । तुम सद्गुरु के जितने निकट आते हो उतना ही तुम्हारा गुरु बड़ा होता जावेगा । गुरु परमात्मा हो जावेगा तो समझना हम ठीक दिशा में आ रहे हैं । सद्गुरु के पास जावोगे तो प्रथम गुरु को समझना, श्रद्धा करना, कठिन लगेगा । तुम उसे पहचान न सकोगे । करीब आने का अवसर मिलेगा तभी तुम्हारे सम्मुख उसकी असली प्रतिमा प्रकट होगी और यह सस्ता सौदा नहीं है । इसीलिए सद्गुरु का मिलना एवं उनमें श्रद्धा, विश्वाँस होना सरल नहीं, कठिन है ।

सद्गुरु आने वाले जिज्ञासु शिष्य के सम्मुख ऐसी अवस्था उपस्थित कर देते हैं, कि वह उनके पास ठहर न सके । कारण जो गुरु के द्वारा शिष्य की परीक्षा लेने हेतु किए व्यवहार को सह न सके, वह श्रद्धालु नहीं, उस अश्रद्धालु को गुरु समीप बैठाकर अपना समय नष्ट करना नहीं चाहता । क्योंकि ऐसा अश्रद्धालु व्यक्ति कभी भी हट जावेगा । जिसका धीरज इतना ही नहीं कि मैं थोड़े समय रुकुँ। वह आज नहीं कल गुरु के व्यवहार में गलती ढूंढ हटेगा ही । तब उसे आज ही क्यों न परख लिया जावे कि यह टिकने वाला है या भागने वाला । राजा जनक ने २१ दिन शुकदेव की परीक्षा के बाद उसे आत्म ज्ञान का अधिकारी जाना । जिस दिन हृदय से सद्गुरु से जुड़ोगे तभी पहचान सकोगे ।

यदि जीव मुक्त होना चाहेगा तो आज अभी यहाँ वह मुक्त हो सकता है । क्योंकि वह पूर्व से ही मुक्त है, केवल अज्ञान से ही अपने को बन्धा मान दुःखी हो रहा है । इस अज्ञान को दूर करने हेतु ही किसी ज्ञानी सद्गुरु की आवश्यकता है । जो इसे यह निश्चय करा सके कि तुम मुक्त ही हो । बन्धन वास्तविक होता तो वह ज्ञान मात्र से कभी दूर नहीं होता ।

तुम्हें कोई न दुःख पहुँचाता है न सुख । जो तुम बीज बोते हो वही फल प्राप्त करते हो । तुम्हारे दुःख-सुख एवं बन्धन का हेतु कोई अन्य ईश्वर जिम्मेदार नहीं । तुम्हारा बन्धन किसी अन्य के कारण है तो फिर तुम्हारी आत्यान्तिक मुक्ति कभी नहीं हो सकेगी । यदि मुक्त हो भी गया तो फिर अन्य स्वेच्छाचारी ईश्वर पुनः उसे बन्धन में डाल देगा । गुलाम बना लेगा ।

ईश्वर को स्वीकार करने वाले अपना कल्याण कभी नहीं कर सकेंगे क्योंकि वे अपने पाप को ईश्वर पर डाल देते हैं कि ''सबहि नचावत राम गोसाई'' ''उसकी मरजी के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकेगा'' । तब वह जीव अपना श्रेयः कभी नहीं कर सकेगा । क्योंकि वह कहेगा मूर्ति का क्या दोष, शिल्पी ने जैसी बनाई, रंग दिया, कपड़े पहनाये, या नग्न प्रकट की उसमें मूर्तिकार ही दोषी है । चित्र के लिए चित्रकार ही दोषी है । घड़ा सुराही के लिए कुम्भार ही उत्तरदायी है, मिट्टी निर्मित घड़ा नहीं । इसी प्रकार ईश्वर को स्वीकार करने वाले घोर पापी होते चले जाते हैं और वे अपने पापों के लिए ईश्वर को जिम्मेदार मानते हैं । यह अपने आप से ही छलना है । यह विचार तो पाप का खुला रास्ता चालाकों ने खोज लिया । हिंदु जाति का पतन इसी सिद्धांत के कारण हो रहा है । वे प्रत्येक कर्म के लिए ईश्वर की मर्जी कहकर अपना पतन करते जा रहे हैं । अपने को जिम्मेदार मानने वाला ही उन्नति कर सकता है । इसीलिए महावीर, बुद्ध ने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया । इसलिए नहीं की वे नास्तिक थे । इसलिए की जीव अपने को अच्छे-बुरे, स्वर्ग-नरक के लिए जिम्मेदार जान अपना उत्थान कर सकें, अपना उद्धार कर सकें ।

वेदान्त कहता है वह परमात्मा तुम हो ''तत्त्वमसि'' तब तुम स्रष्टा हो गये अपने एवं अपने कर्मोंको अब किस पर दोष डाल सकोगे । अब तो आपको ही अपने द्वारा होने वाले कर्मोंको सोच समझकर करना पड़ेगा । क्योंकि तुम्हारे सुख-दुःख के निर्माता तुम हो, अन्य नहीं । यदि परमात्मा, ईश्वर, भाग्य, विधि, किस्मत, तकदीर, देव कृपा को जिम्मेदार बना लोगे तो तुम अपने को निर्दोष मान उसी नरक के गड्ढे में सड़ते दुःख पाते रहोगे । यदि मैं अपने को अपने कर्मोंका स्रष्टा मानूँगा तो अवश्य सोच-सोचकर करने

की चेष्टा करूँगा । क्योंकि मैं जानता रहूँगा कि मेरा बोया हुआ कर्म ही मुझे भोगना पड़ेगा जैसा कि कृषक अपने खेत से उत्पन्न होने वाले फसल के लिए जिम्मेदार रहता है । यदि परमात्मा को तुमने जिम्मेदार बना दिया तो तुम जैसे के तैसे रहोगे । तुम्हारा कल्याण नहीं कर सकोगे । आलसी बन जाओगे ।

महावीर, बुद्ध और अनेक संतों ने अनन्त जीवों को निर्वाण दिलाया है, तो इसी उच्च सिद्धांत के द्वारा कि तुम्हारे अलावा कोई परमात्मा नहीं है, तुम्हारा उद्धार तुम्हें ही करना है । तुम ही वह परमात्मा हो । तुम्हीं अपने मित्र एवं शत्रु हो । कृष्ण, महावीर, बुद्ध एक मत हैं, कर्म सिद्धातं में तीनों ही जीव को उसके उद्धार तथा पतन का कारण मानते हैं ।

अज्ञानी लोगों ने कर्म सिद्धान्त को भाग्य-भगवान् के रूप में गलत ढंग से स्वीकार किया है कि क्या करें, भाग्य में ऐसा लिखा था, कर्म का चक्र है, देव प्रबल है हम क्या करें इत्यादि । यह कथन ऐसा है जैसे कोई कर्म है जो इन्हें चक्कर में फँसा रहा है । पिछले जन्मों का कर्म फल भोग रहे हैं । वे यह नहीं सोचते कि पिछले जन्मों में हम जैसे कर्म करने में स्वतंत्र थे, तो इस जन्म में उसका फल भोग रहे हैं तो इसी तरह अभी भी हम कर्म अच्छे कर के अपना उद्धार करने में स्वतंत्र है ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा ।।

तुम मुक्त तभी हो सकते हो, जब दासता बन्धन तुम्हारे हाथों निर्मित हुआ होगा । किसी अन्य सत्ता ईश्वर ने यदि तुम्हें गुलाम बना बन्धन में डाला है तब तुम कैसे मुक्त हो सकोगे ? परमात्मा को पृथक् मान कर तुम मुक्त नहीं हो सकोगे । परमात्मा की मर्जी से मुक्त हुए हो तो उसकी मर्जी बदल जाने से तुम्हें वह फिर बन्धन में डाल देगा । तब तुम्हारी मुक्ति स्वतः नहीं रहेगी । परमात्मा मुक्ति का नाम है, सत्य का नाम है, आत्मा का नाम है, वह कोई अन्य नहीं वह आज, अभी, यहाँ तुम ही हो । दूसरे पर दोषारोपण करने से तुम्हारा कल्याण कभी नहीं हो सकेगा । नरक में तुम्हें किसी ने भेजा नहीं, तुम स्वयं आये हो, तुम्हें किसी ने निमंत्रण द्वारा बुलाया

नहीं। तुम चाहो तो निकल सकते हो । मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए महापुरुषों को उनके मन से ईश्वर की सत्ता को इन्कार करना पड़ा क्योंकि तुम्हारे जन्म कर्म, भोग के लिए परमात्मा जिम्मेदार हो तो तुम कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकोगे ।

यदि तुम शराब घर में जा रहे हो, वैश्यालय में जा रहे हो, सिनेमा गृह में प्रवेश कर रहे हो अथवा सत्संग में जा रहे हो तो उसके लिए परमात्मा तुम्हें धक्का नहीं दे रहा है । तुम ही अपनी स्वेच्छा से उधर कदम बढ़ा रहे हो भोगने की इच्छा कर रहे हो, उद्धार के लिए कदम बढ़ा रहे हो, उपवास कर रहे हो, त्याग, तपस्या कर रहे हो । परमात्मा तुम्हें धक्का नहीं दे रहा है । तुम्हारा अपना निर्णय तुम्हें शुभ-अशुभ कर्मों में जोड़ सुख-दुःख भोगने को मजबूर करता है । जिसे अज्ञानी भाग्य, भगवान् की मर्जी या तकदीर कहकर भोगता है । लेकिन न तुम्हें परमात्मा दबा रहा है न भाग्य धक्का दे रहा है । तुम परम स्वतंत्र हो, तुम अपनी गति मति इच्छा से चल रहे हो ।

यदि परमात्मा तुम्हारे कर्मों के पीछे जीवन के पिछे जन्म-मृत्यु के पीछे है तो तुम्हारे जीवन का क्या मूल्य ? तुम्हारी स्वतंत्रता कहाँ रही ? फिर तुम अपने को पाप कर्मों से कैसे रोकोगे ? तुम तो अपने सब कर्मों को ईश्वर पर डाल दोगे । फिर जेल भी जाओगे वह भी ईश्वर कृपा, चोरी करो, ईश्वर कृपा, हत्या किसी की करो और मानो ईश्वर कृपा, तुम्हारी टांग टूटे, आँख फूटे, भूखे मरो, चोरी हो, सब ईश्वर कृपा है । तब तुम क्या रह गये ? शून्य, पत्थर, जड़, कठपुतली और वह हो गया सूत्रधार ।

सबहि नचावत राम गोसाई

इसी भ्रान्ति में हिन्दु जाति का पतन हुआ एवं हो रहा है कि ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होता है । इस भ्रान्ति को वेदान्त दूर करने हेतु ''तत्त्वमसि'' कहता है ।

कर्ता न बनो

कोई पूजा कर रहा है, मन्दिर, तीरथ जा रहा है, कीर्तन-भजन में जा रहा है, राम-राम जप रहा है, कोई राम-राम की चादर ओढ़े हुए हैं । कोई अंग-अंग में कृष्ण-कृष्ण नाम, रूप गुदवा रहा है । अगर इनके भीतर कर्ताभाव है तो ये सब चूक गये, भटक गये । अकर्ता-भाव ही परम मोक्ष है, कर्ता भाव ही परम बन्धन है । यह कपड़े रंगना, बाल काटना या बढ़ाना, तिलक, चोटी, जनेऊ रखना आध्यात्मिक खेल है । इसे गंभीरता से अहंकार से मत पकड़ना । पकड़े तो फंसे । चाहे वह संन्यास का अभिनय कर रहे हो या गृहस्थ का, त्यागी का या भोगी का ।

धार्मिक गुरु तो तुम्हें समझाते है कि संसार छोड़ो, धर्म को पकड़ो, संसार से सम्बन्ध तोड़ो, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ो । वे कहते हैं संसार माया है । धर्म, मन्दिर, तीर्थ माया थोड़े ही है ।

बड़े आश्चर्य की बात है उसी पैसे से मकान, उसी पैसे से मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारे, मठ, आश्रम, अन्नक्षेत्र, उसी बाजार में दुकानें धन्दाकारों की, उसी बाजार में मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च भी बना लेते हैं । जैसे फुरसत मिली हाजिरी देकर चले आते हैं । जिन्होंने दुकान चलाई नम्बर दो का धन्धा किया, वे ही मन्दिर बनवाते हैं । जो दुकान चलाते हैं, वही उन धर्म संस्थानों के ट्रस्टी बन जाते हैं । दुकान पर कमाकर मन्दिर खर्च चलाते हैं । मन्दिर खर्च निकालने के लिए मन्दिर के बाहर चारों ओर व्यापारियों के लिए दुकाने बना देते हैं, जिसका किराया मन्दिर पुजारी के

लिए मिल जाता है । सेठ जी दुकान में नौकर रखते हैं, घर काम के लिए नौकर रखते हैं । वे सेठ भगवान् की सेवा के लिए भी नौकर रख देते हैं । भला नौकर पैसे का भक्त है, वह भगवान के प्रति क्यों सेवा भाव रखेगा ? क्या पत्नी से प्रेम करने के लिए भी नौकर से कह सकोगे कि मेरी जगह तू जाकर प्रेम कर आ, मैं कार्य में व्यस्त हूँ । जो सोना –चाँदी बाजार में मूल्यवान् है, वही सोना, चाँदी मन्दिर में मूल्यवान् है । बड़े धनाढ्य लोग उसी मन्दिर में दर्शनार्थ जाते हैं, जहाँ ज्यादा माया है ।

मन्दिर बाजार के बाहर नहीं है। जो सिक्के बाजार में चलते हैं, सामान खरीदने के लिए । बाजार में 'जैसा पैसा, वैसा सामान', वही हिसाब आश्रम, मठ व मन्दिर में भी 'जैसा पैसा वैसा प्रसाद', सम्मान । पैसा नहीं हैं तो दुकानदार उठा भगा देगा । तुम्हारे पास पैसा नहीं, मन्दिर तथा आश्रम का गुरु, पुजारी भी भगा देगा ।

इस जगत् में जो भी किया जाता है, वह चाहे मन्दिर हो या तीर्थ, पूजा हो या यज्ञ, भोग हो या त्याग, सब संसार ही में है, क्योंकि सभी के मन में '' मैं कर्ता हूँ'' का भाव सुदृढ़ता से भरा हुआ है । कर्म के पीछे से कर्ता हट गया तो कर्म ही पूजा, कर्म ही भक्ति, कर्म ही योग हो गया, इसी का नाम है –

योगः कर्म सु कौशलम् ।

कर्ताभाव ही संसार बन्धन है । अकर्ता हो जाना, अभिनेता हो जाना ही मुक्ति है । संसार में जो किया जाता है, किया जा सकता है, चाहे वह बाजार में हो या मन्दिर में, वह धन की दौड़ हो या पुण्य की, जो भी किया जा सकता है, करने की सीमा है, वहाँ तक बन्धन है । उसे अभिनय जान लिया तो कर्ताभाव गिर जावेगा । कर्ताभाव गिरते ही साक्षी भावोदय हो जावेगा । केवल देखनेवाला शेष रह जाता है । करनेवाला खो जाता है । और वही ब्रह्मज्ञान की परकाष्ठा है । यदि तुमने साधना साधी, संन्यास लिया, ब्रह्मचर्य रहे, पुण्य धर्म चाहा तो यह सब मोक्ष नहीं है । जहाँ चाह है, वहाँ अपूर्णता है, वहाँ शान्ति कैसे ? चाह का विषय जो भी बनेगा, वह

संसार ही है । जब तक तुम्हारे मन में कर्ताभाव जीवित है, वहाँ तक सत्य नहीं, परमार्थ नहीं ।

जीव कर्तापन को इतने जोरों से क्यों पकड़े हुए हैं, उसका कारण यही है कि कर्तापन के पीछे तुम्हारा अहंकार पोषण पाता है, अहंकार पनपता है और तुम यह समझते हो कि ''मैं भी कुछ हूँ, मैं किसी से किसी मात्रा में पीछे रहनेवाला नहीं हूँ । मेरे कोई पिछले जन्म के पुण्य थे जो आज इतना मिला है, इतना नाम कमाया है । पुण्य किए हैं, तभी सद्गुरु मिला ।'' यह भी अपने ही कर्तापन की कर्मों की अकड़ है । अहोभाग्य नहीं मानेंगे, गुरु को, धन्यवाद नहीं दे सकेंगे । क्योंकि जो विनम्री होता है, वही दूसरों को धन्यवाद देता है । संसार में तो दूसरों को धन्यवाद भी इसीलिए देते हैं कि लौटकर हमें यही कह दें कि हमने कुछ नहीं किया, सब आपने ही किया है, आपकी ही कृपा से हुआ है ।

जीव यदि परमात्मा के पास भी पहुँच जावेगा तो यही कहेगा – जन्मों –जन्मों के पुण्य कर्मों से तुमको पाया है । वहीं तुम चूक गये । अकड़ तुम्हें तोड़ देगी, ऊपर उठने से रोक देगी ।

जिसने पुण्य किया है, वह तो विनम्र होता है, वह तो कहता है– ''मेरा इसमें क्या ? मैंने तो कुछ भी नहीं किया । और परमात्मा ने इतना दे दिया । मेरी तो इतनी पात्रता नहीं थी, जितना उसने दे दिया । मुझ अपात्र पर इतनी वर्षा, मैं धन्यभागी हूँ । किन्तु जिसका पुण्य नहीं, वह अभिमानी कहेगा, जो हुआ मेरे किए हुआ ।''

पुण्य का मूल पाप

जीव पुण्य करने का अहंकार मन में करता है, लेकिन तुम्हारे किये कर्मों का क्या मूल्य है ? किसी भिखारी को १० पैसे दे दिए होंगे, किसी भूखे को रोटी, किसी को पुराना वस्त्र, जूता-चप्पल । इन्हें दान करने के लिए पहले लोगों का शोषण किया, पाप कमाया, मिलावट की वस्तु दी, नकली वस्तु दी, दाम दुगुना, चार गुना अधिक लिया, लड़के की शादी में लड़कीवालों से मनमाना दहेज दुःखीकर लिया । और पैसे कहाँ से आवेंगे तुम्हारे पास दान करने को ? मन्दिर, आश्रम, धर्मशाला, अस्पताल, स्कूल बनाने को ? पहले शोषण, फिर दान । पहले पाप, फिर पुण्य । पहले कीचड़ लपेटो, फिर धो लेना, जैसा यह दान कर्म है ।

तुम्हारे सभी पुण्य पापों का प्रायश्चित हो सकता है । इसको करके मन में अहोभाव से मत भर जाना कि मैंने अस्पताल, धर्मशाला बना दी । आप जानते नहीं, आपकी इस आकांक्षा को पूरा करने के कारण पहले किसी की टांग, हाथ तोड़ना पड़ा होगा, कितने को बीमार बनाना होगा, तब वे आपके दान की वस्तु के द्वारा लाभान्वित हो सकेंगे एवं आपको दानी कहलाने की हवस को पूरा करने का अवसर प्राप्त होगा ।

तुम्हारी धर्मशाला का उपयोग लेने के लिए पहले कई लोगों को घर से बेघर करना पड़ेगा । तुमने एक छोटा-सा औषधालय खोल दिया, जिसमें चार पैसे की होमियोपैथी की दवा बाँटते रहते हो, इसका हिसाब रखा होगा, किन्तु कितने प्राणों को चोट पहुँचाई है, रोगी बनाया, भिखारी बनाया, बेघर-बार बना डाला, इसका भी कभी हिसाब रखा ?

धार्मिक पुरुष तो कभी भी मन में किसी परोपकारी क्रिया के हो जाने पर अहंकार करता नहीं कि मैंने यह पुण्य किया । बल्कि वह तो यही कहता है परमात्मा को परमात्मा ने उपयोग में लगाया । इसमें मैं क्यों बीच में फसूँ ? पापी व्यक्ति ही ज्यादा पुण्य संग्रह करना चाहता है एवं प्रदर्शन करता है, अपना नाम को विभिन्न स्थानों पर, न्यूजपेपर में, पुस्तकों में अंकित कराकर व छपवाकर ।

जो–जो कर्म सिर्फ अपने ही स्वार्थ के लिए किये जाते हैं वे सभी बन्धन रूप हो जाते हैं । स्वार्थ के लिए, अपने यश के लिए तो सभी लोग सारे जीव कर्म करते हैं, किन्तु अपने कल्याण के लिए निष्काम कर्म भी करना चाहिए ।

जैसे विद्यालय बनवा देने से स्कूल में सभी बच्चे लाभ लेंगे । नेत्र दान से मृतक को तो कोई कष्ट है ही नहीं, किन्तु मृतक के सम्बन्धियों को चाहिए कि वे आँख के डॉक्टर को मृत्यु के ६ घण्टे के भीतर सूचना पहुँचा दें । वे डॉक्टर शिघ्र आँख के देखनेवाले हिस्से को निकालकर ७२ घण्टे में उन आँख को दो अन्धे मनुष्य को लगा जीवन में प्रकाश पहुँचा सकेंगे । जिनके लिए यह पृथ्वी स्वर्ग रूप सिद्ध होगी । क्योंकि वे बेचारे उनके जीवन में पहली बार आपकी आँख से इस जगत् ब्रह्म के दर्शन कर पाएँगे । जिनकी आँख पर चस्मा चढ़ गया है, मोंतियाबिन्द का आप्रेशन भी हो चुका है, तो भी वे नेत्र दान कर परोपकार कर सकते हैं ।

इस संसार में आप जो दूसरों को देते हैं, वही आपको अधिक होकर मिलता है । दूसरे को दुःख देंगे, दुःख लौटेगा । दूसरे को सताओगे, सताये जाओगे, हत्या करोगे, काटे जाओगे । घृणा तिरस्कार, अशान्ति बाँटोगे, वही प्रतिध्वनि तुम्हें मिलेगी । क्योंकि संसार एक दर्पण है । सबमें अपने को ही निहारोगे । दुःख इसीलिए मिल रहा है कि तुमने दुःख के बीज बोये हैं । अब तुम्हारे यह फसल काटने के दिन हैं । अपना बोया ही सब मानव काटते हैं । पर काटते समय जब वह कष्ट पाता है, तब चिल्लाता है ।

तुलसी यह तन खेत हैं, मन वच कर्म किसान ।
पाप पुण्य दोऊ बीज हैं, बवे सो लहे निधान ।।

इस तन रूप खेत में, मन, वचन, कर्म से जो अच्छा बुरा, पुण्य-पाप बीज बोया जाता है, उसी का फल जीव को सुख-दुःख रूप में प्राप्त होता है ।

तुम अपने दुःखों के लिए किसी और पर दोष मत थोप देना । किसी और को उत्तरदायी मत बना डालना, नहीं तो फिर चूक जाओगे । पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेना कि मैंने जैसा किया था, वैसा मैं भोग रहा हूँ । यही तो कर्म का सिद्धान्त है । जो बोयेगा, वही काटेगा, जैसा बोयेगा, वैसा काटेगा, बोया कम जाता है, काटा ज्यादा जाता है ।

दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे, तो दुःख काहे को होय ।
करना था सो नहीं किया, अब कर क्यों पछताय ।
बोया पेड़ बबूल का, तो आम कहाँ से खाय ।

अब आप कर्म का फल दुःख से क्यों भागते हैं ? अगर दुःख मिल रहा है तो तुमने पहले कुछ गलत कर्म कर उसे निमन्त्रण दिया है, तभी वह आपको खोजते-खोजते इस जीवन में यहाँ आकर ढूँढ लिया । तुमने काँटे के बीज केवल लगाए हैं, पुष्प की सुगन्ध फैलनेवाले छायादार फलवाले बीज नहीं बोये तो अब कंटक ही प्राप्त होंगे, आम-अंगूर नहीं, नीम-बबूल ही तो भोग सकोगे ।

बीज तुमने बोये नीम के और अंगुर की प्रतीक्षा तुम करते थे, किन्तु अंगुर नहीं लगेंगे । नीम के कड़वे फल लगे । तो क्या तुम यह कहोगे कि मेरे आम के वृक्ष में नीम के फल क्यों लगे ? ऐसा तो कभी सम्भव नहीं हुआ । आपने अंगुर के बीज समझकर अन्धेरे (अज्ञान) में नीम के बीज बोये थे । तुम सुख पाने की प्रतिक्षा कर रहे थे, मिल रहा है दुःख । तुम समझ नहीं पा रहे हो बीज नीम का बो कर आये हो, आकांक्षा अंगुर की कर रहे हो । कर्म दुःख पाने के कर रहे हो और आशा सुख पाने की कर रहे हो । सभी लोग प्रायः यही भूल कर रहे हैं, बो रहे हैं नीम के बीज, आशा लगा रहे हैं, आम के फल की, मधुरता का आस्वादन करने के लिए ।

कर्म कोई वस्तु नहीं है, कर्म है मन का भाव । कर्म का जन्म कर्ता से होता है एवं कर्म का जन्मदाता अज्ञान है । अज्ञान का नाश होते ही कर्ताभाव समाप्त हो जाता है । जब क्रिया में कर्ताभाव नहीं वहाँ कर्म भी नहीं रह पाता । तब वह अकर्म बन जाता है । ज्ञानियों द्वारा भी कर्म होते हैं किन्तु वे नाममात्र । आग में भूने बीज की तरह निर्बीज होते हैं । अज्ञान के कारण लगता है मैं करता हूँ । ज्ञान के समक्ष कर्म बचता नहीं । वैसे ही जैसे प्रकाश के सम्मुख अन्धकार रहता नहीं ।

ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । – गीता, ४/३७

सबसे बड़ा घातक, बन्धनकारक, दुःखदायी अगर कोई है, तो वह है आपका कर्तापन का अभिमान ।

पाप अन्धेरे की तरह है, ज्ञान प्रकाश की तरह है । हजारों सालों का किसी गुफा का द्वार बन्द हो अन्धेरा घनीभूत होने पर भी एक दीपक के जलते ही अन्धकार खो जाता है । वह नहीं कह पावेगा कि ठहरो, हजारों साल से मैं यहाँ वास कर रहा हूँ, इतनी जल्दी नहीं जाऊँगा, हजार साल लगेंगे । नहीं, इधर आपने दिया जलाया कि उधर अन्धकार हजार साल पुराना तत्काल चला जायेगा ।

पाप को पुण्य से नहीं काटा जा सकेगा । पाप स्वतंत्र बीज है, पुण्य स्वतन्त्र बीज है । दोनों ही समय पर फलित होते हैं । ५० पाप कर्म को काटने हेतु १०० पुण्य कर्म किए जायें तो १०० पुण्य में से ५० पाप घट कर ५० पुण्य भोगने को मिल जावेगा, ऐसा नहीं होगा । १०० पुण्य तथा ५० पाप दोनों मिलकर १५० कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा ।

कर्ताभाव से किया प्रत्येक कर्म कर्ता को बांधता है । कर्म के पीछे कर्ताभाव हट जावे तो वह कर्म पूजा हो जाता है ।

पशु, बच्चे, पागल, न्यायाधीश, डॉक्टर, ज्ञानी को क्रियमाण कर्म तत्काल ही यश, अपयश, रूप फल दे देते हैं, किन्तु संचित कर्म हो प्रारब्ध भोगने के लिए आगे नहीं आवेंगे ।

जीव की जीवनधारा ही पूजा है । सारा जीवन जो भी कर्म हो रहा है, वह इस विराट् परमात्मा के साकार रूप की ही पूजा हो रही है । बस, कर्म के पीछे से कर्ता भाव हट गया तो वह कर्म ही योग हो जाता है ।

योगः कर्मसु कौशलम्

कर्म ही योग साधना बन जाती है । उससे अन्यथा पूजा करने की कोई जरूरत नहीं है । तुम जो प्रातः जगने से शयन करने तक जो भी कर्म कर रहे हो, उन कर्म पुष्पों को ही प्रभु चरणों में समर्पित कर दो । ''तेरा तुझको ही अर्पण क्या लागे मेरा ।'' तेरी मौज तू ही जान । बस अपने को उन कर्मों में से हटा ले, साक्षी रह जावे । परमात्मा की पूजा भक्ति हेतु किसी अन्य पुष्प को लाने तथा किसी अन्य कर्मकाण्ड करने की जरूरत नहीं, तुम्हारा कर्म ही तुम्हारे परमात्मा का अर्घ्य, अर्चना है एवं फलार्पण ही भोग है । जैसे की श्रीकृष्ण कहते है –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन । ८/२७ : गीता

जीव के अपने कर्ताभाव द्वारा किए कर्मानुसार ही उसका प्रारब्ध बनकर भोगने को मिलता है । इस वर्तमान में मिलनेवाले सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, प्यार या तिरस्कार के लिए जाने-अनजाने आपने ही बडी साधना की है, बीज डाले थे । अकारण कुछ भी नहीं मिलता है । जो मिल रहा है या आगे मिलेगा वह सब तुमने ही चुना है । जन्मों-जन्मों की साधना, आकांक्षा तुम्हें इस परिवार में लाई है । अन्यथा यह पत्नी, पति, सन्तान घर आपके लिए कैसे एवं कौन एवं क्यों निश्चित करता ? तुम पुरुष बने या स्त्री, इसके लिए तुमने अपने प्राणपन से चाहा, आकांक्षा की है । तब बीज की तरह बोया था, अब फसल की तरह तुम उसे काट रहे हो । समय लम्बा हो गया अब तुम्हें याद भी नहीं आती कि हमने कभी ऐसे दुष्ट परिवार, घर के लिए साधना, चाहना की होगी ।

आपके जीवन का ढंग ही आपको ब्राह्मण या शूद्र, वैश्य या क्षत्रिय बना देता है । कोई स्वतः शूद्र होने की मांग नहीं करता ।

जैसे मांस, मछली, अंडा खाने की वासना आपको कुत्ता, सिंह, साँप, बिच्छु, बिल्ली, चील आदि योनियों का निर्माण करा देती है । कोई कुत्ता, बिल्ली, सिंह, साँप, बिच्छु होने की इच्छा नहीं की जाती । वर्तमान में हमारे जीने का ढंग ही हमारी भविष्य की आधारशिला है । यदि वर्तमान में कोई ब्राह्मण है, किन्तु पण्डा, पुजारी, पंडित बन केवल मांग कर, ठगकर खाना ही जीवन का क्रम बना लिया है तो अब यह आलसी, दरिद्र ब्राह्मण शूद्र नहीं बनेगा तो क्या राजा बनेगा ? अवश्य हमारे जीवन के विधाता हम स्वयं है । चोरी हमने की है, तो जेल में जाना हमारे लिए जरूरी होगा, कोई हमने जेल की इच्छा थोड़े ही की थी, किन्तु हमारे कर्म के अनुसार हमें जेल की प्राप्ति होगी, अवश्य हम चाहें या न चाहें, इसी प्रकार संसार दुःख हमारे अज्ञान से भोगना पड़ रहा है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । – गीता, २/४७

याद रखे ! उस सर्वाधिष्ठान आत्मदेव को जाने बिना कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता । सब जीव शुद्र की तरह पैदा तो होते है और शुद्र की तरह जीवन व्यतीत कर मर जाते है । अन्धे की तरह पैदा होते हैं एवं अन्धे ही रहकर मर जाते हैं । कोई भाग्यशाली ही सद्गुरु से ज्ञानचक्षु पाकर ब्राह्मण हो देह त्याग करता है । किन्तु जिसने ब्राह्मण के घर जन्म लेकर यह समझ लिया है कि "मैं ब्राह्मण हूँ" वह धोखे में है । वह नाम मात्र का ब्राह्मण बन्धु है । ब्रह्म को जब तक कोई मैं रूप न जाने तब तक कोई ब्राह्मण नहीं होता । भला जो शूरवीर न हो एवं बिल्ली, छिपकली, काक्रोच से जो डरे वह क्षत्रिय कैसा ? जिसमें प्राणीमात्र में समता भाव न हो वह ब्राह्मण या पण्डित कैसा ?

यदि समस्त जीवन अभिनयमय दिखाई पड़ने लग जावे तो तुम साक्षी पद में स्थित रह जाओगे जहाँ से पुनः देह भाव में लौटने का कोई हेतु शेष नहीं रहता । समस्त जीवन स्वप्न है, मिथ्या है, झूठा है ।

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या

केवल तुम साक्षी ही सत्य हो शेष सभी देखा गया, जाना गया झूठ है । स्वप्न में जो दिखा एवं उठकर लोगों को बताया वह स्वप्न झूठ है, पूरा का पूरा किन्तु उसे देखनेवाले तुम झूठ नहीं हो । तुम झूठ होते तो स्वप्न देखा ही न जाता । सब कुछ झूठ हो सकता है एवं है ही किन्तु समस्त क्रियाओं का जो साक्षी है, सब में छिपकर जो बैठा है, क्या वह भी कभी झूठ हो सकेगा ? यह झूठ कदापि नहीं हो सकता ।

यदि जीवन को अभिनय न समझा और अपने को कर्ता मान बैठे तो साक्षी खो जावेगा । कर्ता बच रहेगा फल भोक्ता बनकर । तुम कर्ता बच जाओगे जो कि सच नहीं है, तुम तो साक्षी ही हो । किन्तु कर्ता की राख में अंगार की भांति तुम साक्षी छिपे रह जाओगे । यदि अपने को साक्षी जान लिया तो कर्ता मिट जावेगा । साक्षी को जान लेना ब्रह्मज्ञानकी पराकाष्ठा है, अतः संसार से भागो नहीं, जागो साक्षी भाव में ।

शिष्यत्व लावें

शिष्य जितना ज्यादा सद्गुरु चरणों में झुकता है, उतना ही श्रेष्ठ होता जाता है । यहाँ तो झुकना केवल उठने के लिए ही है । संसार वाले के सम्मुख कभी नहीं गिरना, अन्यथा वे बस तुम्हें कुचल देने के लिए तैयार खड़े हैं । संसार व परमार्थ में यह विरोधाभास है । तुम सोचते हो परमार्थ में जितने अकड़े खड़े रहेंगे, उतने ही श्रेष्ठ हो जाएंगे । यह बात संसार में भले किसी हद तक ऊँची हो सकती है, किन्तु गुरु के सामने तुम जितने अकड़े रहोगे, उतने ही निकृष्ट हो जाओगे । वहाँ तो झुकना ही कला है प्रेम की । वहाँ तो तुम जितने झुकते हो, उतने ही श्रेष्ठ ऊपर-ऊपर होते चले जाते हो । पूरे झुक गए समस्त अहंकार छोड़ दिए तो उन्नति की सीमा पर ही पहुँच जाते हो ।

सद्गुरु जब जीवित हमारे सम्मुख होता है तब उसका सम्मान नहीं करते हैं । उसके वचनों का श्रवण नहीं करते हैं । श्रवण किया तो पालन नहीं करते हैं । जब सद्गुरु संसार से बिदा हो जाते हैं, तब उसके सिद्धान्तों की खोज होती है । अज्ञानी उनके शास्त्र पढ़कर, रटकर मोक्ष की आशा करते हैं । तुम, राम, कृष्ण, जीसस, महावीर, शंकराचार्य, दयानन्द, कबीर, नानक, तुलसी के समय भी थे, किन्तु तब तुम उन्हें नहीं समझ पाये । उनके चरणों में श्रद्धा जाग्रत न हो पाई और अब तुम उनके ग्रथों को पढ़ रहे हो ।

जो भी है वह सदा से है यदि हम आज हैं तो फिर अनादि से ही है । इस लम्बी अनन्त की यात्रा में हमसे कुछ भी अनजाना, अनदेखा, अनकिया न रहा । केवल एक ही अनजाना रह गया, वह है अपने आपको जानना ।

वह छूट गया औरों को देखने,जानने, पढ़ने में । जब सद्गुरु के सम्मुख बैठ ही न समझ पाए तब घर जाकर अनेक ग्रन्थों से एवं अपनी जड़ बुद्धि से क्या समझ सकोगे ?

याद रखो ! यदि आज कृष्ण, महावीर, जीसस, कबीर, नानक, शंकर, दयानन्द आदि में से कोई जीवित महापुरुष मिल जावे तो फिर उनकी किताबों को फेंक ही देना, जला ही देना क्योंकि वे जड़ ग्रन्थ आपका कल्याण नहीं कर सकेंगे । वे अब नहीं हैं, तो शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है । किन्तु इस विराट् संसार में सद्गुरु नित्यावतार हैं, ऐसा कभी नहीं हुआ कि रोग हो एवं वैद्य न हो । मुमुक्षु हो एवं सद्गुरु न हो । वह सदा है, केवल हमारे शिष्यत्व मुमुक्षुता की ही जरूरत है ।

सद्गुरु नहीं मिलने में कारण है तो बस तुम्हारा उनके चरणों में समर्पित न हो जाने का भाव । फिर उनके शास्त्र भी तुम्हारे काम नहीं आवेंगे। जो जीवित सद्गुरु से लाभ ले सकता है, फिर वह उनके शास्त्र से भी लाभ ले सकता है । जो शास्त्र सद्गुरु की खोज, पकड़, पहचान करा दे, तो तुमने शास्त्र का ठीक उपयोग कर लिया । दही से मक्खन निकल आये तो उसका मंथन सार्थक हो गया । यदि शास्त्र ही सद्गुरु बन जावे एवं उसकी पूजा होने लगे, ग्रंथ ही साहब बन जावे तो फिर आप अहंकार के पत्थर के नीचे दब गये, अब ऊपर नहीं उठ सकोगे । चैतन्य पौधा ही वृक्ष के रूप में ऊपर उठता है । सूखा वृक्ष नहीं ।

समझदार वैद्य औषधि निर्माण कर विष को भी अमृत रूप में बना लेता है । किन्तु नासमझ अमृत को भी विष बना लेता है । औषधियों से भी आत्महत्या कर लेता है ।

वेद उदधि बिनु गुरु लखे लागे लौण समान ।

जिस क्षण तुम तैयार हो जाओगे, जिस क्षण तुम्हारी प्यास जग जावेगी, सद्गुरु के मिलन में देरी नहीं लगेगी । जगत् में सद्गुरु की कमी नहीं है । यदि कमी लग रही है, तो जानना तुम्हारे खोजने में ही कमी है । जिस क्षण तुम्हारे प्राण व्याकुल हो जावेंगे, उन्हें पाने के लिए, उसी क्षण तुम पाओगे कि उनका हाथ तुम्हारे सिर पर है । जीवित गुरु भगवान् की पूजा

करोगे तो तुम्हारा कल्याण हो जावेगा । मृत की पूजा करते रहोगे तो तुम्हें बार-बार मरना पड़ेगा और उस सत्य को कभी न पा सकोगे ।

सद्गुरु उत्तम शिष्य की खोज में रहते हैं । लेकिन जब तक शिष्य शिष्य होने के लिए, समर्पण के लिए राजी नहीं, तब एक हाथ से कैसे ताली बजे ? गुरु को निमंत्रण तो उसने दिया नहीं । अब गुरु द्वार पर स्वतः आकर खड़े हो जाये तो यह स्वीकार करने को तैयार नहीं । समर्पण की वृत्ति, झुकने की वृत्ति उसमें है नहीं, फिर जो झुकना ना जानता हो वह शिष्य कैसा ?

जहाँ अपने भीतर किसी प्रकार के बल, धन, गुण, रूप, जाति, पद का अहंकार है, वहाँ सद्गुरु से मिलन नहीं हो सकता । फिर परमात्मा के साथ कैसे एक हो सकेगा ? गुरु तो पहला कदम है, परमात्मा तो अंतिम कदम है । अगर पहले ही कदम पर तुम थोड़ा मिटने को गिरने को तैयार न हुए तब परमात्मा के चरणों में सम्पूर्ण न्योछावर कैसे हो सकोगे ? यह अनमनीय भाव यदि है तो पास सरोवर के भी तुम प्यासे मरोगे । तुम्हारा अहंकार तुम्हें वहाँ झुक अंजली भर अपने तप्त कंठो को तृप्त नहीं होने देगा । यदि तुम झुकोगे तो ही अंजली भर कर अपने कंठों को तृप्त कर पाओगे । सरोवर उछल कर तुम्हारे कंठो तक जानेवाला नहीं । सद्गुरु तो तुम्हारे भीतर लगी आग को स्वयं जाकर शांत कर देने को प्रस्तुत है, किन्तु तुम द्वार बंद किए बैठे हो और वह द्वार खुलने की प्रतिक्षा में है । सूर्य तुम्हारे घर में आलोक करने को द्वार, खिड़की पर खड़ा है किन्तु तुम सब ओर के द्वार बंद किये सोये हो । यदि वह जगाये, द्वार खटखटाए तो तुम नाराज हो जावोगे, गालियाँ देने लगोगे एवं उसे अपमानित कर भगा दोगे । संघर्ष से आज नहीं कल तुम थक ही जाओगे 'नहीं' कहने वाला आदमी आज नहीं, कल मौन हो स्वीकार करनेवाला ही है । तुम आज घृणा जिससे कर रहे हो बहुत शिघ्र उससे प्रेम में जुड़ने ही वाले हो । जब तुम 'नहीं' कहते हो इसका मतलब तुम अपने को गुरु से ऊपर श्रेष्ठ मानते हो, अपने को ज्यादा समझदार मानते हो तभी तो उनके आदेश में 'नहीं' कहते हो । याद रखें ! बिना तन, मन, धन की पूर्ण समर्पणता के कोई उत्तम शिष्य नहीं हो सकता ।

'ना' अहंकार का भोजन है, सुरक्षा है । 'हाँ' अहंकार की मृत्यु है, मिटना है । अहंकार मिटा की तुम वही अपने को पाओगे, जिसे अनादि से चाह रहे थे। खोज रहे थे । अहंकार तो रोग है, गांठ है, पीड़ा है, वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है । सुषुप्ति में कोई अहंकार नहीं है, इसलिए महा आनन्द होता है ।

जिस दिन श्रद्धा एवं प्रेम से शिष्य आज्ञा की प्रतिक्षा करता है, बस समर्पण हो गया । शिष्य उसी दिन शिष्य बनता है, उसी दिन गुरु में उसे परमात्मा के दर्शन होते हैं । उसी दिन वह स्वयं भी उसी में लीन हो अपने को पूर्ण अनुभव करता है ।

शिष्य में जब तक ऐसी दशा न आ जाए, सद्गुरु का मिलना मुश्किल है । जब तक तुम ऐसा न कह सको – 'अब तुम जो कहो वही ठीक है, अब ठीक और गलत का कोई निर्णय हम तुम पर नहीं लेंगे, तुम्हारी क्रियाओं पर नहीं लेंगे, अब तुम्हारा सब कुछ कहना ठीक है । तुम जो कहो वही ठीक है । जो इशारा करो वही सत्य है । अब मैं नहीं हूँ, तुम ही हो । जब तक मैं बचा था तब तक तुम दूर थे । अब आप मौजूद हैं मैं दूर हो गया, मैं हट गया बीच से ।'

जब मैं था तब हरि नहि, अब हरि हैं मैं नाही ।
प्रेमगली अति सांकरी, तामें दोउ न समाहि ।।

जिस दिन तुम्हें यह भान होगा कि कुछ भी तो नहीं है मेरा जिसे छोड़ने में भय किया जावे । उसी दिन छूट जावेगा समस्त अहंकार । उस क्षण ही अहंकार की गांठ खुल जावेगी एवं तुम समर्पण भाव से भर कर पूरे झुक जाओगे । कुछ भी तो नहीं है बचाने को । कोई लूट भी होगी, तो क्या है लूट जाने के लिए मेरी संपत्ति ?

सद्गुरु तुम्हें पहले थोड़े छोड़ने को राजी करता है । देहभाव, जाति भाव, धार्मिक भाव ताकि तुम फिर आखिरी बात जीव भाव छोड़ने में समर्थ हो सको । नहीं तो तुम परमात्मा के सम्मुख भी अकड़े खड़े रह जाओगे, वहाँ भी नहीं छोड़ पाओगे । गुरु के माध्यम से परमात्मा में मिलना सीखना है ।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् – गीता: ३–३९

याद रखो ! गुरु के प्रति तर्क करके तुम अपने को ही काट रहे हो, अपने को ही नुकसान पहुँचा रहे हो । तुम ऊपर होने के बजाय नीचे गिरते चले जाओगे । सद्‌गुरु और सत शास्त्र में अपने कल्याण का पूर्ण विश्वास रखना ही श्रद्धा है एवं इसी श्रद्धा का फल आत्म ज्ञान है । आत्मज्ञान का ही फल मोक्ष है ।

जीव का श्रेय इसी बात में ही है कि वह सत् गुरु पाकर प्रसन्नता पूर्वक यह कह दें कि हमने आप पर छोड़ दिया, जीवन डोरी आपको सम्भाल दी । अब आप जानें, अब हम क्यों फिक्र करें ? बस ऐसा समर्पण शिष्य के अहंकार की आत्म हत्या कर देता है । फिर उस में देहभाव, कर्ताभाव पुनः जाग्रत नहीं हो सकेगा ।

गुरु, शिष्य के मन में शिष्यत्य, अपनत्व जाग्रत कराने के लिए हर शिष्य को यही कहता है । मेरा प्रेम तेरे प्रति सबसे ज्यादा है, गहनतम है । कृष्ण भी अर्जुन को यही कहते हैं कि तू मुझको सबसे प्यारा है । इससे तुम मन में ऐसा मत सोच लेना कि मैं सबसे विशेष हूँ या किसी को कम एवं किसी को ज्यादा प्रेम करते हैं । फिर भी गुरु को कहना पड़ता है कि तुझसे मेरा प्रेम अतिशय है, क्योंकि जब तक शिष्य को ऐसा भरोसा न आ जाय, कि केवल मेरे प्रति ही मेरे गुरु का अतिशय प्रेम है, तब तक उसके भीतर की श्रद्धा का उभार न आ सकेगा । वह गुरु को एकाग्रता पूर्वक श्रवण नहीं कर सकेगा ।

सम्यक् श्रवण का मतलब है ऐसे सुनना जैसे एक-एक शब्द पर जीवन और मृत्यु बरस रही है । ऐसे सुन लेना जैसे पूरा शरीर एक मात्र कान ही रह जावे जैसे गुरु द्रोणाचार्य द्वारा अर्जुन की धनुश विद्या की परीक्षा करते समय अर्जुन का पूरा शरीर एक आँख बन गया था एवं वृक्ष डाल, टहनी, पत्ते, फूल, फल कुछ भी न दिखाई पड़ रहे थे, केवल बच रही तो पंक्षी की आँख, जिसे उसे गुरु आज्ञा से भेदना था । सम्यक् श्रवण का मतलब सुनते समय सोचना नहीं यदि विचार में, सोचने में, नाप तौल में लग गये तो श्रवण नहीं हो पावेगा । तुम श्रवण के समय यही भूल करते हो । तुम यह देखते हो कि यह बात हमारे सम्प्रदाय गुरु, मान्यता से मेल खाती है या नहीं । नहीं ऐसे नहीं सुनो प्रत्युत ऐसे सावधानी से सुनो कि पूरा अन्दर आ जावे फिर अगले क्षण मौत भी आ जावे तो पछताना न पड़े कि हाय ! मैं पूरा नहीं सुना ।

जो शिष्य ह्रदय से सुनता है, वही श्रवण कहलाता है । उसी का अहंकार, शोक, मोह, चिंता, भय छूटते हैं । जैसे अर्जुन ने कृष्ण को श्रद्धा, एकाग्रता एवं ह्रदय से सुना था । सुनतो संजय भी रहा था वेदव्यास की कृपा से प्राप्त दिव्य दृष्टि से किन्तु संजय का मोक्ष हुआ नहीं । वह तो धृतराष्ट्र को सुनाने में लगा है, ट्रान्समीटर बना ब्राडकास्ट कर रहा है ।

उपदेश के समय जब तुम्हारे सिर बराबर हिलते रहते हैं तो मुझे ज्ञात हो जाता है कि यह बातें तुम्हारे सिद्धांत, गुरुओं से मेल खा रही है । यदि श्रोता का सिर नहीं हिलता है तो स्पष्ट पता चलता है कि बात समझ में नहीं आ रही है या श्रोता की बुद्धि पूर्व धारणा से मेल नहीं खा रही है ।

शिष्य समर्पण सोचकर, निर्णय लेकर करता है करुँ या न करुँ ? बस यह निर्णय करने वाला कर्ता तो पीछे ही खड़ा रहा, समर्पण आगे हुआ । और समर्पण तभी होता है जब कर्ता भाव मिटे । यदि सोच समझकर किया तो तुमने समर्पण किया ही नहीं, तुम बुद्धि के ही शरण में पड़े हो । सोच-सोच के जब ठीक पाते हो तो शरण ग्रहण की । यदि बुद्धि को ठीक न बैठता तो शरण नहीं लेते एवं बाद में भी निर्णय बदल समर्पण को हटा लेते हो कि आज से हमारा तुम्हारा रास्ता अलग, कुछ लेन देन नहीं । अपने को बचाकर समर्पण नहीं होता ।

गुरु की तरफ से शिष्य के प्रति जो प्रेम है शिष्य के तरफ से गुरु के प्रति उतनी ही श्रद्धा का उभार होता है । शिष्य थक जावें तब भी गुरु नही थकता बार बार बुलाता है, जगाता है, सुनाता रहता है । प्रेम ही भरोसा ला सकता है । प्रेम ही श्रद्धा को जाग्रत कर सकता है और प्रेम ही समर्पण की संभावना खोज सकता है । गुरु एवं शिष्य की निकटता में ही वह जो अत्यंत गोपनीय है, वह प्रकट हो जाता है । सत्य को जिसने जान लिया है, फिर सत्य उस अधिकारी की तरफ पुष्प से सुगंध की तरह बहने लगती है, जैसे पानी ढाल की ओर बहता है ।

गुरु के साथ जो सम्बन्ध है, वह अत्यन्त पारमार्थिक है । यह सम्बन्ध इस संसार का नहीं है । वह सम्बन्ध अपने आप में ही साध्य है । वह लाभ व लोभ का लेन-देन का सम्बन्ध नहीं है । जब तक तुम किसी लौकिक, पारलौकिक लाभ के लिए इच्छा करते हो, तब तक तुम गुरु,

परमात्मा के पास न जा सकोगे, क्योंकि तुम्हारे एवं गुरु, परमात्मा के बीच वह तुम्हारे पाने की इच्छा दीवार बन कर खड़ी हो जावेगी ।

कर्म फल का चाह करने वाले, पद प्रतिष्ठा, धन, पुत्र की चाह करने वाले देवी-देवता के पूजने के अधिकारी हैं, वह परमात्मा या सद्गुरु को पाने का अधिकारी नहीं । परमात्मा, गुरु को तो वही भजता है जिसे कोई कामना मन में नहीं है । मांगने से ही दूरी हो जाती है । यही व्यवधान है इसीलिए सकाम कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्म, भक्ति का महत्व अतुलनीय है । मुक्ति के लिए सद्गुरु परमात्मा है और शक्ति, सिद्धि के लिए देवी-देवता हैं ।

जीवन में जो कुछ मिला है, वह उपयोग करने हेतु है, फेंकने, नष्ट करने हेतु परमात्मा ने कुछ नहीं दिया । आवश्यक न होता तो वह देता ही क्यों, फेंकने नष्ट करने के लिए । तुम्हें अनावश्यक कुछ लगता है तो यह तुम्हारी ना समझी है । जीवन में सभी सम्यक् रूपेण उपयोग कर लेने जैसा है । किसी भी वस्तु के दुरुपयोग में ही हानि है । केवल विषयासक्त व्यक्ति को जो यह काम, क्रोध, लोभ, नरक के द्वार पर पहुँचानेवाले हैं, वे ही उपयोग करने से मोक्ष के भी हेतु हैं । परमात्मा कर्ता हो जावे और तुम केवल साक्षी हो जाओ या उसके हाथ के उपकरण हो जाओ, यंत्र बन जाओ, वीणा बन जाओ, फिर वह जैसा चलावे, बजावे, कर्म नियति से, प्रकृति से, स्वभाव से, संयोग से, तुम चुप चाप उसे किये चलो । कर्ता भाव छोड़ दो, जहाँ भी हो, जो भी करो कर्ता न रहो ।

कर्तापन के जाते ही अहंकार गया एवं अहंकार के मिटते ही पाप-पुण्य भी गये । यह तो अहंकार की ही छाया है, पुरुष की छाया की तरह साथ चलते हैं । जब तक मैं भाव है तभी तक कर्ता एवं भोक्ता है तथा पुण्य पाप है । जब मैं मिटा, कर्ताभाव हटा, तब पुण्य-पाप भी उसी प्रकार लीन हो जावेंगे जैसे सूर्योदय के साथ ही अन्धकार विलीन हो जाता है । जब अहंकार नहीं, कर्ता नहीं तब कौन करेगा पाप एवं कौन करेगा पुण्य ? कौन कर्ता बनेगा एवं कौन भोक्ता रहेगा ? किसके साथ पाप करेगा ? किसको दान देकर पुण्य संग्रह करेगा ? वही मारने वाला, वही मरने वाला । गरदन भी उसीकी, तलवार भी उसीकी तथा मारने वाला हाथ भी उसी का जैसे कागज, दिवार पर चित्रित सब एक मात्र रंग ही है ।

जब तक साक्षी भाव का स्मरण नहीं आया, तभी तक जीवन में अन्धकार,अमावस रात्रि, निद्रा एवं मृत्यु है । जैसे ही स्मरण आया कि मैं साक्षी हूँ फिर कोई रात्रि, अन्धकार, मृत्यु, भय होता ही नहीं ।

सम्प्रदायी गुरु तुम्हारे प्राणों में यह अमृत भाव, साक्षी भाव जाग्रत ही नहीं होने देंगे । इन धर्म के ठेकेदारों ने बहुत ही अहित किया है, धर्म के मार्ग पर चलने वाले भोले लोगों के साथ । वे धर्म अब सम्प्रदाय बन गये हैं, इसीलिए अहित हुआ है एवं हो रहा है । सम्प्रदायी नेता मनुष्य को अन्धकार में डालने, उनकी विवेक की आँख नष्ट करने में अब वे धर्म का दुरुपयोग कर रहे हैं । जीव को ले जाना था प्रकाश की तरफ, सत्य की तरफ,अमृत की तरफ, मुक्ति की तरफ, अशोक की तरफ, निर्भयता की तरफ, निष्पाप की तरफ, स्वतंत्रता की तरफ, किन्तु ले नहीं गये । बल्कि वे धर्म कारागृह बन गये । होनी थी मुक्ति, किन्तु पैरों में जंजीर उन्होंने डाल दी । ले जाना था खुले आकाश में, उन्होंने विवेक के पंखों को ही काट दीया । आज चर्च, गुरु द्वारा, मस्जिद, मंदिर, मठ, सम्प्रदाय, समाज, जाति, धर्म हमें घेर कर खड़े हो गये, जेल खाने बन गये, हमें बंदी बना अपने चरणों में डाल वे मन माने ढंग से खरीदे, गुलाम की तरह हमारा शोषण कर रहे हैं ।

जिस दिन सद्गुरु की कृपा से अपने भूले स्वरूप का स्मरण हो जावेगा कि जिसे मैं भूल गया था जो मेरे भीतर ही था, प्राप्त ही था, जिसकी तरफ मेरी दृष्टि नहीं हो पाई थी, वह मैंने आज हे गुरुदेव ! आपकी कृपा से स्मरण कर लिया, मुझे याद आगई । मेरे अस्तित्व की, मेरे होने की, अब मुझे कोई अपने कारागृह में बंदी नहीं बना सकेगा ।

जब भी अहंकार नष्ट होगा, स्वरूप स्मरण होगा तो केवल सद्गुरु की कृपा से ही होगा । अपने साधन बल से, शास्त्र पढ़ने से, व्रत, उपवास करने से, वेद पढ़ने से, योग-यज्ञ करने से यदि होता तो पहले ही हो जाता । किन्तु नहीं हो पाया था । आज सद्गुरु कृपा से ही अनादि कालीन देहभाव, कर्ताभाव, एवं समस्त भ्रान्तियों से मुक्त केवल साक्षी हूँ ।

महाजन कौन ?

श्रुतिः विभिन्ना स्मृतयश्च भिन्ना ।
न एको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।
महाजनो येन गतः स पन्था ।।

सद्गुरु कौन ? तो शास्त्र कहता है श्रुति स्मृतियाँ अनेक हैं । किसी एक मुनि का वचन प्रमाण रूप नहीं है । धर्म का तत्त्व गूढ़ है । वह तत्त्व तो ज्ञानी महापुरुषों के हृदय में रहता है । इसलिए उसे जानने के लिए जिस मार्ग से चलकर वे वहाँ पहुँचे हैं, वही केवल मार्ग है, अन्य नहीं ।

उपास्य इति च सर्व शरीरस्थ चैतन्य ब्रह्म प्राप्तको गुरुः उपास्यः

– निरालम्ब उप.

समस्त शरीर में रहने वाले चैतन्य रूप ब्रह्म को जो प्राप्ति कराये वही गुरु उपास्य है ।

परमात्मा के सम्बन्ध में जिन्होंने बहुत पढ़ा, रटा, लिखा है, वे सद्गुरु, नहीं हैं । बल्कि जिन्होंने परमात्मा को जीया है, पीया है, कंठ से उतारा है, एकत्व को अनुभव किया है, जो दूसरों के हृदय में आत्म विश्वाँस जगा सकते हैं, आत्मनुभूति करा सकते हैं, वे ही सद्गुरु कहलाने योग्य हैं ।

पानी के विज्ञान को कोई जान ले कि एच.टू.ओ (H_2o) क्या इतना जान लेने से किसी की प्यास बुझ सकेगी ? भोजन के बनाने की अनेक विधियाँ पुस्तक में लिखी हो, उसे आप जानलो, पढ़लो, पर क्या वे हजार

विधियाँ रोटी के एक टुकड़े खाने जितनी भी भूख मिटा सकेगी ? भूख तो भोजन से एवं प्यास तो पानी से मिट सकेगी, पुस्तक से नहीं । इसी प्रकार मोक्ष ज्ञान तो सद्गुरु से मिल सकेगा, ग्रंथों से नहीं ।

आप संसार के नक्शे को देखो, सभी देशों , प्रांतों, नगरों के नाम रोज पढ़ते रहो, किन्तु आप कहीं पर नहीं पहुँच सकेंगे, जब तक की किसी मार्ग दर्शक द्वारा वहाँ की ओर गति न करें । उसी प्रकार शास्त्र मात्र नक्शे हैं, परमात्मा के धाम के, उनको पढ़, रट, सुनने मात्र से हम वहाँ नहीं पहुँच सकेंगे । उसके लिए हमें कोई पूरा गुरु मिले तभी हम वहाँ का अनुभव कर सकेंगे ।

सतों के नहीं लेहड़े

चंदन के पुष्प या वृक्ष हर जंगल में नहीं, हर सरोवर में हंस नहीं, मुक्ता हर हाथी को नहीं, मणि हर सर्प को नहीं, कस्तूरी हर मृग को नहीं, उसी प्रकार हर वेशधारी सद्गुरु नहीं । सतों की जमात फौज नहीं होती कोई विरला ही होता है ।

जो पय मध्ये घ्रीव है, त्यों रमिया सब ठौर ।
श्रोता वक्ता बहु मिले, मथि काढ़े ते और ।।

करोड़ों की भीड़ से छूटकर चलते हैं सत्गुरु । उसके साथ होने के लिए हिम्मत चाहिए ।

जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ ।

वह तुम्हारे एक-एक अंध विश्वाश, अहंकार एवं धर्म पूंजी को छीन लेगा, खंडन करेगा, बल्कि जीवित मार तुम्हें अमर बनादेगा । तुम्हारी एक-एक मान्यता सजाई मूर्ति को, आदर्श को तोड़ देगा, तुम्हें शून्य कर देगा । जैसे कृष्ण ने गोपियों को निरवस्त्र एवं अर्जुन को निधर्मी कर दिया, महावीर ने अपने को निरहंकारी कर दिया । जब सद्गुरु मिलेगा तो तुम्हारी एक-एक धार्मिक भावना को, धारणा को, मान्यताओं को ध्वंस कर देगा । सचमुच में गुरु तो शिष्य के लिये साक्षात् मृत्यु ही है । वह दूसरा जन्म दिला देता है ।

"पाप कर्म को पाप तो, जाने सब जग कोय ।
पुण्य कर्म भी पाप है, कहे निरंजन कोय ।"

"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण ब्रज "

धर्म की सीढ़ी धाम तक पहुँचा सकेगी, किन्तु परमधाम जाने के लिए तो बड़ी हिम्मत की, बड़े साहस की जरूरत है । जो धर्म की सीढ़ी पर लात रख सकेगा, वही परमधाम पहुँच सकेगा । जहाँ जाकर लौटना नहीं, वह परमधाम, हमे धर्म की सीढ़ी पर बैठ नही मिलता । धर्म एक स्वर्ण की जंजीर है, उसमें हमारे मन को ज्यादा रस है, ज्यादा टिकाव है । उसे कोई विरला ही सद्गुरु कृपा पात्र ही त्याग परमधाम को प्राप्त कर पाता है, शेष सभी धर्म तो लौटानेवाली गति को ही दिलानेवाले हैं ।

त्रैगुण्य विषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः । – गीता, २/४५

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । – गीता, ८/१६

सद्गुरु मिलेगा तो तुम्हें ऐसा लगेगा कि हमें नष्ट कर रहा है, भ्रष्ट कर रहा है । हमें जला रहा है, हमारी जन्मों-जन्मों की आस्था को मिटा रहा है ।

सद्गुरु प्रथम तुम्हें दूर से साधारण स्थिति से गिरा हुआ मानव लगेगा, किन्तु तुम उसके समीप जितने आते जाओगे, उतना ही वह तुम्हें पूर्ण परमात्मा अनुभव में आने लगेगा और जब तुम्हें गुरु में परमात्मा की झलक मिल जाएगी, उसी दिन अपने में भी साथ-साथ परमात्मा का अनुभव होने लगेगा । क्योंकि गुरु तो दर्पण बनेगा, चेहरा तो तुम्हारा ही उसमें प्रतिबिम्बित होगा । दर्पण कोई भी हो आँख तो तुम्हारी ही रहेगी ।

बाहर से असद्गुरु तुम्हें सर्व प्रथम साक्षात् भगवान् प्रतीत होंगे किन्तु जैसे-जैसे उनके समीप पहुँचते जाओगे, साक्षात् राक्षस, शोषण कर्ता ही मालूम पड़ेगा । धर्म के नाम पर सम्प्रदाय चलते हैं । सम्प्रदाय तो अन्धों की जमात है । भेड़ों की भीड़ है । अज्ञानी भीड़ में चलने का साहस शिघ्र कर लेता है । किन्तु जिसके साथ भीड़ नहीं, उसके साथ जाने का साहस नहीं कर पाता । लोग सोचते हैं कि जहाँ भीड़ होगी, वहाँ सत्य अवश्य होगा । लाखों,

करोड़ों जा रहे हैं, हिम्मत हो जाती है उस ओर चलने की, कुंभ स्नान करने को । बेष्णदेवी,अमरनाथ, मान सरोवर, तीरुपति, चारधाम की और चलने को और जहाँ भीड़ नहीं, वहाँ मन नहीं रुकता, सोचता है यहाँ क्या सत्य हो सकेगा ? यहाँ सत्य होता तो क्यों इतने कम लोग आते ? किन्तु याद रखो, सत्य का भीड़ से सम्बन्ध नहीं । सत्य तो अद्वितीय है, अकेला है । भीड़ तो सर्कस, जादू, वैश्या, नाटक, सिनेमा, खेलादि स्थानों पर होती है । आप्रेशन थिएटर में भीड़ का क्या काम है । धर्म तो बुद्धि के विकारों का शुद्धिकरण करने का, स्वस्थ बनाने का मार्ग है ।

आश्चर्य है, लोग मुर्दों को पूजते हैं एवं जीवित से भागते हैं । जीवित को मारते हैं । जो लोग मूसा को माननेवाले थे, उन्हों ने जीसस को सूली पर लटकवाया था । मूसा में जो ज्योति थी, वह वहाँ से बुझकर १००० वर्ष बाद जीसस में प्रकट हो चुकी थी किन्तु अज्ञानी मूसा के बुझे दीपक को पूज रहे थे एवं जीसस के जलते दीपक को सारी शक्ति लगा उसे बुझाकर ही छोड़ा एवं अब वे ही लोग जीसस के बुझे दीपक के समीप अपने बुझे दीपक को हाथ में लिए मार्गदर्शन की प्रतिक्षा में खड़े प्रार्थना किए जा रहे हैं । वहाँ अब क्या मिलेगा, सड़न, बदबू, ठोकरों के अलावा ?

राम की ज्योति का तिरस्कार, कृष्ण की ज्योति का तिरस्कार, शंकर, दयानन्द, कबीर, नानक की ज्योति का तिरस्कार हम लोगों ने ही खुलकर किया । अब जब उनकी ज्योति का दीपक बुझ गया, वहाँ से ज्योति लुप्त हो गई, तब हम उन बुझे को सजा कर उनके दीपकों के पास प्रकाश पाने के लिए बैठे हैं । वर्तमान राम मन्दिर, बाबरी मस्जिद कांड अयोध्या का इस बुझे दीपक के पीछे अशान्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

जीवित सच्चे गुरुओं से सम्प्रदायवालों को खतरा रहता है । देहाभिमानियों को खतरा मालूम पड़ता है कि यह हमें मिटा देगा । इसीलिए लोग चित्र, मूर्ति की उपासना करते रहते हैं, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार का उपासक के जीवन में परिवर्तन की कोई घटना घटने की अब किंचित् भी सम्भावना नहीं है । जब तक सद्गुरु जीवित है, तभी तक कुछ परिवर्तन तुम्हारे जीवन में आ सकता है । देह त्याग हो जाने के बाद तो खाली पिंजरा

खुला पिंजरा रह गया, अब उसमें कुछ नहीं रहा, पक्षी उड़ गया । हम मुर्दों की उपासना करते-करते मुर्दों के समीप बैठते-बैठते, मुर्दे हो चुके हैं । चैतन्य के समीप बैठ लाभ लेने योग्य हमारे तन,मन, प्राण नहीं रह गए हैं । मरे-मरे जीते हैं । सोच-सोचकर कदम रखते हैं । फूंक-फूंक कर चलते हैं । बचाव की ज्यादा फिक्र है । जो वह स्वयं शरीर नहीं, जो उनका भी नहीं, उस 'नहीं' को बचाने में लगे रहते हैं । दिन रात जो आत्मा 'है' उसे कभी याद भी नहीं करते, कोई उस ओर दृष्टि करावे तो देखते भी नहीं । ऐसे लोगों का आग्रह जीने में कम केवल बचाव में ज्यादा रहता है, किन्तु कब तक बचा सकोगे । अग्नि या पृथ्वी एक दिन सबके अहंकार के पिंड रूप शरीर को अपने में मिटाकर ही छोड़ेगी । क्योंकि कार्य-कारण रूप ही रहेगा ।

माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रोंदे मोहि ।
एक दिन ऐसा आएगा, मैं रुंधूंगी तोही ।

लोग कैसे-कैसे सड़ रहे हैं इस संसार के मोह-ममता एवं देहाभिमान में । जैसे जीना अपने आप में कोई महत्व रखता हो । बस, यह अपने बचाव का जीना, जीना नहीं मरना ही है । सच में जीना वही है, जो स्वस्थ होकर जीए स्वरूप में स्थिति करते हुए जीए, देह को लम्बाने, बचाने की फिक्र छोड़ो । पूर्ण स्वस्थ हो जीने की चिंता करो । जब तुम्हारा तुममें कुछ भी शेष न रहेगा, तभी तुम अपने पूर्ण स्वस्थ स्वरूप को किसी सद्गुरु की कृपा से प्राप्त कर सकोगे । उसके बिना तुम सदा अस्वस्थ, मृत ही बने रहोगे । मृत्यु के क्षण में यदि तुम्हें होश बना रहा तो मुक्ति सुनिश्चित है । देह भाव की मृत्यु ही निर्वाण है ।

अज्ञानी की मृत्यु बेहोश अवस्था में होती है एवं लोगों के हाथों से उसके शरीर का दाह संस्कार होता है । किन्तु ज्ञानी अपनी विचार अग्नि से अपने दृश्य देह को महाभूतों का कार्य जान महाभूत रूप से ही उसे देखता है । क्योंकि कोई कार्य, कारण से भिन्न सत्ता वाला नहीं होता है । ज्ञानी जिसने भी अपने को देह से भिन्न जान लिया है, उसको मृत्यु भी अपने से दूर ही दिखाई पड़ती है । वह यह जानता रहता है कि मैं नहीं मर रहा हूँ, मेरा शरीर ही, मेरी

श्वाँस ही पूरे हो रहे हैं । ऐसा ज्ञानी निर्वाण को उपलब्ध हो जाता है । पर ऐसे सद्गुरु की पहचान करने के लिए हमारे पास श्रद्धा की आँख चाहिए । *जो आत्मज्ञान प्रदाता जीवित में मरकर बैठा हो एवं दूसरों को मार कर अमर बनाने की अभूतपूर्व शक्ति रखता हो । 'गुरु मृत्यु'।*

सच्चा सद्गुरु वही, जिससे तुम्हारी बुद्धि नहीं हृदय जुड़ सके, फिर कोई नारद, उद्धव जैसा पार्वती, गोपी को डिगाना चाहे तो भी न डिगा सके । जिसके पास बैठकर तुम्हारा हृदय कमल खिल सके, प्रीति जाग उठे, आनन्द का झरना बह निकले, वही महाजन है । ऊपरी बात छोड़ दो, उनका वेश कैसा है ? आचार-व्यवहार कैसा है ? यह सब बाहरी छिलके हैं । घास पत्ते की तरह उनको इतना महत्व मत दो । बीज आत्मा है, स्वर्ण की चैन कीचड़ में पड़ी दिखाई पड़ जावे तो फिर उठाने में पवित्रता अपवित्रता का विचार नहीं किया जाता ।

जिसके समीप बैठ तुम्हारे भीतर प्रेम की तरंगे उठने लगे, सत्य का संगीत बजने लगे, भजन धुन उठने लगे, मन मयूर नाच उठे, शंकाएँ शान्त होने लगे, मन निर्बोझता का अनुभव करने लगे तो सोचना हम किसी महाजन को उपलब्ध हुए हैं । जिसके वचनामृत के द्वारा तुम्हारे भीतर सोया संगीत जाग उठे, भजन पंक्तियाँ स्फुटित होने लगें, तुम्हारे अंग-अंग में मस्ती आने लगे, पैरों के घुंघरु बजने लगे मीरा की तरह ''पग घुंगरु बान्ध मीरा नाची रे'' उसके जीवन का धक्का फिर तुम्हारी सोई चेतना को भी जाग्रत कर देगा । उसके ज्ञान प्रकाश की किरणें हमारे हृदयस्थ अनादि अन्धकार को विलीन करने में एक क्षण की भी देरी नहीं करेगी । वही महाजन है, वही पूरा सद्गुरु मिला जानना । अवश्य ही ऐसे चरणों को तुम्हें खोज श्रद्धा तो करना ही होगा, जहाँ तुम अपने आपको मिटा सको ।

सद्गुरु मिला तभी जानना जब देवभाव गिरे एवं ब्रह्म साक्षात्कार हुआ तभी जानना जब जीव भाव गिर जावे ।

यदि देहभाव सुरक्षित है तो सद्गुरु नहीं मिला एवं जीव भाव समाप्त नहीं हुआ तो ब्रह्मानुभूति अभी स्वप्न मात्र है ।

हे आत्मन् ! जिनके चरणों में बैठ तुम्हारा मन मयूर नाच उठे, वही महाजन है । फिर तुम किसी की बात मत सुनना । दुनियाँ निन्दा करे, पागल कहे, कहने दो, करने दो ।

लोग कहें मीरा भई रे बावरी

यदि तुम्हारा मन मिल जावे, शान्त हो जावे तो फिर मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा या मन्दिर का भेद मत मानना । फिर कौन क्या कहता है, इसकी चिन्ता मत करना । जिसके माध्यम से तुम्हारे भीतर का पक्षी पंख फड़फड़ाने लगे । महाकाश में उड़ने के लिए व्याकुल हो उठे, वही महाजन है ।

फिर वह महाजन कैसे जीता है, यह चिन्ता मत करना कि यह क्या करता है, इसकी फिक्र छोड़ देना, उसके जीवन के प्रसाद को ग्रहण करना । कैसे उठता–बैठता है, कैसे चलता है ? जैसा कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता में कृष्ण अर्जुन को बतलाते हैं । उसके क्रियाओं पर क्रॉस, निषेध नहीं करना । क्योंकि उसकी किसी क्रिया में कर्तृत्वाभिमान नहीं होता है, इस चौदह त्रिपुटियों के व्यवहार को करते हुए भोगते हुए भी वह साक्षी ही रहता है ।

नैवं किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् – *गीता:५/८*

'गुणा गुणेषु वर्तन्त' – *गीता:३/२८*

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति । – *गीता:१४/१९*

योगः कर्मसु कौशलम् । – *गीता:२/५०*

महाजन ! हर हाल में मस्त रहता है, चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो, जीत हो या हार, संयोग हो या वियोग, जीवन हो या मृत्यु वह समभाव में ही रहता है । फिर उनके प्राणों से अपने प्राण जोड़ लेना, उनकी आँखों में झाँकना, बिना किसी मापदण्ड के सीधी आँख से देखना, बीच में किसी संत, अवतार, महापुरुष, शास्त्र के चश्मे को न रखना । उनकी दिनचर्या को ही अपने कल्याण का संदेश समझना ।

जेही विधि राखे गुरु, तेहि विधि रहिये ।

तुम उनके तान में तान, स्वर में स्वर जोड़ना, अपना स्वर अलग न छोड़ना । तुम इतने शून्य हो जाओ कि तुम्हारे अन्दर अहंकार न बच सके ताकि जिस महापुरुष से तुम्हारी प्रीति हो जावे, उसके साथ तुम निर्भयता से आनन्द के सागर में डूब सको । उसका जीवन तुम्हें पूरा का पूरा आच्छादित कर सके । उसकी अमृत वर्षा तुम्हें पूरा भिगो सके । तुम्हारे आनन्द सरोवर को भर सके । अपने हृदय पात्र को उनके कृपा वर्षा के लिए, अमृत वर्षा के लिए खुला छोड़ देना, अब न ढंकना । अपनी सब सीमाओं के पर्दे उठा देना, ताकि उसकी किरणें तुम्हारे भीतर समा सके । उसकी पवित्र पवन को भीतर प्रवेश होने के लिए सब द्वार झरोखे खोल देना, ताकि जन्मों-जन्मों की धूल गन्दगी को वह वहाँ से उड़ाकर तुम्हें शुद्ध पवित्र बना सके । गन्दगी को छिपाकर जीने की इच्छा उनके समीप पहुँच कर मत करना । अन्यथा जिसमें बन्धे रहोगे, वहीं पड़े सड़ते मरते रहोगे । तुम्हारा बन्धन, प्रीति, विश्वाँस, अहंकार ही तुम्हारी स्थिति होगी । जहाँ तुम्हारा मन है, जैसा तुम्हारा मन है, वहीं तुम हो, वही तुम हो ।

लेकिन तुम्हें अपने सत्य का अभी पता नहीं है । इसीलिए किसी ऐसे व्यक्ति की जरूरत है, जो तुम्हें अंगुली का संकेत कर बता सके कि वही तुम हो 'तत्त्वमसि' । वही महाजन है । जिसके पास बैठकर तुम्हारा सत्य अंगड़ाई लेने लगे, बस इसके सिवाय उसकी पूर्णता का अन्य कोई प्रमाण नहीं । तुम श्रुति, स्मृति एवं अन्य मुनियों के शब्द जाल में मत भटकना । जिसके पास बैठकर तुम्हें उस परम आनन्द की खुमारी छाने लगे । मस्ती आने लगे । समझ लेना इशारा, कि यही है वह जगह, कि यही है वह मंजिल, जिसकी मैं तलाश करता था । कि यही है वह जगह, जहाँ सिर झुकाकर मुझे फिर उठाना नहीं है ।

महाजन की पहचान तर्क से नहीं, सिद्धान्तों से नहीं । महाजन की पहचान तो दीवाने कर पाते हैं, जहाँ रस, वहाँ मधुमक्खियाँ हैं, जैसे जहाँ चुम्बक है वहाँ लौह, शमा की ओर परवाने खिंचे चले आते हैं । जहाँ समुद्र है उधर नदियाँ, जहाँ सूर्य है, वहाँ लपटें । स्वतः चली जाती है । इसी प्रकार

सत्य की ओर मुमुक्षु खिंचे चले आते हैं । अपने को पाने के लिए उनके प्राण व्याकुल हो उठते हैं । यह मार्ग व्यवसायी,दुकानदारों का नहीं, जो लाभ-हानि की तराजू लेकर बैठे हैं । पुण्य-पाप की कसौटी लिए बैठे हैं । यह मार्ग तो मस्तानों का है, पियक्कड़ों का है, यह भाव की बात है, दिवानगी की बात है । बुद्धि की बात नहीं ।

ज्ञानी कौन ?

बुद्धि के निश्चय–अनिश्चय से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं । बुद्धि अच्छा सोचे या बुरा, अच्छा कर्म करे या बुरा । ज्ञान को इससे न लाभ है न हानि । यह ज्ञान ही ज्ञानी का स्वरूप है ।

ज्ञानी ज्ञान में ठहरा हुआ नहीं, ज्ञान ही है, ठहरा अन्य में जाता है । ज्ञानी स्वरूप ही है । ज्ञानी बोधमात्र है । जीवभाव, मन, बुद्धि, अहं, ममभाव ज्ञान का समाप्त हो जाता है । यह है, यह नहीं, यह सब भेद निश्चय बुद्धि का है । स्वरूप में पहुँचकर ऐसा भेद करने का न अवकाश है, न करण इन्द्रिय है। जैसे सुषुप्ति में कोई भेद भासता नहीं । यही काष्ठ मौनता है । फिर क्या सोचें, क्या देखें, क्या कहें, किससे कहें, किसके साथ बात करें ?

ज्ञानी सबकुछ जानते हुए भी नहीं जानता है, न वह मुर्दा है, न बेहोश, न सोया है, न जागा हुआ, किन्तु कुछ जानता भी नहीं । ज्ञानी ब्रह्मता के राज सिंहासन से नीचे नहीं उतरता । पदच्युत हो योगभ्रष्ट नहीं होता । मन, बुद्धि के साथ मिलकर ही वह जीव कहलाता है एवं देहादिकों में अहं–मम करता है । अन्यथा मन, बुद्धि के बिना वह काष्ठ मौन ही बना रहता है ।

''सब ब्रह्म ही है जगत् नहीं है ।'' यह सब मन का किया हुआ भेद है, बुद्धि का ही निर्णय है । हमें इस मन, बुद्धि के किए हुए भेद एवं निश्चय को आगे नहीं आने देना चाहिए, अर्थात् महत्व नहीं देना चाहिए । और यह बात भी मन ही कह रहा है कि मन, बुद्धि को आगे नहीं आने देना चाहिए । स्वरूप में कहना नहीं बनता । जगत् नहीं है बह्म ही है – ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' – यह भी मन ही कह रहा है । अतः अज्ञान में सब कुछ हो रहा है

स्वरूप में, आत्मा में, मुझ में मेरे द्वारा कुछ नहीं हो रहा है ऐसा निश्चय है तो ठीक है ।

ज्ञानी को मन, बुद्धि के द्वारा रचित जगत् प्रतीत अवश्य होता रहेगा, लेकिन वह स्वप्न काल के व्यवहार की तरह ही है । स्वप्न काल में सब व्यवहार बिल्कुल सत्य-से लगते हैं, परन्तु वास्तव में वे असत् हैं । इसी प्रकार यह जगत् अज्ञान निद्राकाल में सत्य-सा लगता है, वास्तव में यह असत है । फिर प्रतीत होता रहे हमें क्या ? ज्ञानी कभी किसी प्रकार का आग्रह नहीं करता कि ऐसा हो, ऐसा न हो । चाहे निकृष्टता दिखाई पड़े, चाहे उत्कृष्टता यह सब मन, बुद्धि के सीमा की ही बात है । ब्रह्मता इससे ऊपर है । जहाँ देखने जानने का विषय एवं देखने-जानने वाला अन्तःकरण चिदाभास ही नहीं है । इस प्रकार जो जीव के धर्म से मन, बुद्धि के कार्यों से अप्रभावित रहता है, वही ज्ञानी है ।

सोचिये ! क्या ज्ञानवानों की पत्नी नहीं होती थी ? सन्तान नहीं थी ? राज्य नहीं था ? अपराधी को दण्ड नहीं देते थे ? राज्य विस्तार नहीं करते थे ? प्रजापालन नहीं करते थे ? जब उनकी इतनी प्रवृत्ति होने पर भी उनका ब्रह्मज्ञान थोड़ा भी कलंकित हुआ या नष्ट हुआ ? समस्त व्यवहार अज्ञानी की तरह होते रहने पर भी वे राजर्षि, महर्षि, महात्मा बने रहे तब हमारा ब्रह्म ज्ञान भी थोड़ी-सी पारिवारिक प्रवृत्ति के द्वारा कैसे दूषित हो सकेगा ? कभी नहीं ।

जीवन मुक्ति तो तभी सिद्ध होगी, जब सम्यक् दृष्टि रहेगी, हर अवस्था के प्रकाशक बने रहेंगे । यदि यह सोचते रहे कि यह करना है, यह नहीं करना, यह बाधित है, यह विवर्त है, जगत् को ब्रह्म में लीन करना है, इन्द्रियों को विषयों से रोकना है तो फिर आप ज्ञानी नहीं, योगी ही हैं ।

आत्मा से भिन्न तो कुछ नहीं, फिर किसको त्यागा जावे एवं ग्रहण के लिए व्याकुल हुआ जावे । जिस तरह से है, आत्मा ही है । हमें यहाँ स्वप्न नगर एवं स्वप्न पुरुष को मिटाने के लिए शस्त्र धारण करने की जरूरत नहीं, न आग लगाने की जरूरत है । न स्वप्न नगर की आग बुझाने के लिए पानी लाने की जरूरत है । सिनेमा के पर्दे पर हुई घटना का कोई अस्तित्व ही नहीं है ।

अतः ज्ञानी वही है जो बुद्धि के निश्चय अनिश्चय में परिवर्तन देख वह कभी नहीं चेष्टा करता कि यह हो और यह न हो । यदि कर्म का फल भी अच्छा, बुरा कभी किसी को मिलता है तो वह भी कर्म कर्ता अभिमानी मन, बुद्धि, जीव को ही भोक्ता जानता है । ज्ञानी को निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख प्रभावित नहीं कर पाते । आत्मा के अतिरिक्त ज्ञानी अन्य किसी सत्ता को जब मानता ही नहीं, तब किसी कार्य के होने में कोई हर्ष-शोक, आपत्ति नहीं होती । यही सम्यक् दृष्टि निरहंकार अवस्था है ।

पण्डिताः समदर्शिनः । - गीता ५/१८

जिस प्रकार नाना बर्तन बनने पर भी कुम्हार सबको एक मिट्टी रूप ही देखता है, अन्य नहीं । स्वर्णकार नाना अलंकार को एक स्वर्ण रूप ही जानता है । इसी प्रकार ज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक दृश्य के सामने आ जाने पर उसे हटाने, बदलने की कर्तव्यता नहीं समझता, क्योंकि वह उस अवस्था में उपादान कारण, मूल वस्तु आत्मा को ही ज्यों का त्यों देखता है । मूल वस्तु पर जिसकी दृष्टि हो गई, वह प्रत्येक घटना में सम (साक्षी) बना रहता है । और यह मूल दृष्टि भी एक बार ही होगी । बार-बार दोहराने की रटने की कोई चीज नहीं है । जैसे पिता, माता, पत्नी, पति, पुत्र एक बार जान लेने के बाद जप करने की जरूरत नहीं । ज्ञान एकरस है, वह अदृढ़ से दृढ़ करना नहीं पड़ता ।

यदि मौन निष्चेष्टा ही ज्ञानी के लक्षण हैं तो फिर उनके द्वारा जीवन निर्वाह के कर्म कैसे हो सकेंगे ? इस प्रकार की शंका होने पर उनके लिए यह समाधान है कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जितनी भी उपाधियाँ है, ये सब देह पर्यन्त अपनी-अपनी पूर्व प्रकृति, वासना अनुसार काम अवश्य करेंगी । परन्तु आत्मा जो इनका प्रकाशक है और जिसकी अध्यक्षता में यह सब काम हो रहे हैं, वह इन समस्त देह संघात् की क्रियाओं से असंग एवं निर्विकार ही रहता है । अज्ञानी प्रकृति की क्रिया में ''मैं कर्ता हूँ'' का मिथ्या अहंकार कर बन्धन को प्राप्त होता है । ज्ञानी देह संघात् की क्रिया के प्रति साक्षी बना रहता है एवं जानता है कि गुण ही गुण में, इन्द्रियाँ ही अपने रूप, रसादि विषय में बरत रही है, मैं कुछ भी नहीं करता हूँ । ऐसा स्वरूप

ज्ञान होने के कारण उसका जीवन बन्धन रूप नहीं होता । श्रीकृष्ण सद्गुरु ने शिष्य अर्जुन को यही निष्क्रियता अर्थात् अकर्ताभाव का ज्ञान देकर कहा :-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्यच । – गीता ८/७

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन । – गीता ८/२७

हे अर्जुन ! तू सब समय निरन्तर साक्षी भाव में स्थित होता हुआ अपने को अकर्ता जान कर युद्ध कर । इस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करने से, मन, बुद्धि मुझ में अर्पण करने से तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।

‘‘**योगः कर्मसु कौशलम्**’’ इस मुक्तिमंत्र को समझकर अर्जुन ने महाभारत के युद्ध में शत्रुओं की हत्या होते एवं उन्हें परास्त होते देखा । पुनः उसके द्वारा राज्य संचालन भी हुआ । इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान एवं क्रिया का विरोध नहीं । ज्ञान भ्रान्ति-कर्तृत्वाभिमान का विरोधी है । सद्गुरु किसी को विधि-निषेध में नहीं लगाते वे तो यथार्थ तत्त्व उपदेश कर कह देते हैं, अब तुम स्वधर्म का पालन करो । शिष्य के बुद्धि से अज्ञान हटाना ही सद्गुरु का कर्तव्य है । अज्ञानी अपने को देह एवं कर्ता मानता है तथा परमात्मा को अन्य एवं फलप्रदाता मानता है ।

जो उपाधि मिली है, वह क्रिया तो होगी ही, वैसी क्रिया किए बिना वह रहेगा नहीं । परन्तु उस स्वाभाविक क्रिया में यह अपने को कैसे जानता है और कैसे रहता है, यही ज्ञान करना है । यही कर्म में कुशलता है –

‘**योगः कर्मसु कौशलम्**’ –गीता २/५०

जब उपाधि की कोई भी क्रिया उस साक्षी आत्मा को स्पर्श ही नहीं करती है, तो फिर कर्म करने में डर कैसा ? उसे पाप-पुण्य कुछ छू नहीं सकता । यह सब स्वप्नमात्र है और तुम इस स्वप्न में होनेवाले युद्ध के साक्षी मात्र हो ।

कर्म के कर्ता ज्ञानी अज्ञानी दोनों समान हैं । अन्तर है केवल कर्ता भाव व साक्षी भाव का । अज्ञानी अपने को कर्म का कर्ता मानता है । ज्ञानी अपने को उस कर्म का साक्षी जानता है । परन्तु मूढ़ पुरुष प्रथम देह, इन्द्रिय,

मन, बुद्धि आदि अनात्मा में अहम् बुद्धि करता है, परन्तु ज्ञानी आत्मा में इन देह इन्द्रिय मनादि का अभाव देखता है ।

ज्ञानी ऐसा भी नहीं सोचते हैं कि मैं तो प्रकाशक हूँ और यह सब देह संघात् मुझसे प्रकाशित होते हैं । इस प्रकार चिन्तन में भी तो द्वैत स्पष्ट ही बना रहता है । क्या आत्मा की सत्ता से कुछ सत्तावान् होनेवाली कोई पृथक् वस्तु है ? यह सब कहने की बात है कि उसकी सत्ता से सब क्रिया होती है ? अखण्ड, अद्वय आत्मा से अन्य मानना भी भ्रान्ति है एवं आत्मा अनात्मा को सत्ता प्रदान करता है, यह भी भ्रान्ति है । क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं, तो आत्मा किसी अन्य का संचालन कैसे कर सकेगा ?

जब 'मैं' और ''यह सब ब्रह्म है'' इस प्रकार की सम्यक् दृष्टि जिस ज्ञानी को जाग्रत हो चुकी है, तब वह, यह भी नहीं कहेगा कि मैं लोगों के हित के लिए करता हूँ । फिर न तो लोक है, न मैं है, न हित अहित ही है ।

गुणा गुणेषु वर्तन्त ।

ये इन्द्रियाँ अपने-अपने गुणों में बरत रही हैं । आँख रूप को, कान शब्द को, जिह्वा रस को ग्रहण करती है, अन्य को नहीं । इन्द्रिय सत्त्वगुण का कार्य है एवं शब्द, रूप, रस आदि विषय तमोगुणों का कार्य हैं । अतः गुण ही अपने अपने गुणों में बरत रहे हैं । क्योंकि वह उन-उन गुणों का स्वभाव है, मेरा इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु मैं इनका प्रकाशक इनके धर्मों से असंग हूँ, ऐसा जानना ही ज्ञान है । इन्द्रियों का स्वभाव रोका नहीं जा सकता । इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रकृति, स्वभावानुसार काम करती रहती हैं । शरीर रहते इन इन्द्रियों के धर्मों को रोका नहीं जा सकता । किन्तु अज्ञानी इस प्रकृति के द्वारा हुए कार्यों में कर्ताभाव का अभिमान कर बन्धन को प्राप्त होता है । परन्तु ज्ञानी में अन्तर यही है कि वह इनकी चेष्टाओं को प्राकृतिक मानता है । अपने स्वरूप में आरोपित नहीं करता । शरीर रहते ये क्रियाएँ इन्द्रयों के द्वारा होती रहेगी । मन, बुद्धि इन्हें जाननेवाले भी प्राकृतिक हैं । इसीलिए ज्ञानी इनसे उदासीन रहता है । जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि की प्राकृतिक

प्रकृति का निग्रह करना चाहता है, वह मूढ़ है । क्योंकि इनका निग्रह तो विद्वान् भी नहीं कर सकता । ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर इसी बात में है कि अज्ञानी इनको अपना धर्म मानकर राग-द्वेष करता है, ज्ञानी इनको प्राकृतिक स्वभाव जानकर इनका निग्रह नहीं करता, न इनके साथ अपना सम्बन्ध मानता है और यह भी जानता है कि न ये निग्रह होनेवाले हैं । यह सब तो इन्द्रियों का स्वभाव है, उपाधियों का धर्म है । अस्तु मुमुक्षु को इनमें अहं बुद्धि कर नहीं फंसना चाहिए ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।। – गीता ३/३३

पाप-पुण्य दोनों मन की कल्पना है । वास्तव में यह दोनों नहीं है । न तो पुण्य से सुखी जीवन के अतिरिक्त कोई अन्य अदृश्य अन्तरिक्ष में स्थित लोक मिलता है, न पाप कर्म में अत्यन्त दुःखी जीवन के अतिरिक्त कोई अन्य भौगोलिक स्थान नरक प्राप्त होता है । यह तो परोक्ष है । मानने से ही है । और जैसा कि कोई मानता है वह वैसा ही अनुभव भी करता है । फांसी सजा सुना देने पर जज को पाप नहीं होता है और न जल्लाद को, जो फांसी का फंदा बांध लटकाता है । यहाँ भी ऐसा ही है । पाप-पुण्य है नहीं, केवल कहने के लिए लोगों को अशुभ-कर्म से हटा शुभ कर्मो की ओर लगाने हेतु और दुःखों से बचा सुखानुभूति कराने हेतु प्रलोभन एवं भयानक वचन है ।

अतः इन इन्द्रियों में अपने-अपने विषयों के प्रति राग बने ही रहते हैं । परन्तु उनके धर्मों के प्रति तुम यह न कहो कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं करता हूँ अथवा मैं ऐसा ही देखूँ, ऐसा न देखूँ इत्यादि । ऐसा विचार विमर्श न करें । जिस इन्द्रिय का जो स्वभाव आदि से बना है, वह करेगी, उसी काम के लिए उसे बनाया है, उन्हें करने दो । उनमें अच्छे, बुरे की कल्पना मत करो । उन क्रियाओं को उन इन्द्रियों तक ही रहने दो, किन्तु उन इन्द्रियों के धर्मों में अध्यास मत करो कि मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने किया इत्यादि । उनके धर्मों को तुम काट भी नहीं सकते, कि न देखे, न सुने । उन्हें करने दो उनका काम, केवल तुम उनमें अहंकार मत करो, राग-द्वेष मत करो ।

अधिष्ठान ईश्वर से अध्यस्त जीव भिन्न नहीं है । क्योंकि कारण से कार्य कभी भिन्न सत्तावाला नहीं हो सकता । जैसे स्वर्ण से अलंकार, मिट्टी से घड़ा, सूत से कपड़ा, लौह से शस्त्र, कभी भिन्न हो नहीं सकते । इसी प्रकार ईश्वर से जीव कभी अलग नहीं हो सकता । जीव जो आज अपने को कार्य रूप से मान रहा है, यह स्वयं ही कारण रूप भी है । भले ही घड़ा रूप मिट्टी प्रतीत हो, किन्तु वह मिट्टी ही है । इसी प्रकार स्वयं इश्वर ही जीव रूप प्रतीत हो रहा है । जब स्वयं ही कार्य एवं स्वयं ही कारण भी है तो कार्य कारण भाव न रहा, क्योंकि वह मिथ्या है, उसकी केवल कल्पना ही है । तब फिर बिना द्वैत के, बिना अन्य के कोई भी शुभ-अशुभ कर्म ही नहीं हुआ । तो पुण्य-पाप भी कैसे बनेगा एवं पुण्य-पाप की कल्पना के बिना स्वर्ग-नरक लोक भी नहीं और न जन्म-मृत्यु ही है ।

''मैं इनका साक्षी हूँ'', ''ये मिथ्या हैं'' अथवा ''मैं आत्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ'' ज्ञानी के लिए यह मैं वस्तू का द्वैत ही नहीं रहता है । सब एक ही आत्मा के नाना नाम, रूप, भिन्न-भिन्न भासने पर भी एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । अतः हम ही कार्य हो रहे हैं और हम ही कारण । वास्तव में यह कार्य-कारण का भेद ही नहीं सर्वत्र सर्वाकार एक अधिष्ठान मिट्टी, स्वर्ण, लौह, सूत की तरह तुम आत्मा ही हो, किन्तु इस परम सत्य को शुद्ध मन वाले ही समझ सकते हैं, मलिन हृदयवाले नहीं ।

यदि कोई व्यक्ति झूठ को जान रहा है, बेईमानी को जान रहा है तो यह झूठ, बेईमानी की परख उसी को हो सकेगी जिसने सत्य व इमानदारी को पहले कहीं देखा जाना होगा । अन्यथा वह झूठ को, बेईमानी को भी नहीं कह सकता था । मलिनता को बताने वाला पहले शुद्धता को कहीं देख चुका है अन्यथा यह मलिन है ऐसा भी प्रमाणित नहीं कर सकेगा । फिर जो एक की दृष्टि में मलिन है, वह अन्य की दृष्टि में शुद्ध भी होता है । जैसे मल व वमन कर्ता की दृष्टि में अशुद्ध मलिन है त्याज्य है, वही कुत्ते, सुअर की दृष्टि में भोजन होने से प्रसन्नता और सौभाग्य का कारण है । पर पुरुष की दृष्टि का पड़ना वैश्या के लिए जो सौभाग्य है, वही एक सुशील चरित्रवान् स्त्री के लिए

दुर्भाग्य पूर्ण घटना है । अपने भाई की लड़की या लड़के से विवाह करना एक जाति में बहुत खुशी की घटना है तो अन्य जाति में उसे पाप रूप मानते हैं । अतः न पाप है, न पुण्य, न स्वर्ग है न नरक, इन सब बातों की हमने ही कल्पना कर पुराण गढ़ लिए हैं ।

यहाँ कुछ भी बुरा नहीं है । आपके भावों में आप के सोचने, देखने के दृष्टिकोण में ही भेद है । कोई पदार्थ न शुद्ध है न मलिन । आपके भाव एवं उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही वह वस्तु हेय-उपादेय, ग्रहण-त्याग, पाप-पुण्य, शुभा-शुभ रूप होती है । जैसे छींकना, बिल्ली का आपके मार्ग से सम्मुख सड़क से पार हो जाना, अंधा सम्मुख आना या मुर्दा, काणा, पनिहारी का आ जाना इत्यादि में अपने अपने संस्कार मान्यतानुसार शुभ-अशुभ की कल्पना कर लेते हैं । न मानने वाले निरंजन, नास्तिक एवं ज्ञानी को कुछ नहीं होता । मानी मान्यता को छोड़ दें तो मन का भूत दूर हो जाने पर कुछ नहीं है ।

जब कारण-कार्य में अभिन्नता है यह सिद्धांत मालूम हो जावे तो अच्छे-बुरे पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग, बन्ध-मोक्ष की भी भ्रान्ति छूट जावे । वास्तव में किंचित् भी भेद नहीं है । एक ही आत्मा है ।

यह जीव जो अब कार्य रूप हो अपने को पाप-पुण्य का कर्ता मान रहा है क्या यह कार्य रूप जीव अपने कारण रूप ईश्पर से भिन्न है या अभिन्न है ? भिन्न है ईश्वर तो जीव उसका कार्य नहीं हो सकता है और यदि यह कार्य जीव ईश्वर कारण से भिन्न नहीं है तो फिर अभिन्न जीव, ईश्वर से भिन्न नहीं बल्कि ईश्वर ही है । घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं है, जब घड़ा मिट्टी ही है । क्योंकि कार्य हमेशा कारण से अनुस्यूत होता है ।

यदि कार्य जीव बिगड़ता, पापी, मलिन, बद्ध चंचल प्रतीत हो रहा है तो इससे यही बात स्पष्ट हुई की कारण अर्थात् ईश्वर ही बिगड़ा, पापी, मलिन, बद्ध एवं चंचल हुआ । यदि ईश्वर कारण में यह सब कोई एक विकार भी नहीं तो कार्य रूप जीव में भी कोई विकार नहीं हो सकता । विकार की भ्रान्ति हो रही है रस्सी में सर्प भ्रान्ति की तरह ।

जब कारण कार्य अभिन्न है तब यह कब बिगड़ा, या कब नरक–स्वर्ग गया, कब उसे बन्धन लगा ? यह सब भ्रान्ति बिना एकत्व ज्ञान के दूर नहीं होती । बिना वेदान्त ज्ञान जीव भ्रान्ति के कारण भ्रमित ही होता है ।

माने गये अशुभ–शुभ कर्मों के फल स्वरूप प्राप्त स्वर्ग–नरक–देवयान–पितृयान पाप–पुण्य कल्पना मात्र है ।

जब कोई ब्रह्म के अतिरिक्त जीव नाम की सृष्टि उत्पन्न ही नहीं हुई, ब्रह्म ही एक मात्र सर्वत्र परिपूर्ण परमानन्द स्वरूप है, तब किस पदार्थ को पाने हेतु, वह वासना कर जीव बना एवं पाने हेतु कर्म करेगा ? जब कर्म नहीं, कर्ता नहीं, तो फल भोक्ता भी नहीं । तब स्वर्ग–नरक, पुण्य–पाप एवं देव–पितृयान मार्ग भी नहीं है । न शुभ कर्म है न अशुभ । यह सब भेद द्वैत के बिना सम्भव नहीं हो सकता एवं यहाँ द्वैत देखना तो भय रूप बताया है ।

द्वितीयात् द्वै भयं भवति

ज्ञान दृष्टि से इन मार्गों का अच्छे–बुरे कर्मों का पुण्य पाप का, नरक–स्वर्ग का देवयान मार्ग एवं पितृयान मार्ग का कोई भेद नहीं है । जिस–जिस अज्ञानी, कर्मी, भक्त तथा योगी की धारणा है उस उसकी कल्पनानुसार एक आत्मा ही उस–उस रूप में उस–उस लोक एवं मार्ग रूप में प्रतिभासित होता है । अज्ञानी के लिए जाग्रत जगत् सत्य है । आत्म स्वरूप में जाग्रत हुए ज्ञानी को स्पप्नवत सब जगत् झूठा ही दृष्टिगोचर होता है ।

जो लोग दुःख रूप कर्म को करते हैं, उनका मन वहाँ से हटाने के लिए उन कर्मों का फल भयानक नरक यातना महान दुःख बताया जाता है । ताकि वे उधर से मुड़ अच्छे कर्मों को करने में श्रद्धा करें । पितृयान मार्ग से हट देवयान मार्ग में लगें । ताकि उन्हें अधिक सुख मिले, किन्तु यह स्वर्ग व देवयान मार्ग से पहुँचा ब्रह्मलोक का सुख भी ब्रह्मानंद के सम्मुख अनित्य है । वह ब्रह्मानन्द जो इस जीव का नित्य प्राप्त स्वरूप ही है । जहाँ पहुँचकर वापस नहीं लौटना पड़ता । देवयान मार्ग या पितृयान मार्ग, मार्ग ही तो है एवं इन मार्गों से की गई यात्रा जिस मंजिल तक पहुँचाती है, वह लोक भी परिच्छिन्न, एकदेशीय होने से नाशवान् ही है । साधन साध्य कोई भी परिच्छिन्न पदार्थ

नित्य नहीं होगा एवं जो नित्य नहीं वह परमानन्द स्वरूप भी नहीं हो सकता है ।

ब्रह्म ही एकमात्र अखण्ड है एवं सबका अपना आत्म स्वरूप है अर्थात् स्वयं ही है । ब्रह्मवित् का अर्थ ''ब्रह्म को जानता है'' ऐसा नहीं समझे । क्योंकि अद्वितिय ब्रह्म सत्ता में कोई अन्य ब्रह्म को जाननेवाला उत्पन्न हुआ हो तो जाने । यहाँ तो एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता को स्वीकार करना पाप रूप बताया है ।

''**एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म**'', ''**नेह नानास्ति किंचन्**'', ''**द्वितीयात् द्वै भयं भवति**'' इत्यादि ।

पहले जब हम अपने यथार्थ स्वरूप को न जान अन्य कल्पित जगत् पदार्थों में फँसे हुए थे, तब कहा था अनित्य दुःख रूप से हटकर ब्रह्म को जानो । लेकिन ब्रह्म कोई दृश्य पदार्थ की तरह ग्राह्य वस्तु तो है नहीं, उसे कौन जानेगा ? वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है । वह ज्ञान का विषय जड़ पदार्थ तो है ही नहीं । तब उसे कौन ''यह रूप, इदम्'' कर के जान सकेगा ? यहाँ जानने का अर्थ यह मैं ही हूँ इस प्रकार जानना ही ब्रह्म को जानना है एवं ऐसा जानने वाला ज्ञानी ब्रह्म स्वरूप ही होता है । अतः उसका जानना यही है कि फिर उसके लिए कुछ और जानने को बाकि न रहे ''वेद्यता'' न रहे । दूसरे का जानना ही समाप्त हो जावें । क्योंकि दूसरा कुछ है ही नहीं । जैसे स्वप्न को जानने वाला साक्षी ही हो जाता है क्योंकि साक्षी ही स्वप्न रूप था अन्य नहीं । बस यहाँ ब्रह्म का जानना याने बोध मात्र हो जाता है और कुछ जानने को बाकी अब उसके लिए नहीं रहा, जो हमारा ही नित्य प्राप्त स्वरूप है ।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण

स्थित प्रज्ञ वही है, जो किसी प्रकार क्रिया नहीं करती, न अन्य मानती है, न हर्ष शोक मानती है । न यह चाहती है कि यह हो जाय, यह न हो ।

जैसे शीसे के सम्मुख जैसा भी दृश्य आ जावे वह उसे बिना राग-द्वेष किये दिखा देता है । इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ ज्ञानी जो विषय सामने आये अथवा न आये, अपना उनसे कोई सम्बन्ध नहीं मानता है । ज्ञानी इसी कारण से न द्वैत देखता है, न राग-द्वेष करता है । ज्ञानी, सदा निर्लिप्त रहता है । वही स्थितप्रज्ञ है ।

जब ब्रह्म स्थिति हो गई तब अन्य न रहा, ब्रह्म ही हो गया । यही ब्रह्म का सर्वदा देखना है । ब्रह्म दृश्यवत् दिखाई नहीं देगा । ''जो सब में ब्रह्म को देखता है वही पंडित है'' ।

''पण्डिताः समदर्शिनः''

जैसे मिट्टी को देखने वाला घड़े को, स्वर्ण को देखने वाला अलंकार को एवं ब्रह्म को देखने वाला जीव, जगत् विषय को नहीं देखता । जिस तत्त्वदर्शी की कारण दृष्टि होती है वह कार्य में सत्य बुद्धि नहीं करता है ।

''यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः''

शुभ प्रारब्ध होने पर यह नहीं चाहता कि यह बना रहे एवं अशुभ प्रारब्ध आने पर भी यह नहीं चाहता कि यह न रहे । न वह शुभ में हर्ष को प्राप्त होता है न अशुभ से शोक को प्राप्त होता है । ऐसा मुनि समाधिस्त है, समाधि लगाता नहीं ।

उसे दुःख-सुख का अनुभव होता है किन्तु वह उन्हें अपना नहीं जानता । उसकी उनमें सत्यत्व बुद्धि नहीं रहती । स्वरूप सदा प्राप्त है उसमें देरी या दूरी नहीं है । हम सब वही हैं, लेकिन हम उसे अपना स्वरूप नहीं मान रहे हैं । प्रत्युत हम उन्हें मान रहे हैं, जिसमें हमारे सम्मुख घटना घट रही है- वह देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि को अपना होना मानने की महान् भूल कर रहे है ।

बुद्धि के हिलने का कारण उसमें पड़ने वाला प्रतिबिंब जीव भी हिलता प्रतित हो रहा है । अर्थात् बुद्धि की चंचलता को हम अपनी चंचलता मान रहे हैं । आत्मा अचल सत्ता का प्रतिबिंब जीव भी अचल है । जैसे जल की चंचलता का अध्यास जल में पड़ने वाला सूर्य या चंद्रमा में हो जाता है । आत्मा सदा अचल है । आत्मा को चंचल मानना ही आत्म साक्षात् कार में विघ्न है । यही अज्ञान है ।

हम लोग वृत्ति की स्थिति बनाये रखने में लगे रहते हैं । प्रथम तो चंचलता का नाम ही वृत्ति है, फिर स्वरूप में स्थिति तो है ही । कोई स्थिति बनानी नहीं है । जो भी स्थिति बनेगी वह दृश्य ही होगी, चंचल ही होगी । इस प्रकार वृत्ति को स्थित बनाये रखने की चिन्ता में चंचलता ही अधिक हो जाती है । स्वरूप का अनुभव नहीं होता । चंचलता की भ्रान्ति निकल जावे तो स्वरूप सदा शान्त है । न चंचल हुआ था न उसे शान्त करना है । कल्पनाएँ तो ज्ञानी को भी होती है, लेकिन वह इनसे विचलित नहीं होता । इनसे काम तो ले लेता है, लेकिन अपने को इनसे विक्षिप्त या विकारी नहीं मानता । अज्ञानी जैसे स्वप्न में पर स्त्री, पर पुरुष से स्पर्श हो जावे, गो, ब्राह्मण हत्या हो जावे, तो वह अपने को दोषी नहीं मानता, क्योंकि वहाँ अन्य कोई नहीं है । इसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में जाग्रत में भी आप ब्रह्म ही हैं अन्य नहीं है । तो यहाँ जो भी क्रियाएं हो जावे उन्हें स्वप्नवत् मिथ्या ही जानता है ।

“जगत् सब सपना ।”

ध्यान उस प्रकाश स्वरूप पर ले जाना है, जिसका यह प्रकाश है, जीसके प्रकाश से प्रकाशित होकर यह अन्तःकरण काम करता है और अनेकों प्रकार से वृत्तीआँ बनती चली जाती है । अर्थात् चेतन के प्रकाश से अन्तःकरण

प्रकाशित हुआ और तब वह अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार रूप से कुछ जानने, मानने, सोचने लगा । अन्तःकरण से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से शरीर और बाहर का संसार भी भासने लगता है । समस्त क्रियाएँ होने लगती हैं । और अज्ञानतावश इन-इन क्रियाओं में अध्यास कर यह चित्त अपने आप में अहंकार करने लगता कि ''मैं ऐसा हूँ'', ''मैं ऐसा नहीं हूँ ।''

खाली चुपचाप बैठे रहने से भी कुछ नहीं होता । उससे भी मन उपराम हो जाता है, थक जाता है । अज्ञानी का यही हाल है । लेकिन ज्ञानी घोर व्यवहार में भी थकान मेहसूस नहीं करता । इस ज्ञान को पाने के लिए कोई साधन करने की जरूरत नहीं । आँखे, नाक, कान छिद्र बन्द करने की जरूरत नहीं है । हम किसी इन्द्रिय धर्म को क्यों रोकें ? वे अनादि अपनी प्रकृति अनुसार अपने-अपने विषय में रत हैं । आँख रूप छोड़ अन्यत्र नहीं जाती । कान शब्द छोड़ अन्यत्र नहीं जाते । ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों के धर्मों को या अन्तःकरण की वृत्तियों को रोकना नहीं चाहता । इन इन्द्रियों को इनके धर्मों को नष्ट करने की, दबाने की जरूरत नहीं, ये इन्द्रियाँ भी तो ब्रह्म रूप हैं । इनके विषय भी तो ब्रह्म रूप हैं । आँख एवं रूप में कोई भेद नहीं, इसी प्रकार आत्मा एवं विषय में भी कोई अन्तर नहीं है, वे भी ब्रह्म है । जैसे रूप नेत्र है और नेत्र रूप है, उसी प्रकार विषय आत्मा है, आत्मा विषय है । ब्रह्म ही चित रूप हुआ है वह ही विषय रूप हुआ है, वही भोक्ता रूप हुआ है ।

'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' – गीता : १०/२२

समस्त विषयों को ग्रहण करने वाला मन मैं हुं एवं पाँचों भूतों से उत्पन्न शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध भी मैं ही हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

अहं आदिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च – गीता : १०/२०

यदि साधक अपने को बीच से निकालले कि 'मैं कर्ता हूँ' तो यहाँ एक ब्रह्म तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । **'नेह नानास्ति किञ्चन'** यह जान यह जीव तत्काल शोक, मोह, चिन्ता, भय एवं दुःख से पार हो सकता है । पार तो है ही केवल प्रकृति के धर्म को, पर के धर्म को अपना मानना ही छोड़ना है । वही मुक्ति है ।

जब तक हम ब्रह्म को समझते रहेंगे, तब तक जीव ही रहेंगे, ब्रह्म नहीं हो सकेंगे । मोहन सोहन को समझने से सोहन तो नहीं हो सकेगा । जीव भी ब्रह्म को जानने से ब्रह्म नहीं हो सकेगा । "**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति**" इस कथन में भी द्वैत बना ही रहेगा ।

Supreme Realization is that where there is no duality.

सबसे उत्तम यही अनुभव है जहाँ अद्वैत है, अर्थात् जहाँ द्वैत नहीं है । समझना, जानना तो दूसरे के साथ होता है । अपने आप का कभी समझना नहीं होता है । जब तक ब्रह्म को अपने से भिन्न दूसरा मान रखा है, तब तक वह समझने में नहीं आ सकेगा और न जीव भाव ही छूट सकेगा ।

कर्ण कुन्ती पुत्र जानने मात्र से तभी हो सकेगा, जब वह पहले से ही कुन्ती पुत्र होगा । इसी प्रकार ब्रह्म को जानने से जीव तभी ब्रह्म हो सकेगा, जब वह जीव पूर्व से ही ब्रह्म होगा ।

जीवो ब्रह्मैव ना परः जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।

इसीलिए ब्रह्म से जीव को अन्य मानने वाले बारम्बार मृत्यु से मृत्यु को एवं दुःखों से महादुखों को प्राप्त होते रहते हैं, ऐसी वेद भगवान की आज्ञा है । द्वैत भाव रखनेवाला जन्म-मरण के भय से कभी नहीं छूट सकेगा ।

यदेवेह तद मुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।। २/१० - कठ. उप.

जो इस देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, संघात् रुप लोक में भास रहा है वही ब्रह्म तत्त्व अन्यत्र भी है तथा जो अन्यत्र है वही इस देह संघात् में ओतप्रोत रुप से विद्यमान है अर्थात् जो परमात्मा इस देह में सत्, चित, आनन्द रूप से विद्यमान है वही परमात्मा देह संघात् से बाहर अस्ति, भाति, प्रिय रुप से विद्यमान है और जो ब्रह्म व्यापक ब्रह्माण्ड में अस्ति, भाति, प्रिय रुप से फैला हुआ है वही ब्रह्म इस देह संघात् में सच्चिदानन्द रुप से विद्यमान है । ऐसा होने पर भी जो मनुष्य इस अभेद तत्त्व में नानात्त्व देखता है कि वह और है, मैं और हुँ वह भेददर्शी बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है । वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ।

दम्भी सद्गुरु नहीं

कान फूंका गुरु हद का, बेहद का गुरु और ।
बेहद को गुरु जब मिले, लगे ठिकाना ठौर ।

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध ।
हद बेहद दोउ तजे, ताक मता अगाध ।

गुरु के वेष में अनेक ठग होते हैं, अतः ज्ञानी गुरु को ही स्वीकार करना चाहिए । अपने को धोखे में मत फंसाओ ।

ज्ञान गुरु को कीजिए, बहुतक गुरु लबार ।
अपने–अपने लोभ से, ठौर–ठौर बटमार ।।

गुरु कीजिए जानकर, पानी पीजिए छान ।
बिना विचारे जो करे, पड़े चौरासी खान ।।

कितने ही गुरु आत्म तत्त्व की बात पर ध्यान न देकर केवल नाम जप को ही निरन्तर करने का आदेश अपने शिष्यों को देते हैं एवं मरने के बाद मोक्ष दिलाने का झूठा विश्वाँस दिलाते हैं । कितने गुरु चमत्कार, सिद्धि आदि का जादूगरों की तरह प्रदर्शन कर भोले जीवों को सत्य मार्ग से भटका देते हैं । नाशवान् धन, पुत्र, पद, प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए मिथ्या मंत्र, साधन, डोरा, ताबीज, अनुष्ठान करा उनको गुमराह किए सदा शोषण किया करते हैं ।

जो गुरु स्वयं तृप्त नहीं हुआ है वह शरणागत मुमुक्षुओं को कैसे तृप्त कर सकेगा ? जो गुरु स्वयं माया में फंसे हैं वह अपने शरणागतों को जन्म-मरण अविद्या ग्रन्थि से कैसे मुक्त करा सकेंगे ?

जो दम्भी गुरु सद्गुरु महिमा की आड़ में कहते हैं - अपनी बुद्धि की शरण छोड़ दो और हमारी बात मानो, हमारे प्रत्येक कार्य, संकेत को दिव्य जानो । यदि गुरु के चरित्र कें काम दिखाई पड़े तो उसे श्रीकृष्ण रूप समझो । क्रोध है तो परशुराम या नृसिंह समझो, लोभ है तो वामन रूप जानो एवं मोह या मर्यादा है तो श्रीराम रूप जानो, किन्तु उसे किसी अवस्था में मनुष्य रूप मत जानो । और वे कहते हैं -

गुरु मानुष करि जानते, ते नर कहिये अंध ।
महादुःखी संसार में, मर के चौरासी बन्ध ।।

गुरु के कुकर्मों को देख अश्रद्धा करनेवाला शिष्य नरक जाता है । अपने गुरु के आदेश संकेत में 'क्यों', परन्तु, लेकिन, मगर, फिर शब्दों को लगा कर आज्ञा पालन में देरी करना महापाप है । गुरु दिन में तारे रात को सूरज बतावे तो भी हाँ में हाँ तुरन्त बिना देखे विचारे कहना ही शिष्य के लिए कल्याणकारी है । पतिव्रता स्त्री का पति के प्रति या पति का पत्नी के प्रति प्रेम एवं विरह की तरह अपने गुरु के प्रति शिष्य का होना चाहिए एवं पतिव्रता, सदाचारी गृहस्थ जैसे एक पति, एक पत्नी निष्ठ होते हैं, दूसरे के सम्बन्ध जोड़ना पाप रूप मानते हैं, उसी प्रकार एक गुरु चाहे वह मूर्ख है, शील गुण से रहित हो, उसे छोड़ किसी श्रेष्ठ गुरु के पास नहीं जाना चाहिए । इसी प्रकार उत्तम शिष्य माना जाता है ।

शापत ताड़त पुरुष कहंता । विप्र पूज्य अस गावहिं संता ।।
पूजिय विप्र शील गुण हीना । शूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीणा ।।

-अरण्यकांड, ३३/१

गुरु चाहे पागल, मूक, कुष्टी, लम्पट, चोर ही क्यों न हो जावे, वह देवों का भी देव है ।

उपर्युक्त गुरु की महिमा एक धर्मान्धता है, साधक को चाहिए सच्चे तत्त्वदर्शी देहाभिमान से रहित आत्मवान् गुरु की खोज कर उसकी सेवा

शरणागति द्वारा अपना कल्याण करे एवं मिथ्या लम्पट, दंभी गुरु के निकट भूलकर भी न जावे । कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, गुरु नहीं हो सकता । विषयासक्त ही गुरु हो जावेगा तो शिष्य भी भवसागर में बारम्बार गोते खाता रहेगा ।

कुछ लोग बाहरी त्याग, वैराग्य सदाचार में पूरे रहते हैं, किन्तु धन, मठ, शिष्य, मंहती के जाल में फंसे रहते हैं ।

जो स्वयं विकारों से दूर एवं शिष्यों के मन के विकार को दूर करनेवाले होते हैं, उन गुरुओं की शरण में जाओ । सच्चा हीरा वही जो घन की चोट खाकर भी न टूटे, इसी प्रकार सच्चा मार्ग वही जो तर्कों से न कटे । गुरुओं द्वारा शिष्यों को उनके चेतन स्वरूप का परिचय सोऽहम् रूप न कराकर शब्द, ध्यान, श्वाँस, नाम रूप की उपासना में फंसा रखना ऐसा ही दुष्कर्म है, जैसे कोई अपने बालक को जहर देकर मारे ।

किसी ने कहा तुम्हारे कान को काट कर कौवा उड़ा जा रहा है, सुननेवाला पागल व्यक्ति अपने कान न सम्भाल काग को खोजने दशों दिशाओं में दौड़ता है । इसी प्रकार अपना स्वरूप लक्ष्य अपने से भिन्न मान, किसी कल्पित अज्ञात् अवस्तु को इष्ट मान, उसकी उपासना करता है । जो न प्रत्यक्ष है, न व्यावहारिक, ऐसा उपासक ही नास्तिक है । जो यह मानता है कि मेरा इष्ट मुझसे पृथक् है एवं साधना द्वारा प्राप्त हो सकेगा, वह धोखे में है, गुमराह हुआ है । जो स्वयं सिद्ध आत्मा को देह, प्राण, इन्द्रिय एवं मन बुद्धि के साधनों, संयमों द्वारा जानना, पाना चाहता है, वह भ्रमित है, उसे सद्गुरु की प्राप्ति एवं यथार्थ स्वरूप बोध नहीं हुआ है । जो कृत्रिम, ज्ञेय, जड़, परिच्छिन्न को इष्ट मानते हैं वे नास्तिक एवं मंद बुद्धि से मूढ़ पुरुष हैं । जो जीव को महान्, पापी, अल्पज्ञ, असमर्थ, प्रतिबिम्ब बताते हैं, फिर वे किसको उपदेश कर रहे हैं, सदाचार, अहिंसा, सत्यादि सद्गुणों का ?

यह जीव ही सबका ज्ञाता, द्रष्टा, प्रकाशक है इससे महान् पवित्र, सर्वज्ञ, साक्षी कोई अन्य ब्रह्म नहीं है । यह आत्मा ही जीव, ब्रह्म, ईश्वर, माया जगत् का साक्षी है । सबके विज्ञाता आत्मा को अन्य आत्मा प्रकाशित करनेवाला नहीं है । जैसे लोक में इस सूर्य को प्रकाशित करनेवाला कोई

अन्य चन्द्र, तारे या सूर्य नहीं है, यही सब दृश्य का प्रकाशक है । इसी प्रकार मुझ आत्मा का प्रकाशक, ज्ञाता, अन्य मानना एवं उसे पाने हेतु साधन करना घोर मूढ़ता है । यदि जीव तुच्छ है, पापी है, बद्ध है, तो वह महान, मुक्त ब्रह्म कैसे हो सकेगा ? यदि होता है, विचार द्वारा तो वह पूर्व से ही ब्रह्म, मुक्त, सच्चिदानन्द, नित्य, शुद्ध है । केवल देहाध्यास के कारण, जड़ दृश्य देह संघात् को मैं मानने के कारण मुक्त होता हुआ, बद्ध होता हुआ भी जीव, द्रष्टा होता हुआ भी अन्य को द्रष्टा भ्रमवश मान रहा है ।

यह जीव अपने स्वरूप को भूला हुआ है, इसे अपने स्वरूप की बस कोई तत्त्वदर्शी महापुरुष द्वारा याद दिलाने की ही आवश्यकता है कि 'तत्त्वमसि', तू वही है, जिसे खोज रहा है । जो सर्व द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता, प्रमाता, विज्ञाता मंता स्वयं है, इसे 'सोऽहम्' रूप स्वीकार न करना एवं जो अज्ञात् कल्पित ईश्वर है, उसे अपना सर्वस्व फलदाता, रक्षक मानना तो नास्तिकता ही है । अतः यथार्थ सद्गुरु की शरण में गए बिना भ्रान्ति दूर नहीं होती है । सद्गुरु की कृपा से ही संशयों की निवृत्ति एवं आत्म स्वरूप का बोध होता है ।

जैसे मोती की शोभा आभा से, नदी की शोभा जल से, वृक्ष की शोभा पत्तों से, रात की शोभा चन्द्रमा से, जीवन की शोभा ज्ञान से एवं संत की शोभा ज्ञान, वैराग्य तथा त्यागमय जीवन से है ।

प्रत्यक्ष द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षी, आत्मभाव जाग्रत करनेवाले एवं देहाभिमान से निवृत्त करा कर नित्य मुक्त ब्रह्म स्वरूप का सोऽहम् रूप में साक्षात्कार करानेवाले ही सच्चे सद्गुरु हैं । जो ब्रह्म को यहाँ अभी एवं तुम्हारे रूप में अनुभव कराने वाले सद्गुरु का तिरस्कार कर किसी साम्प्रदायिक मिथ्या गुरु की शरण ग्रहण करता है तथा अदृश्य कल्पित देव के द्वारा अपने कल्याण की आशा करता है, वह सम्मुख गंगा को ठुकरा कर मरुस्थल में कूप खोद स्नान, पान कर शीतलता एवं शान्ति का अभिलाषी है । वह महान दुःख एवं निराशा मात्र ही प्राप्त कर सकेगा ।

जिन साधनों से जीव का परम कल्याण हो उसी को स्वीकार करना चाहिए । व्यर्थ की मर्यादा, नियम, रुढ़िवाद, कुल परम्परा, सम्प्रदाय परम्परा में पड़कर जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए । जिस ग्रन्थ, पन्थ, मत, उपदेश में,

सम्प्रदाय परम्परा, रुढ़िवाद का पक्षपात् है, वह मनमुखी मार्ग है, वह गुरुमुखी सन्मुखी मार्ग नहीं है । अतः मनमुखी पक्षपात भेद बुद्धि कराने वाले मार्ग का त्याग कर देना चाहिए ।

वही गुरु सद्‌गुरु है जो यहाँ, अभी एवं हमारे रूप में परमात्मा का साक्षात्कार, ज्ञान द्वारा करा सके एवं जिज्ञासुओं को पुराण, पोथी, रुढ़िवाद, अन्धविश्वाँस, भेद बुद्धि के गड्ढे में न डालता हो । जो सत्य, अखण्ड, असंगात्मा का उपदेश करनेवाला है, उसे ही सच्चा सद्‌गुरु जानना चाहिए एवं उसकी अनन्य शरण ग्रहण करनेवाला ही सच्चा शिष्य समझना चाहिए । जो इष्ट रूप में मानव अतिरिक्त किसी अदृश्य कल्पित लोक एवं देव को आकाश की ओर हाथ उठा बताता हो, प्रार्थना करता हो, वह सद्‌गुरु नहीं, मनमुखी भेदवादी अज्ञानी है, उसका संग त्याग करना ही जीव के परम कल्याण का हेतु है ।

जब कहा जाता है जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण एक ब्रह्म है एवं कारण-कार्य अभिन्न होने से जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं बल्कि ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ही कहा जाता है । फिर ''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'' ऐसा कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से जगत् रूप में भास रहा है, जैसे स्वर्ण ही अलंकार रूप से भास रहा है ।

तरना तरना सब कहे, मरना कहे न कोय ।
मरना मरना जो कहे, सच्चा सद्‌गुरु सोय ।।

जब जगत् से वैराग्य की बात कही जाती है, तो उसका दूसरा अर्थ ब्रह्म से ही वैराग्य करना होगा, क्योंकि ब्रह्म एवं जगत् अभिन्न तत्त्व है । जब जगत् बन्धन का कारण दुःख रूप है, तब ब्रह्म से वैराग्य लिए बिना जीव मुक्त कैसे हो सकेगा ?

जीव ही सर्व द्रष्टा, सर्व अधिष्ठान, सर्व कल्पक है, ईश्वर, जगत्, माया, ब्रह्म बन्धमोक्ष, देवी-देवता भूतादि जीव के मन की रचना है । जीव अनादि,अनन्त, नित्य शुद्ध ब्रह्म ही है । जीव ब्रह्म की एकता अथवा भेद का भी जीव ही कल्पक प्रकाशक है । जीव का कल्पक प्रकाशक अन्य नहीं है । जीव स्वयं प्रकाश है । जीव सबका पारखी है । परख सब दृश्य है । पारखी

ज्ञान और जीव एक है । जगत्-ब्रह्म-ईश्वर-माया मन का भाष है । भूत-भविष्य को छोड़ वर्तमान में साक्षी बन देखो । आश्रम, जाति के चक्कर में मत पड़ो । यह देहाभिमान भटकाने वाला है ।

वैराग्यवान् ही मुक्ति को प्राप्त होता है । जिस पर गुरु की कृपा हुई है, उसे ही अहं-मम में पूर्ण वैराग्य होता है । वैराग्यवान् का चरणोदक, महाप्रसाद, दर्शन और शरणागति मुमुक्षु के लिए हितकर है । क्योंकि उन गुरु की मानसिक वासना, कामना, जलन मिट चुकी है, वह परमशीतल शान्त हो चुके हैं । वैराग्यवान् की सब वन्दना करता है, वह सबका पूज्य होता है । वैराग्यवान् सदा सन्तुष्ट, शान्त, प्रसन्न एवं निर्भय रहता है । निर्भयी वैराग्यवान् परमानन्द को प्राप्त करता है ।

ज्ञानयोग पराणां तु पाद प्रक्षालितं जलम् ।
भाव शुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनि पुङ्गव ।।

– जाबाल दर्शन उप ४/५६

अज्ञानी मनुष्यों के अन्तःकरण शुद्धि के लिये ज्ञानयोग में तत्पर योगियों का चरण अमृत ही सर्व श्रेष्ठ तीर्थ है ।

विद्या में विवाद का भय, तपस्या से क्षय का भय, द्रव्य में राजा या चोर का भय, सभी भोगें से रोग का भय, काया में काल का भय, साधनों में इन्द्रियों का भय, तरुणी का तरुणता का भय, योगियों को स्त्री का, ब्रह्मचारी को वीर्यपात का, स्वर्गवासियों को पुण्यसमाप्ति का, मन्त्र को यन्त्र का, यन्त्र को तन्त्र का, तन्त्र को सिद्धि का, सिद्धों को माया का, मायावी को ज्ञान का भय बना रहता है । किन्तु ज्ञानी को किसी का भय नहीं रहता है । वह सर्वदा, निर्द्वन्द्व, निर्भय, निर्लोभ, निष्काम, निर्वासनिक, निर्मोही रहता है । संसार के सभी प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य, पद, प्रतिष्ठा, अवस्था, सिद्धि, शक्ति भयपूर्ण है । अतएव त्याग में ही परम शान्ति है । सज्जनों को दुर्जनों का, सत्यवादियों को पाखण्डियों का, चतुरों को मूर्खों का, पंडितों को निन्दा का, मिलन में बिछुड़ने का, कुल में कुपुत्र का, पुण्य में पाप का, लाभ में हानि का, भय सदा ही बना रहता है । वैराग्यवान् के सम्मुख इन्द्रपद, स्वर्ग भोग, अप्सराओं का रूप मूल्यहीन हो जाता है । काकविष्ठा के समान तुच्छ हो

जाता है । जो मन को ही मैं-मेरा नहीं मानता, वह आशातीत सदा सुखी है ।

विचारशील, वैराग्यवान् ज्ञानी देह रहते ही उसकी मृत्योपरान्त दशा को वर्तमान में ही स्वीकार कर लेने से वह शोक-मोह, अहंता-ममता के जाल से मुक्त हो जाता है । अज्ञानी ही कहता है मुझे इसने-उसने दुःख दिया किन्तु मैं चेतन हूँ, यह सब जड़ मुझे दुःख नहीं दे सकते । मैं तो अपने ज्ञान स्वरूप, साक्षी स्वरूप, द्रष्टा, आत्मस्वरूप में ही कृतार्थ हूँ । मेरी तरफ से कोई राजा हो या रंक, कोई स्तुति करे या निन्दा, सुख पहुँचावे या दुःख, कोई हंसी उड़ावे, किन्तु मुझ साक्षी असंग, निराकार आत्मा को क्या ? यह मित्र-शत्रु, मन की ही लीला है । मैं जब मन नहीं तब भला बुरा क्यों मानूँ ? चाहे कोई फूल चढ़ावे, निन्दा करे या स्तुति करे, मुझे किसी से न राग है न द्वेष । त्यागियों को स्त्रियों का, भोग पदार्थों का डर है, तो भोगियों को भोग पदार्थ के अभाव का डर है । गृहस्थियों को जात-पाँत, छुआ-छूत का भय रहता है । मैं तो एक निर्विकार, असंग, निराकार, निरामय, एकरस, अखण्डात्मा, सर्व, द्रष्टा, सर्वसाक्षी, सर्वाधिष्ठान हूँ ।

किसी पर क्रोध मत करो, यह अज्ञान से पैदा होता है । समझो विचारो कि जगत् के सभी जीव मेरे अंग है । दाँत से जीभ कचड़ जाने पर दाँत को तोड़ फेंका नहीं जाता, क्योंकि दाँत का दर्द एवं जिह्वा के दर्द का भी भोक्ता स्वयं एक ही है । तब किस पर क्रोध किया जावे ? सब शरीर मेरा ही विराट रूप है । काम वासना है सिंहनी, किन्तु दिखाई देती है, कपिला गाय, इसलिए इसमें लोग फंस जाते हैं । जैसे मक्खी शहद में लपटा कर पछताती है । जो काम वासना में पड़ गया, उसको ज्ञान कभी नहीं होगा एवं ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है । वैराग्यवान् ही ज्ञानाधिकारी होता है । श्रद्धावान् को ही ज्ञान की प्राप्ति है ।

साधु को न किसी से मांगना है, न किसी को कुछ देना है । बिना इच्छा जो मिले, उसे विवेक-वैराग्य वृत्ति से जीवन निर्वाह एवं क्षुधा निवृत्ति हेतु उपयोग कर लेना है । जिस शरीर के मोह के कारण सब मनुष्यों को मृत्यु का डर उत्पन्न होता है, वह नाशवान् है, अन्ततः वह मिटकर ही रहेगा । ऐसा मन में निश्चय कर लोभ-मोह को छोड़ देना चाहिए । जो सबको

जाननेवाला अविनाशी, चेतनसाक्षी द्रष्टा आत्मा है, वही तुम्हारा अपना स्वरूप है । यह निश्चय बुद्धि में कर सुखपूर्वक असंग हो पृथ्वी पर विचरण करो । सब रूप नेत्र तक, सब शब्द कान तक, सब रस जिह्वा तक, सब गन्ध नासिका तक, सब स्पर्श त्वचा तक ही पहुँचते हैं या मन ग्रहण करता है किन्तु मुझ असंग आत्मा तक कोई विषय नहीं पहुँचता है । इसलिए मैं चैतन्य प्रत्यक्ष सब विषयों से भिन्न हूँ ।

याद रखें । स्मरण तक ही हमारा दृश्यों से सम्बन्ध रहता है । स्मरण के न होने पर दृश्यों का सर्वथा अभाव है । पाँचों विषय, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय तक है तथा मन तक पहुँचते हैं, मुझ चेतन जीव में न मन है, न इन्द्रियाँ हैं, न विषय है । स्वप्न में इन्द्रियाँ नहीं रहती, मनोराज्य में भी इन्द्रियाँ नहीं रहती, परन्तु दृश्यों का सम्बन्ध बना रहता है । दृश्यों की, विचारों की फिल्म प्रवाह चलता रहता है । मन भी सुषुप्ति में लीन हो जाता है, किसी प्रकार संकल्प-विकल्प, निश्चय, चिन्तन, अहंकार वृत्ति नहीं रहती है । सब प्रकार के विषय चिन्तन का अभाव रहता है, फिर भी मेरा कभी अभाव नहीं रहता । अभावों का भी मैं प्रकाशक रूप से अनुभव करता हूँ एवं मन, बुद्धि के जाग्रत होने पर प्रातः स्मरण कर सुषुप्ति के इन्द्रिय, मन तथा विषयों के अभाव रूप अज्ञान एवं स्वरूपानन्द को प्रकट करता हूँ । अतः जीव के स्वरूप में नींद भी नहीं है । मनोमय सृष्टि भी नहीं है । इस प्रकार जीव बाह्य जगत्, पंच विषय, इंन्द्रिय, मन, तीन अवस्था आदि से सर्वथा पृथक् सबसे असंग, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानंद स्वरूप में नित्य विद्यमान है । जैसे सूर्य प्रकाश एवं ताप युक्त हो सर्वदा आकाश में विद्यमान रहता है । जैसे सूर्य में अन्धकार एवं शीतलता त्रिकाल में नहीं इसी प्रकार आत्मा में जगत्, दुःख एवं बन्धन त्रिकाल में नहीं है । जीव आनंद के नाते अन्यत्र सम्बन्ध जोड़ता है एवं दुःख की जहाँ सम्भावना दिखाई पड़ती है, उसे वह तत्काल त्याग देता है । कितना ही नजदिक का सम्बन्ध हो कितना ही पुराना सम्बन्ध हो, एक क्षण में उसे मन से निकाल बाहर फेंक देता है । अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं । आत्मा के लिए सब को चाहते हैं । उन-उन दृश्य व्यक्ति या पदार्थ के सुख हेतु हम किसी को नहीं चाहते हैं । इस प्रकार शरीर व कर्म का अनादि प्रवाह रूप सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान द्वारा यह शांत हो जाता है ।

''स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति''

''आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''

जिस राम–कृष्ण के नाम जप से लोग पाप का नाश मानते हैं, क्या उन राम, कृष्ण का पाप कर्म बिना भोगे छूट सका ? कृष्ण को तीर मार कर मृत्यु दिलाने वाली वही बालि ही तो था जो रामने छुप कर उसे मारा था ।

जीव कर्म करता है, उसका फल अवश्य ही उसे समय पर भोगना ही पड़ता है । किसी ने चोरी, हत्या की, किसी के घर को जला दिया, किसी को लूटा, सताया और जाकर मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारों में तुम क्षमा मांग लो । नारियल, केला, पेड़ा, पुष्प, अगरबत्ती या रूपया चढ़ा देने से या मंदिर निर्माण कर देने से क्या ईश्वर, अल्लाह, मसीहा, गुरु क्षमा करे देगा ? गंगा, तुम्हारे पाप माफ कर देगी ? जिसके प्रति आपने अपराध किया है क्या उसने आपको क्षमा किया है, उससे आपने क्षमा मांगी है ? उसे प्रसन्न किया है ? तब आपके बीच बचाव क्षमा करने वाला यह ईश्वर कहाँ से टपक आया । इसे किसने ठेकेदार बनाया था कि जीवों के परस्पर अपराधों को तुम्हें माफ करने का अधिकार दिया जाता है । याद रखें ! जो जैसा कर्म करता है, उसे अवश्य अपने किए कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा ।

हँसते–हँसते किए श्रवण कुमार नवयुवक का वध राजा दशरथ को रोते–रोते राम वियोग में प्राण छोड़ना ही पड़ा । ''पवित्र कर्म से ही परमात्मा की पूजा है । ज्ञानोदय होने पर ही जीव के समस्त संचित् कर्म भस्म हो जाते हैं एवं क्रियमाण कर्म निर्बीज हो जाते हैं तथा प्रारब्ध भोग कर ज्ञानी जीव जीवन्मुक्त दशा को, विदेह मुक्त अवस्था को उपलब्ध हो जाता है ।

नाम, जप, गंगा स्नान, मरते समय राम नाम, नारायण नाम लेने से मस्जिद में ताबा कर लेने से, काशी में मरने से न पाप क्षमा होंगे न मुक्त होंगे । यह सब भ्रांत धारणा है कि काशी में मरने से मुक्ति हो जाती है । मुक्ति केवल ज्ञान से ही हो सकेगी ।

''अवध तजे तन नहीं संसारा''

गुरु साक्षात् परमब्रह्म

परमात्मा के मिलन में देरी, दूरी या साधना, है तो मात्र तुम्हारे अहंकार के टूटने तक की । अहंकार टूटते ही परमात्मा स्वयं आत्मा रूप में उपलब्ध हो जाते हैं । यह तुम्हारा अहंकार ही बाधा है, दीवार है तुम्हारे व परमात्मा के मिलन में । अहंकार तो तोड़ना ही होगा, अंडा तो फटेगा ही, तभी बच्चा बाहर विराट् आकाश का अनुभव कर सकेगा, खुले आकाश में उड़ान भर सकेगा । अहंकार की खोल में तुम अपने को महान मत समझो वह तो कैद है, जेल है ।

एक गुरु से शास्त्र से जो पाठ पढा, जो लक्षण जाने, वही आदर्श साधक के मन में जम जाता है, फिर वही उसी पैमाने से, दृष्टि से अन्य गुरुओं को मापने जाता है और सद्गुरु अमाप है, अद्वितीय है । वह किसी के जैसा क्यों होकर रहेगा ? वह अपनी स्थिती में होगा, वह अनुठा है । उसको वही पहचान सकता है जो सब माप दण्ड, लक्षण को फेंक चुका है एवं दर्पण की तरह, कैमरे की तरह जैसा है स्वीकार करने को प्रस्तुत हो चुका है । जो निर्मल अज्ञानी है वह सरल सीधा खाली देखता है, बीच में राम, कृष्ण, जीसस, शंकरादि को नहीं लाता कि महावीर व कृष्ण के साथ तुलना नहीं करता । वह किसी को बीच में नहीं लेता सीधा आँख से आँख मिला लेता है ।

सद्गुरु का मिलना कठिन है, मिल जाय तो भी उसे समझना, उनमें श्रद्धा रखना उससे भी कठिन है ।

तुम्हारा अस्तित्व ही बाधा है, इसे तो मिटाना ही होगा । मिटने की तैयारी तो करनी ही पड़ेगी । तुम हो तो परमात्मा किन्तु तुम्हारा अहंकार उस असली रूप को पहचानने में बाधा पहुँचाता है । वह तुम्हारे वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानने देगा । सद्गुरु तुम्हारे अहंकार को तोड़ेगा । अगर तुम परमात्मा को सचमुच में मिलने के लिए राजी हो तो मिटना होगा । गुरु तुम्हें एकदम नहीं मिटाएगा । आहिस्ता-आहिस्ता मिटाएगा । एक दिन तुम अपने को खाली पाओगे ।

गुरु कुम्भार शिष्य कुम्भ है, गढ-गढ काढ़े खोट ।
भीतर हाथ सहारा दे, बाहर मारे चोट ।।

गुरु, परमात्मा को पाने के लिए पहला कदम है और परमात्मा धाम है । यदि पहला कदम गलत हो गया तब सारी यात्रा व्यर्थ होगी, भटकन ही रहेगी । तुमने जो गुरुओं के सम्बन्ध में धारणा बनाई है वह पुराने गुरुओं के आधार पर जबकि एक वृक्ष की तरह उसी जाति का वृक्ष के पत्ते समान आकार के नहीं होते हैं । तब एक गुरु की तरह दूसरा गुरु कैसे हो सकता है ? राम की तरह कृष्ण एवं कृष्ण की तरह राम भी समान नहीं दिखाई पड़ते । महावीर दिगम्बर है, तो कृष्ण रसिक शिरोमणि है किसे गलत कह सकोगे ? जैन कृष्ण को नहीं समझ सकेंगे न हिन्दु महावीर को श्रद्धा समर्पित कर सकेंगे ।

असद्गुरु को तुम जल्दी पा सकोगे, पहचान सकोगे, श्रद्धा कर सकोगे । वहाँ तुम्हें जरा भी मुश्किल खड़ी नहीं होगी, क्योंकि यह तुम्हारे मन के सिद्धांत को पहले से, तुम्हारी धारणा के अनुसार अपने को कांट-छांट कर साफ कर आदर्श मूर्ति बहुरूपिया की तरह बना घूम रहे हैं । ये बिल्कुल तुम्हारी भाषा के पैमाने जांच के भीतर शिघ्र आ जाते हैं । ये सचमुच में शरणार्थी बन आ रहे हैं । जैसा आप चाहते हैं, वैसा ही जीवन की शैली बना लेते हैं । आप चाहते हैं कि वह नंगा रहे तो वे कपड़ा फैंक दिगम्बर पशु-पक्षी वत् उपस्थित हैं । घोट-मोट या दाढ़ी-मूँछ गेरुआ वस्त्र वाला चाहते, तो वह उसके लिए भी तैयार हैं । आप चाहते हैं अन्न त्यागी हो तो वे फलाहार पर जीने के लिए प्रस्तुत हैं । वह जो कहो, जैसा चाहो वैसा आपकी चाह के अनुसार आज्ञा को स्वीकार करने हाजिर खड़े हैं, बस तुम्हें अपनी इच्छा

प्रकट करनी है । हर साइज के रेडीमेड गारमेंट (सिले कपड़े पोषाक) हैं । आप माप दण्ड बताइए वैसा आपको मिल जावेगा ।

असद्गुरु स्वयं खाली है, वह तुम्हारी इच्छा पर चलने को तैयार है । तुम्हारी आकांक्षानुसार अपने को सजाने को, ढालने को तैयार है । उसकी एक मात्र आकांक्षा है, वह गुरु की तरह पूजा जाए सर्वत्र । कोई शिष्य, अनुयायी उससे नाराज होकर उसको छोड़ न दे । इसलिए सावधानी से चलता है, शिष्यों के अनुकूल चलता है ।

सद्गुरु तुम्हारी मागं पूरी कभी नहीं करेगा । वह क्यों तुम्हारे संकल्प इशारे पर कठ पुतली वत नाच दिखावेगा ? वह अपने में पूर्ण है, निष्काम है, सिद्ध है, उसे कोई कमी नहीं, जरूरत नहीं । तुम्हें ठीक लगे या न लगे, तुम स्वीकार करो या नहीं करो, तुम्हें जचे या न जचे, तुम उसके पास आओ या न आओ, वह तो अपने पूर्ण होने को प्रकट कर रहा है । तुम आओ तो ठीक, चले जाओ तो ठीक, तुम प्रशंसा करो तो ठीक या निंदा करो तो ठीक । भीड़ जमा करना वह नहीं चाहता । जादुगरों, सिद्धि प्रदर्शकों, नाट्यकारों को भीड़ की जरूरत है । सद्गुरु को छोड़ सब चले जावें तो भी ठीक । उसे कोई फर्क नहीं पड़ता है । तुम्हारा होना न होना कोई फर्क नहीं पड़ता । समुद्र में नाले आ मिले या रास्ते में अटक जावे, समुद्र के लिए कोई अर्थ नहीं रखता है । सद्गुरु के लिए भीड़ का महत्व नहीं । दो चार लोग रहें तो ठीक । वह कथाकार नहीं जो आखिर दिन भेंट पूजा का हिसाब लगावे कि कितना रुपया मिलेगा, वह तुम्हारे आधार से नहीं चलता । तुम्हें यदि परम धाम चलना है तो उसके आश्रित होकर चलने की तैयारी करनी पड़ेगी । नेवी में, मिलेट्री में, हास्पिटल में, जेल में, कर्मचारियों की अपनी यूनीफार्म रहती है । आपको उसे स्वीकार करना होगा, यदि उस विभाग में रह काम करना है तो । सद्गुरु के साथ, अवतारों के साथ तो कुछ चुने हुए भाग्यशाली लोग ही होंगे । कितने लोग थे राम, कृष्ण, जीसस, शंकर, दयानंद, कबीर, नानक के साथ एवं मरने पर लाखों करोड़ों हो जाते हैं ।

जीवित् में जो सद्गुरु होते हैं मरने पर इन सम्प्रदायी लोगों के कारण वे असद्गुरु रूप मूर्तिमान बन जाते हैं । अपनी ओर से तो सद्गुरु ही रहे एवं

संसार से चले गये । किन्तु मरने पर अंध श्रद्धालुओं ने उनकी जैसी मूर्ति भाव दशा, चित्र शास्त्र जीवन चरित्र को गढ़ दिया, वे उसी प्रकार आपके माप दण्ड में बन्धे पाव बने रहते हैं एवं हजारों वर्ष पूजे जाते हैं, जीवित में उनसे भय रहता है । जिसस को जिन्होंने सूली दी, सुकरात, शंकर, दयानंद को जहर दिया, मरने पर उन्हीं ने पूजा शुरु कर दी । कृष्ण के मंदिर बना पूज रहे हैं, गीता पढ़ रहे हैं । सोचो यदि गीता पढ़ते-पढ़ते कृष्ण पुनः सशरीर सामने आ जावें तो आप क्या उसे अपने घर में मेहमान बना ठहरा सकोगे ? उसे घर में छोड़ ऑफिस, दुकान जा सकोगे ? क्योंकि भरोसे का आदमी नजर नहीं आता, क्या पता उसका । जवान लड़की घर में है, पत्नी है, उन्हें भगा ले जावे या राम लीला पुनः प्रारंभ कर दे । आप उसे ऑफिस, दूकान जाने से पहले बिदा कर देंगे । या फिर ऑफिस दुकान से छुट्टी ले घर में चौकीदारी करने बैठ जावेंगे । जीवित सद्गुरु के साथ भय लगता है, मर जाने के बाद पूजा शुरु कर दी जाती है । यदि जीसस पुनः चर्च में प्रकट हो जावें तो इसाई पादरी, फादर प्रार्थना छोड़ उसे पुनः मार जमीन में गाड देंगे । सब कहेंगे चले जाओ चुप-चाप यहाँ सब ठीक चल रहा है । गड़बड़ न मचाओ अन्यथा १९९० वर्षों के पहले जो घटना घटी थी, वह तैयारी फिर हमें करनी पड़ेगी । आप स्वर्ग बैकुंठ में ही विराजमान रहें, आरम करें, यहाँ कोई जरूरत नहीं है । जब जरूरत होगी हम स्वयं आपके पास समस्या ले समाधानार्थ चले जावेंगे । यदि राधा कृष्ण साथ आ जावें तो फिर उन्हें घर में बिल्कुल नहीं ठहरा सकेंगे, क्योंकि बाल बच्चों का घर है, बिगड़ जावेंगे । राधा के साथ कृष्ण का चुम्बन आलिंगन देख । आप वहीं किसी होटल में जाकर ठहर जावें यहाँ आपके सम्मान रखने जैसी घर की हालत नहीं । मिनिस्टरों के लिए गेस्ट हाउस, रेस्ट हाउस, आई.बी., फाइव स्टार होटल ही उपयुक्त स्थान होता है ।

अज्ञानी साधक सद्गुरु की पूजा तो कर नहीं सकते, जब तक कि वे उन्हें असद्गुरु की स्थिति में न ले आवें । क्योंकि मरने पर वे आप का अज्ञान, मूढ़ता, अहंकार तोड़ नहीं सकेंगे । जिंदा सद्गुरु तो तुम्हारे अहंकार को तोड़ने हेतु नाना-विधि, युक्ति, व्यवहार, आदेश, उपदेश करता रहेगा,

तुम्हारे उद्धार की कोशिश करता रहेगा । लेकिन साधक गुरु को ही अपने अनुकूल चलाना चाहते हैं । मरने पर उनकी मूर्ति बना लेते हैं, माला, दाढ़ी, मूँछ करा देते हैं । भले चाहे जीवित में निरंजन ने न जनेऊ पहनी हो, न दाढी मूँछ चोटी रखी हो, किन्तु मरने पर अवश्य सम्प्रदायी लोग उसकी मूर्ति काट छाँट कर अपने मनानुसार बना लेंगे । फिर पूजा करने में कोई परेशानी नहीं मालूम होगी । फिर चित्र मूर्ति को अपने छाती गले लगा चुंबन ले लेंगे, चरणों में साष्टांग प्रणाम करने में न किसी से भय न लज्जा । पर जीवित के साथ ऐसा होना तो पाप रूप क्रिया समझी जाती है ।

आश्चर्य है लोग जड़ मूर्ति के आगे झुक जाते हैं । जहाँ उन्हें कोई उठा हृदय से लगाने वाला आशीर्वाद देने वाला नहीं । जहाँ चैतन्य सद्‌गुरु हैं, वहाँ लोग जड़ वत् अकड़े खड़े रह जाते हैं । अब साधकों की श्रद्धा भक्ति केवल जड़, पाषाण, मूर्ति के ही काम की रह गई है । चैतन्य के सम्मुख होने की क्षमता नहीं रही । जब तक सद्‌गुरु जीवित हैं, तब तक उनकी पूजा नहीं कर सकोगे । क्योंकि सद्‌गुरु के सम्मुख जाने में, उनमें श्रद्धा बनाये रखने में तो बड़ी कठिनाई से गुजरना पड़ेगा, परीक्षाओं से उत्तीर्ण हो निकलना पड़ेगा ।

लेकिन याद रखो, जो गुरु तुम्हारे माप दण्ड में पूरे बैठ गए, वे गोबर गणेश तुम्हें लक्ष्य तक नहीं जाने देंगे । वे अपने में उलझा रखेंगे । क्योंकि उनका जीवन आचरण बिलकुल तुम्हारे मन में आदर्श पुरुष का स्थान ले लेते हैं । थोड़ा खाते हैं, उपवास रखते हैं, अपने हाथों से पका खाते हैं, स्त्री स्पर्श नहीं करते, धन, स्वर्ण को नहीं छूते, मांस-शराब अंडा सेवन नहीं करते, बड़े सज्जन पुरुष बन गये हैं । दुर्जन को आप अच्छी तरह पहचानते हैं । इसलिए अब वहाँ से हटने का, भागने का कोई कारण ही दिखाई पड़ता है । तेली के घर पर बन्धे बैल की तरह घूमते रहोगे उनके ईर्द-गिर्द चारों तरफ, बस अब यह गोबर गणेश गुरु तुम्हें कहीं किसी श्रेष्ठ गुरु के पास जाने नहीं देंगे । चरण दास बनाकर रखेंगे ।

यदि साधक को सद्‌गुरु चाहिए तो उपलब्ध हो सकेगा किन्तु यदि तुमने अपना कोई आग्रह रखा कि ऐसा रूप-रंग, आचार-व्यवहार वाला

होना चाहिए, तब तो तुम स्वयं गुरुओं का चुनाव करने वाले योग्य-अयोग्य बताने वाले गुरु बनगये । यदि तुम्हारे मन में गुरु के प्रति पूर्व मान्यतांए हैं, तो मुश्किल में पड़ जाओगे, तो तुम गुरु खोज ही नहीं रहे थे अन्यथा चाहे वह नग्न हो या कपड़े वाला, भिखारी रूप में हो या राजा रूप में, गृहस्थ हो या संन्यासी । यदि आप स्टेशन से अपने किसी मित्र के घर जाने का रास्ता पूछना चाहते हो, तब यह नहीं सोचते है कि मैं हिंदु से पूछूँ या मुसलमान से, जैन से पूछूँ या इसाई से, ऐसी खोजबीन नहीं करते हैं। वैद्य की जात नहीं देखना, डॉक्टर की डिग्री नहीं देखना, उपचार सही होना चाहिये, जिस पद्धति से, चाहे जिस औषध से हो । हमें तो स्वस्थ होना है ।

थोड़े ही मिटने से गुरु मिल जाता है, जाति, कुल, धन, रूप, बुद्धि, देह सम्बन्धों का अभिमान छोड़ने वाले सद्गुरु को प्राप्त कर लेते हैं एवं जब सद्गुरु मिल जाता है, तब वह जीव को पूरा मिटा देता है, तभी परमात्मा की असली पहचान होती है । फिर व्यर्थ की दौड़-धूप समाप्त हो जाती है । तब परमात्मा का मिलना सुलभ हो जाता है । जो साधक थोड़ा मिटने को, अपने अहंकार को तोड़ने को तैयार नहीं, वह पूरा कैसे मिट सकेगा और पूरा मिटे बिना परमात्मा का अनुभव होना सम्भव नहीं ।

जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि है मैं नाहीं ।

गुरु मिलने के बाद ही परमात्मा की असली खोज शुरु होती है । उसके पहले तो खोज के नाम पर व्यर्थ ही चलना था । न कोई मार्ग न कोई प्रकाश, न कोई दृष्टि, केवल अंधे की तरह (अंधेरे में) टटोलना था । गुरु को खोज लिया है जिसने उसका अर्थ है वह झुका, मिटा, अहंकार के पत्थर को बुद्धि से हटाया । सद्गुरु के प्रति किसी प्रकार का मन में नक्शा बना रखने वाला सद्गुरु को नहीं खोज पायेगा । वह तो अपनी मान्यता का बोझा लेकर ही भटकता रहेगा ।

थोड़े से हटने से, मिटने से सद्गुरु मिल जाता है । पूरे हटे, पूरे मिटे की परमात्मा तत्काल उसी में प्रकट हो जाते हैं । कहीं जाना नहीं पड़ता, कहीं

से उसे बुलाना नहीं पड़ता । काश्मीर, हिमालय, अभी पहुँचा नहीं, किन्तु तलेटी पर ही ठण्डी हवाएँ आपको अनुभव में आने लगेगी । गुरु मिलना परमात्मा को पाने की सुगन्ध है । गुरु परमात्मा को झाँक लेने का ''राम झरोखा'' है । जैसे तुम घर के छोटे झरोखे से उस विराट् सूर्य के साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाते हो । सद्‌गुरु मिलने से परमात्मा के पाने का भरोसा हो जाता है कि इसे मिला है तो मुझे भी अवश्य मिल जावेगा । कल तक जो संसार सत्य-सा लगता था, आज वह स्वप्न हो जाता है । फीका मालूम होने लगता है । कल तक जो भरोसे वाले थे अब वे स्वार्थ पूर्ण असली रूप में प्रकट हो जाते हैं ।

गुरु तो द्वार है परमात्मा में होने के लिए । तुम वहीं न अटक जाना । यात्रा गुरु से शुरू होती है एवं परमात्मा में समाप्त हो जाती है, चलना नहीं है दूरी भी नहीं, उठो, जागो, बस देहभाव से आत्मभाव तक का चलना है । देहभाव में रुकना ही डूबना है एवं आत्मभाव में डूबना ही तरना है ।

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।
मैं बोरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ ।।

यदि सद्‌गुरु की आँखों में परमात्मा के प्रेम की झलक दिखाई पड़ गई तो उसकी स्मृति अब तुम्हें घेरे रहेगी । उसकी याद तुम्हें कचोटती रहेगी । एक मीठा दर्द उसके प्रति तुम्हारे विशुद्ध मन में उभरने लग जावेगा । उसके प्रेम का तीर लग गया, बस अब वह तुम्हें चुभने लग गया, वह परमात्मा को मिलाकर ही राहत देगा । वह तुम्हें मंजिल तक पहुँचा के ही चैन लेने देगा । इसके पहले वह तुमको चैन से चुप बैठने नहीं देगा ।

जो पद, पदार्थ, माँ-बाप, समाज, पंडित, धर्म गुरुओं तथा मंत्र, माला, पाठ-पूजा आदि धार्मिक क्रियाओं द्वारा नहीं हो पाया, वह असम्भव कार्य जिसके द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हो जावे, तुम उसी को सद्‌गुरु समझ उसी के पास ठहर जाना । उनके पैरों में सर को झुका देना । संशय रहित हो वहीं बैठ जाना और वह पूरा गुरु होगा तो तुम्हारे निन्दा नहीं करेगा । वह मृत्यु में अमृत, पाप में निष्पाप, बन्ध में मोक्ष, जीवत्व में ब्रह्मत्व, एवं दुःख में आनन्द का साक्षात्कार करा देगा ।

यदि सब कुछ देकर भी तुम्हें सद्गुरु मिल जावे तो भी अहोभाग्य समझना । क्योंकि देने योग्य तुम्हारे पास है भी क्या जो दोगे ? जो तुम्हारा कुछ भी नहीं है, जिसका कोई मूल्य नहीं, उसे देने में भयभीत क्यों हो ? तुम्हारे ना कुछ के बदले में, सब कुछ देने को वह तैयार है, और तुम ना कुछ-सा मिथ्या अहंकार देने की भी हिम्मत नहीं कर पा रहे हो । सद्गुरु तुमसे मांगता ही क्या है ? जो तुम्हारा नहीं, जो तुम नहीं, उस पर वस्तु में तुम जो अहंकार कर बैठे हो, अभिमान कर बैठे हो, बस उसे ही तो मिटाने की मांग वह कर रहा है । वह मन से निकाल दो तो, जो परम धाम तुम्हारा है, वह उसे साक्षीभाव की चाबी द्वारा खोल दिखा देगा । परन्तु जो तुम नहीं, तुम्हारा भी नहीं है, केवल उस देह को जो अपने होने का भ्रम मात्र था वह भी छोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हो तो फिर गुरु कभी भी तुम्हें मुक्ति नहीं दिला सकेगा । यदि तुम वह सब व्यर्थ देने को तैयार हो जाओ, छोड़ने को तैयार हो जाओ, जो तुम नहीं, जो तुम्हारा नहीं, तो गुरु हजारों मील से आकर तुम्हारे बन्धन को काट मुक्त कर जावेगा । लेकिन तैयारी चाहिए अपने मिटने की, सब कुछ छोड़ देने की, समर्पित हो जाने की । देहाभिमान, कर्तृत्वाभिमान छोड़ देने की । इसीलिये वेद में कहा है '**गुरु मृत्योः**' ।

यह शरीर तो मौत का घर, नरक का भंडार है, विष की बेल है और गुरु है मुक्ति का द्वार, अमृत का सागर, परम विश्राम, परम शान्ति का स्त्रोत । गुरु का अर्थ है, जिसने कारागृह से सेंघ लगा बाहर आने का मार्ग खोज लिया है, जो नींद से जाग चुका है । जागा हुआ ही गुरु हो सकता है, वही औरों को दीक्षा, उपदेश देने का अधिकारी है । वही तुम्हें होश में ला सकता है । जो गुरु स्वयं सोया हुआ है, वह तुम्हें बेहोशी में ही रख सकेगा । जो कारागृह के ही वासी हैं, वे तुम्हें बाहर जाने का रास्ता कैसे बता सकेंगे ? पिंजरे में फंसे दो पक्षी कौन किसको मार्ग दिखा बाहर कर सकेगा ?

सद्गुरु जिज्ञासु को कर्ताभाव के कारागृह से मुक्त कर साक्षी भाव के स्वराज्य का शासक बना देता है । वह कर्म के होने के पाँच हेतु बताता है और उनपाँच में तुम कोई एक भी नहीं हो तुम उससे भी पीछे उनके प्रकाशक, साक्षी हो । किसी को कहने की, बताने की जरूरत नहीं, तुम कर्म की भीड़ से थोड़ा पीछे सरक जाओ ।

कोई भी कर्म के होने में प्रथम कोई आधार होता है, बिना आधार तो कुछ घटता ही नहीं । द्वितीय कोई भी कर्म का कर्ता होता है, बिना कर्ता के कोई कर्म नहीं होता । तृतीय कर्म करने के लिए सहायक कारण, उपकरण चाहिए, बिना उपकरण के न कुम्भार वर्तन, न स्वर्णकार अलंकार बना सकेगा । कर्म के होने के लिए मन में इच्छा व चेष्टा यह, चतुर्थ हेतु है । बिना प्रयास चेष्टा के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है । तथा कर्म का अन्तिम हेतु पूर्व जन्म के संचित संस्कार, जिसे दैव्य, भाग्य, प्रारब्ध कहा जाता है, वे भी कर्म के होने में सहयोगी माने जाते हैं ।

किसी भी कर्म के कारण है तो यह पाँच है । फिर भी तुम उन घटना के घटने से बाहर हो । घटना घटती है तो अकारण नहीं घटती । घटना घटती है तो कर्ता भी होगा । घटना घटती है तो घटाने की चेष्टा भी होगी । पूर्व संस्कार पीछे खड़े होंगे । किसी भी घटना के लिए यह पाँच सहारे चाहिए । और तुम इन पाँचों के बाहर हो, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय की त्रिपुटियों से बाहर तुम उसके प्रकाशक साक्षी हो, तुम देखनेवाले अनुभव स्वरूप हो ।

सद्गुरु बताते हैं कि इन उपरोक्त पाँचों कारण में जिसने अपने को डूबा हुआ, कर्ता समझ लिया वह मूढ़ है तथा पाँचों के बाहर जो अपने को साक्षी जानता है, वही यथार्थदर्शी है । वही उबरा हुआ है वही जीवन्मुक्त है ।

मान लो, बच्चे को भूख लगी, तो शरीर को आधार बनाया, अशरीरी को तो भूख-प्यास सुख-दुःख होता ही नहीं । संस्कार से पहचाना, प्रतिभिज्ञा ज्ञान हुआ । फिर तुमने बच्चे की चेष्टा होते देखी, माँ के स्तन की ओर बच्चे का हाथ गया, मुख में स्तन के अग्रभाग को लेकर चूसने की क्रिया हुई या भोजन चबाने की क्रिया करने लगे । चेष्टा तो होगी, चाहे भीख मांगे या बना कर खावे । मन कर्ता बनेगा धन कमाने का, भोजन पकाने का, युक्ति सोचने का कि किसी की चोरी करूँ, कमाकर लाऊँ, भीख मांगूँ, किसी मित्र का मेहमान बनूँ, क्या करूँ ? तो मन कर्ता बनेगा और जिन साधनों से भोजन बनेगा वह सब उपकरण हैं । ये पाँच हैं और तुम पाँच से बाहर छठे हो,

पंचकोषातीत दसों–दिशा से भिन्न ग्यारहवीं दिशा दशम् पुरुष । तुम्हारा होना साक्षी का होना है । तुम केवल द्रष्टा मात्र हो । कर्म का यह वास्तविक रहस्य है, किन्तु सद्गुरु के मिलने के पूर्व अज्ञानी अपने को ही इन दृश्य कर्मों का कर्ता मान बन्धन को प्राप्त हो दुःखी होता है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। ३/२७ : गीता

साक्षी का गुण–धर्म है वह लिपायमान नहीं होता है, वह सदा बाहर रहता है, किसी भी कर्म में डूबता नहीं, यह कर्म से असंग रहना, लिपायमान न होना, लीन न होना ही कर्म में कुशलता है –''योगः कर्मसु कौशलम्''–इस अद्भुत कला को सिखाने के कारण गुरु ब्रह्मविद्या विशेषज्ञ कलाकार है ।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्नहन्ति न निबध्यते ।। १८/१७ : गीता

तुम रहो वहीं, जहाँ हो, करो वही जो कर रहे हो, केवल करने का, रहने का ढंग थोड़ा बदल लो । तुम केवल करनेवाले, भोगनेवाले से थोड़ा–सा पीछे हट देखनेवाले हो जाओ । साक्षी भाव को धारण कर लो । बस, यह साध लिया तो हो गई समाधि, कर लिया शास्त्र पाठ क्योंकि सभी शास्त्रों–साधनों की यही शिक्षा है कि तुम कर्ता नहीं, साक्षी हो । बस, कार्य होने दो, थोड़ा पीछे हटकर देखते रहो, माँ जैसे छोटे बच्चे को, दूध पीते, चलते हुए, गिरते सम्भलते हुए देखती रहती है । इसी तरह तुम अपने देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मनादिको के साक्षी रहो ।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। : ८/२७ गीता

अहंकार ही बन्धन

सब धर्म शास्त्र एवं उपदेशक गुरु अपने श्रोताओं, पाठकों को अहिंसा, अक्रोध, अलोभ, अकाम, अपरिग्रह पर जोर देते हैं, उसका कारण क्या है ? उसका कारण यह है कि केन्द्र पर शान्ति, अहिंसा, अलोभ, अपरिग्रह, अकाम है एवं परिधि पर हिंसा, लोभ, काम, क्रोध का परिग्रह है । यह सब वासना तुम्हें परिधि पर ही रखेगी, केन्द्र पर नहीं जाने देगी । नहीं जाने का भी कारण, कोई अन्य नहीं है वह रुकावट भी तुम हो । परमात्मा की ओर से उनकी तरफ होने के लिए कोई बाधा, रुकावट नहीं है । तुम्हारी जो वासना कामना है, उसकी पूर्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा है, वह बाहर है । जो तुम चाहते हो, उसमें दूसरे की उपस्थिति आवश्यक है । केन्द्र में वहाँ कोई दूसरा नहीं, जैसे सुषुप्ति अवस्था में तुम अकेले हो, इसलिए भोगी व्यक्ति उस ओर जाने की इच्छा, साहस भी नहीं कर पाता है । वह बाहर ही रहेगा, भीतर जा नहीं सकता, क्योंकि लोभ, काम, परिग्रह की वस्तुएँ बाहर ही हैं ।

यदि तुम्हें भीतर जाना है तो परिधि को छोड़ना ही होगा । हिंसक , लोभी, क्रोधी व्यक्ति कभी भीतर नहीं जा सकता । यदि गया तो हिंसा, लोभ, क्रोध, राग-द्वेष की मृत्यु हो जावेगी क्योंकि वहाँ उसका कोई शत्रु नहीं । कामी व्यक्ति भी भीतर नहीं जा सकता । काम वासना का अर्थ ही है दूसरे को प्राप्त करने की वासना । उसे तो परिधि पर ही रहना होगा और परिधि छोड़ी तो काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, राग-द्वेषादि सब द्वन्द्व छूट जावेगी । केन्द्र में तुम अद्वैत हो ।

तुम्हारा अहंकार है कि ''मैं कुछ हूँ'' जब तक इस भाव को पकड़े

रहोगे, बचाये रहोगे, तुम भीतर गहरे में प्रवेश नहीं कर सकोगे । बाहर तुम्हें छोटी-छोटी बातों से चोट पड़ती रहेगी । सब समय तुम अपने क्षुद्र अहंकार को बचाये रखने हेतु प्रयत्नशील रहोगे, सारे जीवन बचाते रहोगे, फिर भी आखिर में कुछ नहीं बचेगा । हम बचाने की कोशीश कर मिटे जा रहे हैं । जिन्होंने मिटा दिया, उन्हीं ने बस अपने को बचा लिया, जो वह है और जिन्होंने अपने को मिटने से बचाया है, वही मिट जाते रहे हैं ।

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।
मैं बोरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ ।।

उस परम सत्य में होने के लिए अन्य किसी पत्र, पुष्प, धूप, फल, मिष्ठान्न, कीर्तन, यज्ञादि समर्पण से काम नहीं चलेगा । इन वस्तुओं के नैवेद्य से काम नहीं चलेगा । तुम इन पराई वस्तुओं को चढ़ाकर किसे धोखा दे रहे हो ? अपने को ही नैवेद्य बना चढ़ाना पड़ेगा, अपने को ही बलि का बकरा बनाना होगा । अपने आपको ही चढ़ाना होगा । बलि किसी अन्य पदार्थ या पशु की देने से काम नहीं होगा । अपने को देने को जो राजी होगा, वही उसे पा सकेगा । तुम सब कुछ देने को तैयार हो, किन्तु अपने को देने को कोई एक भक्त भी तैयार नहीं होता है। परमात्मा को धन, फूल, पत्ते, पुष्प से नहीं पाया जा सकता । परमात्मा को पाने का एक ही उपाय है तुम अपने को छोड़ दो । इधर छोड़ा कि मिला । नदी सागर में अपने को छोड़ देती है तो तत्काल ही सागर रूप हो जाती है ।

अहंकार को चोट पहुँचाना बहुत ही आसान है । कोई जरा-सा आपकी ओर देखकर अचानक थूक दे, बात न करे, आपकी ओर देखकर हँस दे, खाँस दे, तुम्हें देखकर भी वह नमस्कार न करे तो अहंकार को चोट लग जाती है ।

सद्गुरु परमात्मा को अपने आप को दे दो एवं वह सब कुछ पा लो जो पाना चाहते हो । वह मिला हुआ ही है । मिटा दो अपने समस्त अहंकार को एवं उसे पा लो । तुम्हारे अलावा तुम्हारा कोई शत्रु-मित्र नहीं है । जबतक तुमने अपने को देह मान रखा है, तुम तबतक अपने आपके ही शत्रु

हो, एवं जब तुम अपने आत्मभाव केन्द्र में आते हो, देह परिधि को छोड़ देते हो तब तुम अपने मित्र होते हो । परिधि पर खड़े रहोगे तो सदा अभाव ग्रस्त, दूसरों के आगे भिखारी बने, हाथ पसारते रहोगे लोगों के सम्मुख और यदि केन्द्र पर आ गए तो सम्राट बन जाओगे सदा के लिए । समस्त ध्यान की प्रक्रिया तुम्हें परिधि से, दृश्य से, देह से, कर्ता से, हटा केन्द्र पर लाने के लिए है । परन्तु केन्द्र पर आने के लिए मार्ग की सब वस्तुएँ व अहंकार छोड़ना ही होगा ।

इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लो, तुम्हें अपने स्वरूप आत्मा केन्द्र में स्थिति पाने हेतु बाह्य वस्तुओं का अहंकार छोड़ना होगा । अहंकार है तो क्रोध होगा, अहंकार है तो लोभ होगा, अहंकार है तो मोह पैदा होगा एवं अहंकार है तो हिंसा पैदा होगी । यदि तुम्हें किसी प्रकार अहंकार नहीं है तो कोई गाली भी देगा तो क्रोध नहीं होगा । तुम सुन लोगे, ऐसे जैसे वह किसी अन्य को कह रहा है । तुम तक वे गाली पहुँचेगी भी नहीं । तुम्हारे भीतर अहंकार का घाव न हो तो गाली किसे चोट पहुँचा सकेगी ?

अहंकार सभी पापों का मूल है । बाकी समस्त पाप उसकी छाया है । किसके लिए तुम लोभ करते हो ? किसके लिए तुम मोह कर वस्तु संग्रहित कर रहे हो ? किसके लिए तुम, धन, सम्पत्ति, जमीन संग्रह कर पागल हुए जा रहे हो ? किसके लिए पद, सिंहासन चाहते हो ? लेकिन बड़े लज्जा की बात है कि लोग मोह को, क्रोध को छोड़ने की कोशिश करते हैं, बिना समझे कि यह सब छोड़ने की वस्तु है । ध्यान रहे ! कोई देहधारी इन्हें छोड़ नहीं सकता । यह ऐसे ही असम्भव कार्य है जैसे कोई व्यक्ति अपने प्राण को छोड़ जीवित रहना चाहे । अहंकार के रहते ये कोई भी छूट नहीं सकते । यह हो सकता है कि तुम अपने आप को धोखा दे डालो कि मैंने राज्य छोड़ा, रानी छोड़ी, आश्रम, आसन, माला, तुम्बी, केश जनेऊ, पूजा छोड़ा । जैसे राजा शिखरध्वज कुंभज मुनि को समस्त त्याग करने का अहंकार बता रहा था, किन्तु कुम्भज मुनि ने कहा कि सर्व का त्याग किए बिना कुछ त्याग महत्वपूर्ण नहीं है । और अहंकार का त्याग ही सर्व का त्याग है । चित्त का त्याग ही सर्व का त्याग है ।

यदि तुमने लोभ छोड़ा, अहंकार को बचाकर रखे तो तुम्हारे अलोभवृत्ति में भी अहंकार खड़ा हो जावेगा । देखो त्यागी महात्मा को, वह त्याग से अकड़ा हुआ है । देखो अन्न त्यागी को, वह फल, पत्ते, दुग्धाहार में अकड़ा खड़ा हुआ है । देखो मौनी बाबा को, देखो स्वपाकी को, देखो विनम्री को, वह ज्यादा अहंकार लिए खड़ा हुआ है । लोगों में सादगी, उपवास, मौन, त्याग, अपरिग्रहादि बाह्य क्रिया करके भी अहंकार बलवान् हो रहा है । अगर तुम उससे कह दो आपकी तरह पास के जंगल में पहाड़ी पर एक और संत आप ही की तरह त्यागी, मौनी, फलाहारी रहते हैं, तो उसे चोट लग जाती है । वह कहेगा फिर मेरे पास क्या करने आए हो, वहीं क्यों न गए ?

तुम झुकते हो, प्रणाम करते हो, दीन वचन बोलते हो, तो उसमें भी अहंकार छुपा रहता है । जब पुजारी पूजा कर रहा हो, तब यदि भीड़ आ जावे तो ज्यादा टाइम पूजा आरती करता है, ज्यादा मंत्र, श्लोक बोलता है । कीर्तन वाले भीड़ देखकर ज्यादा उछल-कूद करते हैं, अहंकार फूलता है । किन्तु भीड़ न हो तो पुजारी जल्दी ही पूजा काम समाप्त कर ताला बन्द कर घर चला जाता है ।

तुम अन्धकार से सीधे मत लड़ना, नहीं तो हार जाओगे । बस,प्रकाश की चेष्टा करना तो अन्धकार विलीन हो जावेगा । इसी प्रकार तुम काम, क्रोध, लोभ, मोह से सीधे मत लड़ना । तुम्हारी लड़ाई एकमात्र अहंकार से है । अहंकार को मारने का एक ही उपाय है ध्यान, होशियारी, सजगता, साक्षी भाव । क्योंकि जैसे तुमने द्रष्टा भाव का ध्यान किया, साक्षी भाव किया, वैसे ही तत्क्षण ये सब काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शान्त होने लग जाते हैं । जितने तुम कर्ता रहोगे, उतने ही तुम मुर्च्छित रहोगे, अहंकार उतना ही बढ़ता रहेगा । जितने तुम होश में रहोगे, उतनी ही अहंकार की मृत्यु होती चली जावेगी । जिस दीन तुम पूरे होश में आ जाओगे, उसी दिन अहंकार खो जाता है । अगर अहंकार को मिटाना है तो आत्मभाव, साक्षीभाव में जागना होगा । ज्यादा होशपूर्वक जीना है । चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, आते-जाते, होश बना रहे कि मैं समस्त द्वन्द्व से बाहर साक्षी

मात्र हूँ, यह होश बना रहे । मूर्च्छित हो मत जीना, नींद में जीवन नष्ट मत करना । जो भी करो जानते हुए, जागते हुए होश पूर्वक करना ।

योगः कर्मसु कौशलम्

तुम चकित हो जाओगे । कभी तुमने होशपूर्वक, जागते हुए, जानते हुए क्रोध किया है ? तुम कर ही नहीं पाओगे, तो क्रोध वहीं रुक जावेगा । जैसे ही तुम जागोगे, साक्षी भाव में उसी समय क्रोध का सिलसिला टूट जावेगा । ठीक बीच में जाग जाओगे, तो क्रोध आधा ही टूट जावेगा, रुक जावेगा । क्योंकि क्रोध को आगे चलने के लिये मूर्च्छा चाहिए । काम वासना चलाने को मूर्च्छा चाहिए । किन्तु होश में आते ही, साक्षी भाव में आते ही काम शान्त हो जाएगा ।

आत्मभाव जितना गहरा चला जाएगा, उतने ही पाप तिरोहित हो जायेंगे । मूर्च्छा ही अहंकार की जननी है । अमूर्च्छा निरहंकार की जननी है । उस दिन तुम जानोगे कि तुम मिट गए, जो तुम कल तक थे, जो कूड़ा-करकट, गन्दगी थी । लेकिन बचा जो स्वर्ण था । जो बचा वह महिमावान् है, जो गया वह क्षुद्र था ।

इस शुद्ध स्वर्ण को पाने हेतु मृत्यु जैसी अग्नि से गुजरना पड़ता है । अपने आप को सम्पूर्ण मिटाने जैसा होना पड़ता है । निरहंकार में अहंकार की मृत्यु है । जो मैं नहीं हूँ, उस असत्य को स्वीकार करने से वह पैदा है, जो मैं है, नित्य है । सत्य को अस्वीकार करने से अहंकार की सुरक्षा है । मृत्यु तुम्हें निखारती है । अहंकार मरेगा तो तुम स्वर्ण की भाँति शुद्ध प्रकट हो जाओगे । थोड़ा बुद्धि को शिथिल करो, रिलेक्स करो, ढीला करो ताकि भीतर हृदय में प्रवेश कर सको । किन्तु समाजिक ज्ञान प्रशिक्षण, शिक्षा, आयोजन अभ्यास से आती है । बुद्धि के विद्यालय है, हृदय के नहीं ।

अन्धेरा तोड़ने में व्यक्ति डरता है क्योंकि डर यह है कि तुम्हारी बर्षों से संग्रहित मान्यताएँ, अन्धविश्वाँस की प्रतिमाएँ टूट जावेगी । अपनी बेइमानियाँ, अपने पाखण्ड को उघाड़ने के लिए तुम राजी नहीं होते हो । क्योंकि तुमने उसे अपने प्राण से ज्यादा महत्व देकर वर्षों से पाला है । भला उसे छोड़ देंगे, तो

डर यह होता है कि लोग क्या कहेंगे ? मैं नासमझ सिद्ध हो जाऊँगा । डर यही है कि हमने अपने आसपास झूठ का जाल फैला रखा है, वह उघड़ जावेगा । आत्मा को जानना तुम चाहते हो किन्तु बिना झूठ के जाल, मान्यता एवं अन्धविश्वाँस तोड़े, तो यह कैसे हो कि अन्धकार को बनाए रखते हुए प्रकाश हो जावे । यह कभी नहीं हो सकेगा । आत्मा का जानना तभी सम्भव होगा, जब तुम अहंकार संग्रह करना बन्द कर दोगे एवं पुराने अहंकार को तोड़ने के लिए सर्वस्व समर्पित करने के लिए सद्गुरु के सम्मुख प्रस्तुत हो जाओगे । क्या अभी समय नहीं आ गया कि तुम तोड़ डालो सभी मिथ्या अहंकारों की जंजीरों को एवं सत्य को सीधा सद्गुरु के पास जाकर जान लो ? अपने असली स्वरूप को, ज्योति स्वरूप को पहचान लो एवं देह दीपक से मिथ्या ममता अहंकार तोड़ लो । काफी तुम कष्ट भोग चुके हो, काफी पीड़ा भोग चुके हो और कितना कष्ट भोगना चाहते हो ? सदियों से भोगते आ रहे हो अभी भी कष्टों से मन नहीं उपराम हुआ । जिस दिन तुम थक जाओगे कष्टों के भोगने से, झूठ को छिपाए रखने से, उसी दिन तुम्हारे लिए सत्य के द्वार खुल जावेंगे । यदि तुम्हारा मन तुम्हारे मिथ्या अहंकारों से अनित्य पूजा, पाठ, जप, तप, तीर्थ से उपरामता को प्राप्त नहीं हुआ तो तुम्हारी सत्य के सम्बन्ध की खोज सत्य नहीं है । तुम्हारी सब खोज व्यर्थ है । अभी सही दिशा की ओर कदम भी नहीं रखा, अन्यथा एक-एक कदम सत्य की ओर बढ़ता तो अभी तक सत्य की यात्रा सम्पूर्ण हो गई होती ।

तुम्हारे मान्यता में ही तुम्हारा होना है, तुमने भिखारी माना, तुम भिखारी बन जहाँ-तहाँ हाथ जोड़े, घुटने टेके, झोली फैलाये, सर झुकाए मांगते फिर रहे हो । जिन्होंने अपने को सम्राट जाना वे सम्राट हो गए, ब्रह्म हो गए ।

तुम्हारे दीपक में ही ज्योति छिपी है तुमने तो अपने को मात्र दीपक ही मान रखा है । तुमने अपने को पहचाना ही नहीं कि तुम एक ज्योति हो, आत्मा हो । तुम देह नहीं हो । देह तो एक मिट्टी का दीपक है । तुम आत्मा चैतन्य ज्योति स्वरूप हो । जब तक मिट्टी का दीपक तुम्हारे अहं में जुड़ा है, तब तक जन्म-मृत्यु बना रहेगा । जब तुम अपने को ज्योति आत्म-स्वरूप

जानोगे तभी मुक्त हो सकोगे । चारों तरफ प्रकाश फैलने लगेगा, जिससे दूसरों को भी मार्गदर्शन मिलने लगेगा । अभी तुम दीपक से जुड़े हो अन्धेरे में हो और जो तुमसे जुड़ जावेंगे, उन्हें भी मुश्किल में पड़ना पड़ेगा । वे भी तुम्हारे सम्बन्ध से कष्ट भोगेंगे । तुम जिसके जीवन में प्रवेश करोगे उसे भी मुसीबत में डाल दोगे । जब तक देह भाव तुम्हारे में है, तब तक तुम्हारे सभी सम्बन्धी, मित्र, शिष्य, संसार बन्धन में पड़े रहेंगे । यदि तुम देह से मुक्त हो गये, अन्धेरे से निकल आए तो सभी को मार्गदर्शन कर मुक्त कर सकोगे । रोशनी तुम्हें कहीं से लाना नहीं, वह तुममें छिपी पड़ी है । सिर्फ मिट्टी के दीपक से सम्बन्ध तोड़ना है ।

यह भाव मन में भर जाने की जरूरत है कि यह मिट्टी का पिण्ड मैं नहीं हूँ । माँ-बाप के रज-वीर्य रूप निकृष्ट धातु से बना मैं पाँच भौतिक शरीर मैं नहीं हूँ । मैं चिन्मय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तानन्द आत्मा हूँ । बस थोड़े से मनोभाव परिवर्तन की जरूरत है । तुम्हारी आँखें जड़ हो गई है देह को मैं मानने के कारण ।

बाह्य दीपक तेल समाप्ति पर बुझ जाता है, किन्तु यह चैतन्य ज्योति देह समाप्ति पर भी नहीं बुझती । फिर नए दीपक में प्रवेश कर वहाँ प्रकाश करने लग जाती है । यह ज्योति कभी नहीं बुझने वाली है जो वर्तमान तुम्हारे देह में प्रकाश कर रही है । मरने के बाद एवं जन्म के पूर्व माँ के गर्भ में भी एक रस ही रहती है । पिछले देह में प्रारब्ध तेल समाप्त हो गया तो देह छूट गया । ज्योति वहाँ से मुक्त हो गई थी एवं नया तेल प्रारब्ध ले नए देह दीपक में वर्तमान प्रकट हो रही है । जन्म,बाल्य, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्धा आदि सभी छोटे-से-छोटे एवं बड़े से बड़े दीपक को प्रकाशित करने वाली अखण्ड ज्योति तुम स्वयं हो । जैसे साक्षी की पहचान होने लगती है, ज्योति का प्रकाश मिलने लगता है, तुम देह से ममता दूर होते हुए देखते हो । फिर मरणधर्मी देह दीपक को नहीं पकड़ते हो । जब तक दीपक के प्रति श्रद्धा है, तब तक अन्धेरे में रहोगे । बड़े से बड़ा पद, प्रतिष्ठा वाला देह दीपक ज्यादा अन्धकार फैलाता है । ज्योति की ओर उसका विचार ही नहीं जागता । क्योंकि दीपक के साथ एकात्मता जोर से कर लेती है ।

याद रखो ! जहाँ तुम्हें जाना है, वहाँ तुम पहले से ही बैठे हो । किन्तु जब तुम्हें कोई ऐसा कह दे कि ''तू ब्रह्म है'' तो तुम्हें विश्वाँस ही नहीं होगा । जैसे कोई शराबी जो घर द्वार पर ही खड़ा है और वह अपने घर पहुँचने का मार्ग पूछता हो और कोई उसे थोड़ी देर इधर-उधर भटका, घुमा, साईकिल, मोटर पर बिठा वहीं लाकर छोड़ देता है तो उसे विश्वाँस हो जाता है कि मैं पहुँच गया । इसी तरह ध्यान, प्राणायाम, कसरत करा वहाँ लाकर कोई गुरु बैठा जाता है तो तुम्हें लगता है कि यह कोई समझदार आदमी मिला, जिसने मुझे ठीक स्थान पर छोड़ दिया । ठीक साधन बता दिया । यात्रा के तुम इतने आदि हो गए हो कि बिना चले पहुँचने का विश्वाँस ही खो दिया । वेद जबकि कहता है ''नान्यः पन्था'' भागो नहीं जागो ।

प्रेम में शिकायत कहाँ ?

प्रेम प्रेम सब कोई कहे, प्रेम न चीन्हें कोय ।
सब समय डूबा रहे, प्रेम कहावे सोय ।।

जहाँ शिकायत है, जहाँ त्रुटि दिखाई पड़ती है, जहाँ कुछ अपेक्षा है, जहाँ किसी प्रकार की आशा है, वहाँ प्रेम कहाँ है ? वहाँ केवल प्रेम के नाम पर व्यापार है । वहाँ शिकायत होती है कि मैंने तो उससे इतनी आशा की थी, मैंने उसके साथ इतना किया, उसने मेरी तरफ देखा नहीं, मुझको प्यार नहीं किया, मुझसे बात भी नहीं की–

हम अपने प्रेमी के प्रति ऐसा क्यों सोचते हैं ? क्योंकि हम खुद प्रेम में डूबे नहीं है, हमारा प्रेम ऊपरी तल पर हो रहा है, तभी तो हमें यह सब देखने का समय मिलता है कि वह किसको चाहता है ? क्या करता है ? हमारा मन प्रेम में नहीं, मात्र ईर्ष्या में डूबा हुआ है ।

जो अपने में तल्लीन है, जो अपने जीने में तल्लीन है, वह दूसरे के जीवन में बाधा देने आएगा ? उसे फुरसत कहाँ है ? यानी मैं खुद प्रेम करूँ या दूसरों के प्रेम का पता लगाऊँ ? यह आश्चर्य है कि मैं गुरु के प्रेम का पता लगाऊँ कि वह किसको किसको प्यार करते हैं, किसको कम, किसको ज्यादा या किसको नहीं करते हैं ? या मैं प्रेम करूँ ? वास्तव में वह व्यक्ति प्रेम करने से चूक गया तो अपने प्रेम करने के स्थान पर अपने प्रेमी के प्रेम का निर्णय लेने चला है वह भी मुझे प्यार करते हैं या नहीं । जब कोई अपने प्रेमी के प्यार को तोल रहा है, तब वह स्वयं प्रेम में डूब नहीं रहा है क्योंकि जो प्रेम में

डूबता है, वह अन्य का विचार छोड़ देता है तब उसे जाति, उम्र, सम्बन्ध, समाज, धर्म, पापादि का विचार नहीं होता । असल में मैं प्रेम से चूक जाता हूँ, तभी तो दोनों में से किसीको तलाक देने का विचार मन में आता है । तब फिर औरों के प्रेम का पता लगाता रहता हूँ कि कौन किससे प्यार करता है ? तब मैं ईर्ष्या से भर जाऊँगा, तब मैं क्रोध से भर जाऊँगा । मैं उन्हीं के सम्मुख निन्दा करने लग जाऊँगा, जहाँ-जहाँ, जिस-जिस में प्रेम का जीवन दिखाई पड़ रहा है । अब मेरा एक ही रस रह जावेगा कि मैं तो चूक गया, किन्तु जो ये प्रेम कर रहे हैं, यह कैसे प्रेम करना छोड़ दें ।

प्रेम प्रेम सब कोई कहे, प्रेम न जाने कोई ।
दोष न दीखे पिउ में, प्रेम कहावे सोई ।।

यदि हमें प्यार करना अच्छा लगता है तो हम करते रहे मजनु-लैला की तरह । कोई कारण नहीं कि हम इसका पता लगायें कि कौन व्यक्ति है ? यह कैसा व्यक्ति है ? हमारा प्यार सचमुच में है तो बस हम प्यार करते रहे, हम क्यों सामने वाले व्यक्ति से आशा, अपेक्षा करें । और हमें जानने की भी जरूरत क्या ? हम उनके प्यार में बाधा पहुँचाने वाले होते कौन ? इसलिए प्रेमी के प्रेम को तौलनेवाले, देखने वाले वह प्रेम कर ही नहीं रहे, बल्कि वह प्रेम से बहुत दूर पर हैं ।

प्रेम शब्द सब कोई कहे, प्रेम न बूझे कोई ।
शीष काटि चरण धरे, प्रेम कहावे सोई ।।

आप प्यार करते हैं, आपको प्यार करना अच्छा लगता है, बस इतना ही पर्याप्त है । वो जैसे हैं, ठीक है, मैं क्यों उनकी जीवन में बाधा पहुँचाऊँ । परमात्मा ने उसे श्वाँस लेने का, प्रकाश पाने का, पानी पीने का, पृथ्वी पर चलने का, उसे पूरा हक दे रहा है । फिर मैं क्यों व्यर्थ में उसके जीवन को देख परेशान होता हूँ कि वह पापी है, वह चोर है, वह भिखारी वह कामी है । तुम तुम हो, वह वह है, वह अपने ढंग से जी रहा, तुम अपने ढंग से जीते रहो । हमें क्या हक है जो हम दूसरे के जीवन पद्धति की निन्दा करें, उसे देख ईर्ष्या करें, उसके विरोध में कहें ।

एक फकीर बायजीद हुआ । उसे वहाँ का राजा बहुत मानता था, लेकिन वह संत राजा से कहता तुम नाहक इतना आदर सेवा मत दो, क्योंकि जो लोग भी आदर देते हैं, वह फिर किसी दीन अनादर, अपमान, गालियाँ, निन्दा भी करते हैं । और फिर तुम मेरे ही पास नहीं आते और भी कई संतों के पास जाते हो एवं फिर उनकी बाते करते हो कि वह संत अच्छा नहीं वह किसी लड़की को लेकर भाग गया । उसे किसी औरत के साथ देखा, वह यह खा रहा था, वह पी रहा था । तो आज नहीं कल मेरी बातें भी किसी और के यहाँ जाकर कहेगा यह बात मैं अच्छी तरह जानता हूँ । तब राजा कहता है – नहीं आप सबसे निराले हैं, आप ऐसे नहीं, आप की तो बात ही और है । आपके प्रति मैं स्वप्न में भी ऐसी निंदा नहीं कर सकता ।

एक दिन राजा शिकार को गये, नदी के पास वृक्ष के नीचे बायजीद को एकान्त में एक स्त्री के हाथ पकड़े देखा । वह स्त्री सुराही से कुछ पिला रही थी । राजा ने यह देखा एवं सोचा – जिसको मैंने आदर दिया वह भी आखिर यही निकला । चलो घोड़ा बढ़ाकर इससे नमस्कार करते हुए निकल जावें ताकि इसे भी पता लग जावे कि राजा ने मुझे देख लिया एवं लज्जा से फिर मेरे समीप न आ सकेगा । राजा ने घोड़ा बायजीद के समीप ले जाकर नमस्कार किया । बायजीद ने कहा दूर से मत निकल जाना और पास आओ, फिर जाना । राजा ने काहा – ''बात खतम हो गई अब और कुछ मुझे ज्यादा जानने की जरूरत नहीं । जान लिया इस पाखण्डी महिला के साथ तुम हो । यह एकान्त जंगल, यह शराब, यह युवती ।'' बायजीद ने उसका घूंघट बुरका उघाड़ दिया, वह उसकी माँ थी । वह सुराही उड़ेल दी, जिसमें पानी था । अब बायजीद ने कहा – ''तुम जाओ एवं फिर कभी मत आना, अब बात खतम हो गई । अब मेरे पास कभी मत आना ।'' राजा ने काहा – ''नहीं, मुझे माफ कर दो, मुझसे बहुत बड़ी भूल हो गई ।''

बाहर की पहचान देखकर तुम निर्णय ले चुके । औरत, शराब, जंगल, एकान्त । किन्तु सत्यता कुछ और ही थी । हम हैं ही कौन किसी अन्य के सम्बन्ध में निर्णय लेने वाले ? और मुझे हक किसने दिया कि मैं

आपको पहचानूँ ? मैं अपने को जानने में तो असमर्थ हूँ एवं दूसरे के लिए १००% निर्णय देने की कुचेष्टा करता हूँ ।

किसीकी निन्दा करने के पहले तीनबात विचारलें ।

एक समय महान ज्ञानी सुकरात के समीप एक अनजान व्यक्ति ने आकर कहा कि मैंने तुम्हारे मित्र के सम्बन्ध में कुछ सुना है ।

तब सुकरात ने कहा जरा एक मिनिट् ठहरो । तुम मेरे दोस्त के बारे में जो कहने जा रहे हो क्या तुम्हें उसकी सत्यता का पूर्ण विश्वास है ?

अनजान व्यक्ति – नहीं ! मैं केवल उसे सुनकर ही बताने जा रहा हूँ ।

सुकरात फिर दूसरा प्रश्न किया कि जो तुम कहने जा रहे हो वह कोई अच्छाई की बात है ?

अनजान व्यक्ति – नहीं ! मैं उसके विरोध में कहने जा रहा हूँ ।

सुकरात –क्या वह खबर मेरे लिये उपयोगी है ?

अनजान व्यक्ति – नहीं ! कोई कुछ उपयोगी नहीं है ।

सुकरात – जब सत्य नहीं, अच्छी नहीं तथा उपयोगी नहीं तब हम एक व्यर्थ बात कहकर अपने व दूसरे का अमुल्य जीवन क्यों नष्ट करें ?

मृत्यु क्या है ?

यदि तुम समझ गए कि जीवन क्या है तो तुम यह भी समझ जाओगे कि मृत्यु क्या है ? क्योंकि मृत्यु जीवन का ही एक अंग है । मृत्यु जन्म का एवं जन्म मृत्यु का दूसरा पहलू है । एक वस्तु के दो छोर या नदी के दो किनारों की तरह ।

प्रायः हम सभी सोचते हैं कि मृत्यु जीवन के अन्तिम क्षण में उपस्थित होती है । मृत्यु जीवन के विपरीत घटना है । मृत्यु एक शत्रु है हमारे जीवन का । नहीं । मृत्यु शत्रु नहीं । यदि मृत्यु को शत्रु मान लिया तो फिर आप जीवन को नहीं जान सकेंगे । मृत्यु एवं जीवन एक ही शक्ति के दो (पोलारीटी) पहलू हैं । सर्दी-गर्मी, दिन-रात, बन्धन-मुक्ति, यह कोई अलग-अलग घटना नहीं, यह कोई अलग वस्तु नहीं, यह कोई विपरीतता नहीं, ये परस्पर पूरक हैं । मृत्यु जीवन का अंत नहीं है । वास्तव में तो यह एक जीवन की पूर्णता है, मृत्यु तो नूतन जीवन की जन्मदात्री माता है । जब तुम जीवन को पहचान सकोगे कि मेरे जीवन का आधार क्या है, तभी तुम मृत्यु को भी जान सकोगे ।

मृत्यु जीवन का परमावश्यक हिस्सा है, आधार भूमि है, इसके बिना जीवन जीवन नहीं । वियोग न हो तो संयोग का क्या सुख है ? अन्धकार न हो तो प्रकाश का क्या महत्व ? दुःख न हो तो सुख का क्या आनन्द ? सर्दी न हो तो गर्मी का क्या आनन्द ? मृत्यु तो जीवन का नवीनीकरण (renewal) है ।

मृत्यु हर क्षण की घटना है । जीवन हर क्षण नवीनीकरण पर निर्भर रहता है । हर समय श्वाँस भीतर एवं बाहर हो रही है । श्वाँस का भीतर आना जीवन है एवं बाहर जाना नवीनीकरण है । कार्बन डाई आक्साइड के रूप में दूषित श्वाँस बाहर जाती है एवं शुद्ध होकर पुनः आक्सीजन प्राण शक्ति के रूप में मिलता है ।

जब बच्चा पैदा होता है तो प्रथम श्वाँस प्रारंभ करता है एवं जब मृत्यु होती है तो श्वाँस बाहर जाता है । श्वाँस का भीतर आना जीवन एवं बाहर जाना ही मृत्यु कहलाता है । दोनों स्थिति एक पक्षी के दो पंख अथवा गाड़ी के दो समान चक्र के तुल्य आवश्यक एवं पूरक है । श्वाँस का बाहर जाना ही श्वाँस के भीतर लौटने का अंग है एवं श्वाँस का भीतर आना ही उसके बाहर लौटने का हिस्सा है । यदि तुम श्वाँस को बाहर जाने से रोक दोगे तो तुम श्वाँस को भीतर नहीं ले सकोगे । यदि मृत्यु को रोक दिया तो तुम जीवन नहीं पा सकोगे । प्राणी हर क्षण भूत को मार भविष्य को जन्म दे रहा है ।

प्रायः लोग ऐसा सोचते हैं कि जीवन तो अच्छा है किन्तु मृत्यु दुःखद घटना, बुरी बात है । इसीलिए अज्ञानी व्यक्ति जन्म के समय हर्षोल्लास एवं मृत्यु पर रोना पीटना करते हैं । हम हमेशा मृत्यु को उपेक्षणीय दृष्टि से देखते रहते हैं एवं जीवन का स्वागत करते हैं । हम हमेशा मृत्यु से बचाव के नाना उपायों को खोजते, अपनाते रहते हैं । किन्तु यह मूर्खता का विचार है । जिसका जन्म है उसकी मृत्यु निश्चित है, इसे कोई रोक नहीं सकता । जो मृत्यु को रोकने के लिए सारे जीवन संघर्ष करता रहेगा वह जिन्दगी का, जीवन का मजा नहीं ले सकेगा । क्योंकि वह सब समय मृत्यु के भय से भयभीत बना रहेगा। जो श्वाँस छोड़ने में डरता रहेगा वह श्वाँस को अन्दर ग्रहण नहीं कर सकेगा । यदि तुम जीवन चाहते हो तो तुम्हें प्रतिक्षण मृत्यु के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए ।

विचारो ! तुम्हारे भीतर मृत्यु से कौन भयभीत है ? आत्मा या शरीर ? आत्मा तो कभी मरती नहीं, उसे डर क्यों होने लगा ? शरीर तो जड़ है उसे जीवन व मृत्यु में क्या अंतर ? मृत शरीर को जला देते हैं, वह रोता चिल्लाता नहीं ? क्या जीवन-मृत्यु से डरता है ? यह असम्भव बात है । जीवन अपने

जीने के ढंग (श्वाँस ग्रहण-त्याग) से कैसे विरोधी हो सकता है ? कैसे डर सकता है ? तब यह डरने वााला कोई और ही है और वह है तुम्हारा अनित्य वस्तु, सम्पति, परिवार पर ममता, अहंतापन । अहंकार यह कि यह शरीर नहीं रहेगा, यदि मृत्यु आगई तो यह पुराना सामान मेरे हाथों से छिन जावेगा । जिस कचरे को मैंने बहुत मेहनत से, संग्रह किया है ।

जीवन एवं मृत्यु एक दूसरे के विपरीत नहीं है बल्कि मृत्यु एवं अहंकार ही विपरीत हैं । क्योंकि प्रत्येक घटना मृत्यु के समीप जीवन को खड़ा कर रही है । यदि तुम जीवन जी रहे हो तो यह तुम्हें मृत्यु के समीप ला रही है । बैंक में रख संचित् धन को तुम निकालने लगे, वह समाप्ति की ओर ले जा रहा है । यह अहंकार ही मृत्यु को डरता है और इस अहंकार के डरने का कारण है अज्ञान । यह जीव नहीं जानता है कि मैं अमृत स्वरूप हूँ, बल्कि देह में मैं भाव कर मृत्यु से भयभीत होता रहता है । जीव अनादि काल से शरीरों को बदलता आ रहा है, जबकि आज तक कभी किसी शरीर की मृत्यु द्वारा इस जीवकी मृत्यु नहीं हुई । कई लोग ऐसे ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जिनके जीवन में कोई रोशनी, कोई खुशी, कोई उमंग-उत्साह नहीं है । वे न जीने में हैं न मरने में । उनसे यदि कोई पूछे भी कि आप कैसे हैं, क्या कर रहे हैं ? तो वे यही कहेंगे, बस समय गुजार रहे हैं ।

जिसने जीवन का मजा लिया, वही मनुष्य मृत्यु का भी स्वागत करता है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी मृत्यु को अपने कन्धे पर ढोकर ही चल रहा है । न चाहने पर भी सभी कदम मृत्यु के मार्ग को छोटा करते जा रहे हैं । हर श्वाँस मृत्यु के समीप पहुँचा रहा है । अतः मृत्यु से डरने का कोई लाभ नहीं, बचाव का कोई रास्ता नहीं । जीवन को पूरे ढंग से जी लो, ताकि फिर पछताना न पड़े कि मैंने यह काम नहीं किया । याद रखो ! मृत्यु एवं जीवन साथ-साथ चल रहे हैं, उन्हें कोई पृथक् नहीं कर सकता ।

बच्चे से जवान, जवान से बूढ़े होने की कोई लक्ष्मण रेखा अंकित नहीं की जा सकती । यह जन्म-मृत्यु का क्रम अनादि से चल रहा है एवं ज्ञानोदय होने से पूर्व इसका अन्त नहीं है । श्वाँस रुक जाना मृत्यु नहीं है । कई योगी श्वाँस रोक वर्षों, महीनों, दिनों व घंटों पड़े रहते हैं एवं फिर उसी शरीर में चेतना

को लौटा लाते हैं । अतः श्वाँस रुक जाना भी वास्तव में मृत्यु नहीं है । एक शरीर में सोकर दूसरे शरीर में जग जाना ही जन्म-मृत्यु नाम से पहचाना जाता है । जीवन क्या है ? किसी एक शरीर के साथ तादात्म्य । मृत्यु क्या है ? बस उस शरीर से तादात्म्य टूट जाना । दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाना । जैसे एक कपड़ा छोड़ दूसरे कपड़े को धारण कर लेना या एक मकान को छोड़ दूसरे मकान में प्रवेश हो जाना । जब किसी व्यक्ति को अपने मकान में रहते-रहते ज्यादा मोह आसक्ति हो जाती है, तब उसे नए मकान में प्रवेश करने से बहुत मानसिक कष्ट होता है । यहाँ तक कि वह रोने भी लगता है कि हाय मेरा सब कुछ चला गया । जो आज तक मैंने उसे सजाया था, रंग किया था, दीवार मजबूत की थी, गहरी नींव डाली थी, वृक्ष-पौधे लगाए थे, बगीचा सजाया था, ८ घंटे रोज उसके साथ काम करता था, आज छोड़ जाना पड़ता है । ये सरकारी कर्मचारी लोग कम दुःखी होते हैं मकान, नगर, ऑफिस, पोस्ट छोड़ने में क्योंकि इन्हें तीन साल में प्रायः ट्रान्सफर (स्थानान्तर) कर दिया जाता है । यह सरकारी तौर पर उन्हें वैराग्य दिलाने की अच्छी नीति है । किन्तु जो ज्ञानी है, वे जानते हैं कि मैं मकान बदल रहा हूँ, मुझमें कुछ नहीं बदलता । इस प्रकार जो ज्ञानी अपने वास्तविक रूप आत्मा को जान लेते हैं, वे देहान्तर प्राप्ति के लिए चिन्तित नहीं होते हैं । मृत्यु जीवन का हिस्सा है । जीवन को नव निर्माण कराने में सहायक है । पुराने को बदल कर नूतन, ताजा, स्फूर्तिदायक, आशावादी जीवन भूमिका प्रदान करने की आधारशिला मृत्यु ही है ।

यदि तुम जीवन को समझ सको तो मृत्यु को भी समझ सकोगे । जीवन अपने वास्तविक घर परमात्मा को भुलाने का मार्ग है, तो मृत्यु अपने जीवन के वास्तविक मूल स्वरूप को याद दिलाने का अलार्म है । जीवन अपने मूल स्वरूप परमात्मा से दूर ले जाता है, जबकि मृत्यु उस बाहर घर से दूर व्यक्ति को पुनः घर (परमात्मा) की ओर लौटाने की व्यवस्था है । मृत्यु असुन्दर, कुरूप नहीं है, बल्कि मृत्यु से ज्यादा कोई सुन्दरतम नहीं है लेकिन अज्ञानी लोगों ने उसे भयानक काला कुरूप देकर सींग, बड़े दाँत, लम्बे नाखून बनाकर भयभीत करने वाली बड़ी-बड़ी आँखे वाला असुन्दर मान रखा है ।

मृत्यु उन्हीं भाग्यशालियों को प्रिय होती है, जिन्होंने जीवन को श्रद्धा एवं प्राणपन से प्यार से जीया है । जो मरने से नहीं डरे हैं, वे बहादुर लोग हैं, जिन्होंने अपने जीवन का शोषण नहीं किया । जीवन में रुकावट नहीं डाली, जो अपने ढंग से जीते रहे, लोगों की परवाह किए बिना जैसे कृष्ण, मीरादि, प्यार से जीते रहे । जो प्रेममय प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, उनका ही जीवन सार्थक है, शेष सभी मर-मर कर भोग रहे हैं, जी रहे हैं । ऐसे डरपोक न भोग में पूरे उतर सकेंगे न वैराग्य में । वैराग्य के समय भोग की वासना झकझोरने लगेगी एवं भोग के समय वैराग्य की भावना मन में उतरने लगेगी ।

मृत्यु तुम्हारे जीवन का दर्पण है । यदि तुम जीवन में प्रसन्नतापूर्वक, सुखपूर्वक, निर्भयता पूर्वक जीते रहे तो मृत्यु भी प्रसन्नतापूर्वक होगी, सुखपूर्वक होगी, निर्भयता पूर्वक होगी । यदि तुम जीवन में दुःखी भयभीत अशांत अतृप्त होकर जीते रहे तो तुम्हारी मृत्यु भी उसी प्रकार दुःख रूप होगी । यदि तुम देह व मन की सुविधा पूर्ण जीवन व्यतीत करते हो तो फिर तुम्हें मृत्यु दुःखद भयानक प्रतीत होगी, क्योंकि अब वह सुन्दर, सुकुमार, शरीर छोड़ना पड़ रहा है ।

शरीर तो एक सराय, धर्मशाला, पुराना वस्त्र मात्र है । यह तो सुबह या शाम छोड़ना ही होगा । यह हमारा वास्तविक स्थायी निवास स्थान नहीं है । यदि तुम सारे जीवन शरीर के तल पर ही जीते रहे, शरीर के सुख-सौन्दर्य शक्ति को अपना मानते रहे तो फिर मृत्यु तुम्हारे लिए एक भयानक स्थिति बन जावेगी ।

यदि आप शरीर से ऊपर होकर जीये, मानसिक स्तर पर तुमने प्रकृति, सौन्दर्य, संगीत, पक्षी, पहाड़, झरने, जंगलों, चाँद, सूर्य, तारों को चाहा तो फिर शरीर की मृत्यु तुम्हारे लिए उतनी बुरी सिद्ध नहीं होगी, जितनी कि देह को ही सुख का साधन मानकर जीनेवालों के लिए होती है, किन्तु यह भी वास्तविक जीवन नहीं है ।

यदि आप शारीरिक सुख एवं मानसिक सुख से भी ऊपर मन, बुद्धि के पार, अपने शुद्ध चैतन्य में प्रवेश कर गए तो जीवन धन्य हो गया, मृत्यु

फिर एक महान उत्सव बन जावेगा । जहाँ मृत्यु अमृत हो जाती है, फिर मृत्यु मृत्यु नहीं रह जाती । जहाँ जाकर मैं-मैं नहीं, तू-तू नहीं रहता । तब बुद्धि में यह, वह नहीं रहता । जहाँ जाकर शरीर एवं मन के सभी सुख तिरोहित हो जाते हैं । तब तुम केवल शुद्ध चैतन्य ज्ञान स्वरूप ही रह जाते हो, तब मृत्यु एक महान उत्सव हो जाता है । फिर मृत्यु परमात्मा के मिलन का द्वार हो जाती है ।

जिन्होंने शरीर के भोजन एवं मैथुन को ही जीवन का सच्चा सुख जाना एवं जो सदा इसी में लगे रहते हैं, उन्हें मृत्यु की चर्चा सुनकर भी भय होने लगता है व मृत्यु से दूर भागना चाहते हैं । मृत्यु को शत्रु जान उससे लड़ना चाहते हैं, महा मृत्युन्जय मन्त्र का जप करना चाहते हैं । मौत तो आवेगी उससे भागने से, छोड़ नहीं देगी । प्रत्युत् मृत्यु तो भागने वाले के साथ उसके कन्धे पर बैठ साथ ही जा रही है । लेकिन उन भोगी विलासी डरपोकों के लिए मौत मैत्री बनकर नहीं, शत्रु बनकर खड़ी होगी ।

जिन्होंने कवी, संगीतज्ञ, विचारक के रूप में जीवन व्यतीत किया है, उनके लिए मृत्यु एक आराम है, एक गहन निद्रा है, उनके लिए मृत्यु बुरी नहीं है, शत्रु नहीं है । यह शरीर तल पर जीनेवालों से श्रेष्ठ है, क्योंकि इन्होंने अपने शरीर से ऊपर कुछ तो अन्य जाना है । वे केवल सम्भोग एवं भोजन के लिए ही नहीं जी रहे थे, किन्तु ये भी सत्य से अभी बहुत दूर हैं ।

जब तुम जीवन को पहचान लोगे, तभी मृत्यु को जान सकोगे । क्योंकि मृत्यु जीवन का ही हिस्सा है, सूर्यास्त सूर्योदय का ही हिस्सा है । प्रायः लोग सोचते हैं कि मृत्यु सबसे अन्त में आती है, एवं जो जीवन के विरुद्ध है । किन्तु याद रखे ! मृत्यु एवं जीवन एक ही शक्ति के दो छोर हैं ।

जो मृत्यु से डरता है, उस व्यक्ति ने जीवन को व्यर्थ किया, जीवन में कुछ नहीं कर पाया । यदि जीवन को नहीं खोया, तब उसे मृत्यु का भय नहीं हो सकेगा । जिसने जीवन जीया है, वह मृत्यु के लिए सदा तैयार रहता है, मृत्यु का स्वागत करता है, सुकरात, जीससवत् ।

कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष की ओर

जिसे हम शरीर कहते हैं, वह हमारे लिए मुर्दा लाश से ज्यादा नहीं है । एक चलती-फिरती स्मशान । यह लंबा विस्तार जन्म से शरीरान्त तक चलता रहता है । श्वाँस-श्वाँस मर रहा है, घट रहा है, बस आहिस्ता-आहिस्ता, धीरे-धीरे मरते हुए जाने का ही काम चल रहा है । हमारी यात्रा किसी दिशा में किसी कार्य में हो, किन्तु श्वाँस-श्वाँस देह मृत्यु के ही मुख में जाने की राह में चल रहा है ।

जिस भाँति हम जीते हैं, उसे हम मृत्यु कहें, नाम मात्र जीवन कहें, न तो जीवन का हमें कोई पता है, न जीवन के रहस्य का द्वार खुलता है, न जीवन में आनन्द की वर्षा न प्रेम का पुष्प खिल पाता है । हम यह भी नहीं जान पाते है कि हम क्यों जिंदा है ? क्यों मर जाना पड़ता है ? किसी भाँति अस्तित्व को ढो रहे हैं । जीवित रहकर भी मुर्दे की भाँति । कोई राम-कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शंकर, कबीर जैसे महापुरुष होते हैं जिनका शरीर मृत्यु होने पर भी उन्हें मृत नहीं कहा जाता बल्कि नया शब्द खोजना पड़ा निर्वाण, मुक्ति, अमृत्व प्राप्त कर चुके हैं । अज्ञानी जीवित भी मरा होकर रहता है । उसके जीवन में कोई क्रांति नहीं घटती है, जबकि ज्ञानी के मृत्यु के क्षणों में भी अमृत्व घट जाता है । जिसकी दुनियाँ प्रशंसा करते, गीत गाते, पूजा नमस्कार करते रहते हैं । किस मार्ग से, भाव से, निश्चय से वे मरते हैं कि वे मरकर परम शांति, परम जीवन को प्राप्त कर लेते हैं और किस भाव, निश्चय, मार्ग के द्वारा अज्ञानी जीवित रहते हुए भी उसे कोई जीवन की सुगंध, प्रभु कृपा का पता नहीं चल पाता है ।

हमारी अवस्था संसार में छछुन्दर–साँप–सी है, न छोड़ने में है न भोगने में है । न हम भोग में पूरे उतर पाते हैं, न हम त्याग कर पाते हैं । यदि हमने किसी वस्तु का पूरी तरह भोग ही कर लिया तो फिर हमें उसके त्यागने में कोई कठिनाई नहीं होगी । यह हमने जान लिया कि संसार के भोग पदार्थ, कुत्ते के द्वारा हड्डी से प्राप्त होने वाले रस भ्रम से ज्यादा कुछ नहीं है । तो अच्छी प्रकार से भोग चुकने वाला उस भोग को त्याग देने में देर नहीं करेगा एवं त्याग एक बार कर देने के पश्चात् उसे उस पदार्थ के प्रति भोगने की पुनः कामना नहीं होगी ।

जब भली प्रकार पेट भर जाता है, प्यास मिट जाती है, तब भोजन की थाली पानी छोड़ उठ जाते हैं । लेकिन हम जिंदगी भर भोगों के बीच रहकर भी भोगों को नहीं छोड़ पाते हैं, क्योंकि हमने भोगों को भोगने में भी पाप की भावना, पतन, नरक का भय खड़ा कर लिया था । हम बड़े उल्टी खोपड़ी के लोग हैं । जब भोग का समय आता है, तो उसे भी पोस्टपोन करते रहते हैं । आज नहीं कल, उपवास के दिन नहीं, कार्तिक मास पुरुषोत्तम मास में नहीं, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक का नियम, प्रतिज्ञा कर लेते हैं । कोई इसी वृत में आजीवन ब्रह्मचारी रूप में रह दुनियाँ से बिदा हो जाते हैं । देह त्याग का समय आ जाता है, जबकि हमने उसे अभी पूरा भोगा भी नहीं था, तो त्याग कैसे करें ? भोग न कर पाने के कारण हमारे में त्याग करने की क्षमता भी नहीं रह जाती है ।

जिसको यह बोध हो जावेगा कि शरीर में कुछ नहीं, शरीर से कुछ मिलेगा नहीं, उसी क्षण वह शरीर छोड़ने के प्रयास में लग जावेगा । मृत्यु आ जावे तो वह उसे सहज स्वीकार कर लेता है कि ठीक है, आ जाओ, मैं शरीर को देख चुका हूँ और जो शरीर, मन का त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है ।

जिस दिन हम में समर्पण का भाव जाग्रत होगा, उसी दिन हम अमृत्व को प्राप्त हो सकेंगे । समर्पण का अर्थ है शरण । शरण का अर्थ है कि मैं नहीं हूँ, अब तू ही है, अब तू जो चाहेगा, करेगा वही होगा, उसी में मैं राजी हूँ, स्वीकार करता हूँ ।

जिस दिन परमात्मा दिखायी पड़ जावेगा अर्थात् साक्षी भाव जाग्रत हो जावेगा उस दिन कर्ता भाव टूट जावेगा । फिर मैं किसी की चोरी, हत्या,छल, कपट कैसे कर सकूँगा ? क्योंकि यहाँ कोई दूसरा परमात्मा के सिवा है ही नहीं ।

सच्चा भक्त कभी भी किसी अच्छे बुरे फल के लिये परमात्मा पर दोष नहीं डालता बल्कि अपने ही अहंकार युक्त किये कर्म का फल जानता है । मेरी ही कोई भूल हुई है जिसका फल दुःख रूप मुझे भोगने को मिल रहा है । चाहे सुख मिले, चाहे दुःख, वह निष्ठा से तनिक भी नहीं हटता । परमात्मा की कृपा में कोई अंतर नहीं देखता है ।

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। २/४५ : गीता

परमात्मा को पाने के लिए बुरे कर्मों से असद् वृत्तियों से तो ऊपर उठना ही है, किन्तु अच्छे कर्मों से, धार्मिक कर्मों से, सद् वृत्तियों को भी छोड़ना है क्योंकि वे स्वर्ण की जंजीरवत् हैं । सत्त्व से भी ऊपर गुणातीत होना है । तम, रज तो छोड़ने योग्य ही है । सत्त्व से भी मुक्त होना है । जंजीरें तो तोड़नी ही है, चाहे वे लोह की हो या स्वर्ण की । परमात्मा को पाने हेतु अधर्म का तो त्याग करना ही पड़ता है । पर साथ धर्म का भी त्याग परमावश्यक है । धर्म की सीढ़ी पर बैठे रहने से मोक्ष नहीं मिलता ।

''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'' – १८/६६ : गीता

काम के केंद्र से, वासना के क्षेत्र से, मन के जगत् से, प्राण छुटने पर पुनर्जन्म को प्राप्त होता है एवं निर्वासनिक साक्षी भाव जो शुक्ल पक्ष का मार्ग है, उसमें प्राण छूटने वाले को पुनर्जन्म नहीं होता । मन के तल पर जीने वाला पुनरावर्ती गति को प्राप्त होता है एवं मन के साक्षी रूप से जीने वाला स्वयं अमृत्व को प्राप्त हो जाता है ।

जब तक अहंकार भीतर है, संसार से सम्बन्ध विसर्जित नहीं होते, वह संसार से मुक्त नहीं हो पाता । उसे ब्रह्मादिक लोकों से वापस लौट आना पड़ता है । अमावास्या की रात्रि अर्थात् देहाभिमानी अहंकार पूर्ण है, तो

पूर्णिमा की रात्रि अर्थात आत्मनिष्ठ व्यक्ति अहंकार शून्य है । कृष्ण पक्ष में एक-एक रात्रि अंधकार गहन होता जाता है, शुक्ल पक्ष में प्रकाश गहन हो जाता है ।

जैसे बूंद सागर को बिना जाने स्वतंत्र रूप से अहंकार करे कि मैं ही एक मात्र समुद्र हूँ । मुझसे बड़ा पृथ्वी पर कोई नहीं । मैं सरोवर, कूप, नदी,सागर पर श्रद्धा नहीं करती । ऐसा अहंकारी देहाभिमानी व्यक्ति पुनरावर्ती गति को प्राप्त होता है ।

मैं द्रष्टा, साक्षी आत्मभाव रूप पूर्णिमा की रात्रि को पहुँचा व्यक्ति अपने समस्त देह संघात् एवं परिवार, समाज, प्रांत, देश, भाषा के अहंकारों से मुक्त हुआ ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' का अनुभव करता है कि अब मैं वह मैं नहीं हूँ , जो समाज, परिवार द्वारा उत्पन्न किया, सजाया गया, लादा गया था । **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अब सब ब्रह्म ही है, केवल मैं ही नहीं हूँ । बल्कि अहं ब्रह्मास्मि में मैं से पृथक् कुछ नहीं रहा । सब ब्रह्म में लीन हो गया । उसका यह अहं ''मैं ब्रह्म हूँ'' अहंकार शून्य है । वह ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करता है । जैसे बूंद सागर में गिर जावे और कहें मैं सागर हूँ, बूंद गिरते ही सागर में खो जाती है । और जीव ब्रह्म के साथ अभेद चिंतन सोऽहम् रूप करने से ब्रह्म ही है, अर्थात् अब और कोई ब्रह्म नहीं, मैं ही ब्रह्म हूँ ।

धर्म के ठेकेदार, शास्त्र शब्द पर जीने वाले मंदिर, मस्जिद, मठ, आश्रम चलाने वालों ने पूर्णिमा की रात्रि का अनुभव नहीं किया । ''अहं ब्रह्मास्मि'',''अनलहक'', ''अहमात्मा ब्रह्म'', ''शिवोऽहम्'' ''सोऽहम्'' की घोषणा करने वालों को जहर दिया, फाँसी दी गई, सूली पर चढ़ाया । वे लोग कोई अन्य नहीं हम ही हर युग-युग में थे सनातन होने के कारण। हमने ही उनके साथ यह दूर्व्यवहार किया । क्योंकि तब हम अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव नहीं कर पाये थे, अज्ञान एवं मतांधता के कारण । तब हम अहंकारी धर्मांध लोगों के लिए अहं ब्रह्मास्मि ''अनलहक'', यह निश्चय करना कठिन था ।

''अहं ब्रह्मास्मि'', ''अनलहक'' घोषणा अमावस्या की अर्थात् देहाभिमानी स्थिति पर पहुँचा व्यक्ति की नहीं है बल्कि पूर्णिमा अर्थात् आत्मनिष्ठा की स्थिति पर पहुँचा व्यक्ति की है, यह पता तो उनके अंतिम क्षणों से ही स्पष्ट हो जाता है । मंसूर जीसस ने अपने शरीर की हत्या करने वालों के लिए प्रार्थना की है ''हे प्रभो ! इन लोगों को क्षमा करना, ये नहीं जानते हैं कि हम क्या कर रहे हैं ।'' ये महान् आत्मा मृत्यु से भयभीत हो कहीं भाग छिपे नहीं, अपनी ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''अनलहक'' की घोषणा को लौटाया नहीं, अपने को दास, या जीव रूप में स्वीकार नहीं किया ।

हम अहंकारी हैं, इसीलिए अहंकार की भाषा जानते हैं । निरहंकारी नहीं है, इसलिए निरंहकारी की भाषा ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''अनलहक'' भाषा को नहीं समझ पाते हैं । अधिक लोग अहंकार की ओर, देहभाव की ओर बढ़ते हैं । अधिक लोग तो नीचे गिरते हुए लोग हैं, वे ऊपर हुए महापुरुषों की शुद्ध घोषणा को क्या समझें ? समुद्र को मापने का दंड तो तुम्हारा है । ''अहं ब्रह्मास्मि'' की घोषणा श्री कृष्ण के द्वारा उद्धोषित होने पर भी अज्ञानी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेंगे । क्राईष्ट भी कहे कि ''मैं ईश्वर पुत्र हूँ'' तो हम कहेंगे यह आदमी अहंकारी है ।

जगत् में दो प्रकार के मार्ग है, शुक्ल और कृष्ण पक्ष अर्थात् देवयान् और पितृयान । इनमें देवयान शुक्ल पक्ष उत्तरायण के मार्ग से जानेवाला ज्ञानी पुनः संसार चक्र में नहीं पड़ता । किन्तु पितृयान, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन मार्ग से जानेवाला साधक अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों की सम्पूर्ण पूँजी भोग कर स्वर्ग एवं नरक से सुख-दुःख भोग पुनः यहाँ आ जाता है ।

परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। - मुण्डक उप., १/२/१२

कर्म द्वारा जो भी लोक, भोग, पद प्राप्त होते है वे सब नाशवान्, अनित्य, क्षणभंगुर होते हैं । कर्मों द्वारा नित्य वस्तु आत्मा की प्राप्ति, आनन्द

की प्राप्ति नहीं हो सकती । स्वर्ग-नरक कितना ही लम्बे काल के लिए कर्मानुसार भोगने को मिले किन्तु वह धीरे-धीरे समाप्त हो ही जावेगा और एक दिन आप वहीं खड़े हो जावेंगे जहाँ से चले थे ।

अहंकार युक्त किये कर्म, संकल्प से किए कर्म, व्यक्ति को फल भोगने हेतु पुनः लौटना पड़ता है । वह कर्मों के मध्य साक्षी बन जाने के कारण जब भी शरीर छोड़ता है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है । हमारे संकल्प से किया गया कर्म कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह शाश्वत नहीं हो सकता, एक दिन भोग कर समाप्त ही हो जावेगा । मोक्ष मिलता है संकल्प-विसर्जन से, कर्ता भाव, भोक्ता भाव शून्य होने से, और केवल साक्षी भाव, अहं ब्रह्मास्मि बोध से ।

कृष्ण कहते हैं - योगी पुरुष कर्म, उपासना तथा योग साधना से प्राप्त होने वाली स्थिति को अनित्य जान उनका उल्लंघन कर जाता है और आत्मज्ञान प्राप्त कर शाश्वत पद, परमधाम को प्राप्त होता है ।

यावनर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावन्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः । - २/४६ गीता

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वेद, तप, यज्ञ, दान का कोई उपयोग नहीं है । कृष्ण उन्हें छोड़ने की बात नहीं करते, वे कहते हैं उस साक्षी पद में स्थित हुए ज्ञान योगी के लिए वेद वर्णित समस्त धार्मिक अनुष्ठान करने में उतना ही निष्प्रयोजन हो जाता है, जितना कि महान जलाशय प्राप्त हो जाने पर पानी की तलाश में इधर-उधर भटककर नाना स्थानों से पानी संग्रह करना व्यर्थ हो जाता है ।

योग युक्त का अर्थ है जब आप ग्रहण-त्याग, शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे, बन्ध-मोक्ष के द्वन्द्व के मध्य जैसे खाली तराजू के दोनों पलड़े समान हो जाते हैं, तब तराजु, कांटे की सूई मध्य में स्थित हो जाती है । इसी प्रकार जो द्वन्द्व का साक्षी बन गया है, किसी त्याग या भोग की अति पर नहीं जाता है, बल्कि साक्षी रह जाता है । जीवन के समस्त विरोधों के मध्य में खड़े हो जाने का नाम योग युक्त होना है । द्वन्द्वों से अतीत चुनाव रहित अवस्था को योगयुक्त कहते हैं । ऐसा ज्ञान योगी समस्त क्रियाकांड से मुक्त हो जाता है ।

यस्त्वात्मारतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। – ३/१७ गीता

क्योंकि जिसने अपने को आत्मा रूप से परमात्मा के भीतर जान लिया है अब उसे बाहर किसी प्रकार क्रियाकाण्ड करने की या उपासना करने की जरूरत नहीं रहती । अब बाहर दौड़ने का उस ज्ञानी परुष के लिए कोई प्रयोजन नहीं रहा।

जिसने भीतर की नित्य अग्नि को जान लिया, फिर वह बाहर अग्नि जलाकर उनकी पूजा करने बैठेगा तो ज्ञानी समाज द्वारा पागल ही कहा जावेगा । यदि आत्मज्ञानी स्वयं यज्ञ करने वेदी पर बैठ जावे, यज्ञ, तप, दानादि का खण्डन न करे तो भी यही जानना चाहिए कि जिन अज्ञानियों को अभी भीतर की अग्नि, यज्ञ, आहुति का पता नहीं चला है, शायद बाहर की अग्नि उनके लिए भीतर दृष्टि करने में एक दिन खिड़की, द्वार, मार्ग रूप सहयोगी बन सके ।

लेकिन जब ज्ञानी महापुरुष देखता है कि बाहर की अग्नि, यज्ञ, पूजा, तप, दान भीतर की ज्ञान अग्नि को प्रकट करने में रुकावट पैदा कर रही है तो वह ज्ञानी निर्भय होकर उसका भली प्रकार खण्डन भी करता है । यदि बाह्य कर्म-उपासना द्वारा आपके भीतर आत्म-जिज्ञासा दिखाई पड़ेगी तो वह बाह्य यज्ञादि क्रियाकाण्ड द्वारा सहयोग करेगा । किन्तु जब वह ज्ञानी यह देखता है कि भीतर ज्ञान अग्नि के स्थान पर केवल अज्ञान का धुवाँ ही धुवाँ फैला हुआ है और बाहर की कर्म साधना उसके अज्ञान अन्धकार को और भी बढ़ा रही हो तो वह निश्चित ही अन्य विरोधियों की परवाह न कर अच्छी प्रकार उन क्रियाकाण्ड के साधन रूप स्नान,माला,पूजा, मन्दिर, तीर्थ, यज्ञ, दान, तप, ध्यान समाधि आदि का विरोध करता है । किसी को कहेगा मन्दिर, माला, यज्ञ, तप, दान ठीक है, करना चाहिए ।

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ।। ४/५९ जाबाल द. उप.

और किसी को कहेगा इन समस्त धर्मों का त्याग करो ।

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याब्दाह्या र्चनं परिहरेद पुनर्भवाय ।।

२/२६ मैत्रैय्युपनिषद्

पत्थर, स्वर्ण अथवा मिट्टी द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा मोक्ष की इच्छा वाले साधक को फिर से जन्म और भोग दिलाने वाली होती है । इसलिये मोक्षभिलाषी साधक को फिर से मां के गर्भ में जाकर ९ माह उल्टा लटकना न पड़े इस उदेश्य से मुमुक्षु को वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप आन्तरिक साधना छोड़ पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर रूप बाह्य साधन नहीं करना चाहिये ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६/५ गीता

मूर्ति पूजा से, मन्दिर माला से, यज्ञ तीर्थ से परमात्मा नहीं मिलेगा । सद्गुरु मन्द अधिकारी को मन्दिर, मूर्ति, उपासना करने के लिए कहता है तो कभी मल विक्षेप दोष रहित ब्रह्म जिज्ञासु को इन्हें हटाने, छोड़ने, तोड़ने को भी कहता है क्योंकि इन्हीं के कारण परमात्मा प्रत्यक्ष साक्षात् होने पर भी प्रतीत नहीं होता है ।

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो ब्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ।।

४/५० जाबाल द. उप.

तीर्थ दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाण के सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ।।

४/५७ जाबाल.द. उप.

जिसे अपनी भीतर के आनन्द स्त्रोत का पता लग गया, अब वह व्यर्थ अपने शरीर को तपाकर क्यों कष्ट उठावेगा ? अर्थात् अब वह व्यर्थ अपने को कष्ट देने वाले उपवास, तपादि साधनों की चेष्टा नहीं करता है । जब तत्त्वबोध हो जाता है, तब ज्ञानी अपने शरीर इन्द्रिय, मन के साथ बलात्कार कर कष्ट देना नहीं चाहता । जब मंजिल मिल जावे तो दौड़ने की क्या

जरूरत ? यदि सत्य को प्राप्त कर लेने वाला भी तप करता दिखाई पड़े तो उसका एक ही कारण होता है कि अपने को असमर्थ समझने वाले सामर्थ्य को पैदा कर सके । और कोई दूसरा प्रयोजन ज्ञानी का कर्मकाण्ड में नहीं ।

तप का अर्थ है, सत्य की खोज में जो सहज दुःख, विघ्न आ जावे उन्हें सहज स्वीकार करने की तैयारी । सत्य के मार्ग में कपड़े न मिले, भोजन न मिले, धूप व कांटे से बचने के लिए छाता व जूता न मिले, विश्राम के लिए धर्मशाला आश्रय स्थान न मिले, तो वह ज्ञानी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होता है । उसके जीवन में तितिक्षा होती है । चाह कर सत्य का खोजी धूप में नंगे पाँव वर्षा में बिना छाता, रात्रि में वृक्ष के नीचे शयन, कपड़े न पहनने, भोजन न करने की कुचेष्टा नहीं करता । पाखण्डी व्यक्ति ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए इस बाह्य त्याग-वैराग्य के मार्ग को स्वीकार कर महान दुःखों को प्राप्त होता है । ज्ञानी न भोजन की अति पर जाता है, न निद्रा की अति पर जाता है, न अग्नि के त्याग कर्म करने की अति पर जाता है । अज्ञानी या तो न सोने, न खाने, न कर्म करने की अति पर जाता है या ज्यादा खाने, ज्यादा सोने, ज्यादा कर्म करने की अति पर जाता है । त्यागी एवं भोगी दोनों घड़ी के पेण्डोलम की तरह अपने त्याग एवं भोग की अति की ओर तेजी से बढ़ते हैं एवं फिर गिरते हैं । ज्ञानी पुरुष उचित आहार, निद्रा तथा कर्म का सेवन करता हुआ दुःखों को नाश कराने एवं परमानन्द का अनुभव करानेवाले सद्गुरू के शरणागत होकर योग सिद्धि को प्राप्त होता है ।

यह जन्म-मृत्यु के महान दुःखों से छूटाने वाला आत्म ज्ञान न अधिक भोजन करने वाले, न अधिक शयन करनेवाले और न अधिक कर्म में प्रवृत्त होने वाले को होता है बल्कि यह ज्ञान योग उन जिज्ञासुओं को सद्गुरु कृपा से प्राप्त होता है जो अपने जीवन पद्धति को समता पर रखते हैं अर्थात् वे उचित आहार, निद्रा एवं कर्म करने वाले होते हैं ।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। -६/१७ : गीता

तो ज्ञानी पुरुष यदि वेद आज्ञा पालन करता पूजा, यज्ञ करता, तप, दान करता दिखाई पड़े तो जानना कि उसका तो उन क्रिया काण्ड में कोई

प्रयोजन नहीं है, वह तो शास्त्र शासन से मुक्त हो गया है, किन्तु उसके जीवन चरित्र को देख साधक के जीवन में साधना का द्वार खुल सके, किसी के काम पड़ जावे । जो अभी सूक्ष्म आत्म तत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ है, वह भी धीरे-धीरे उठने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकें । वे शायद क्रियाकाण्ड, उपासना से सहारा प्राप्त कर ले ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ।। -३/२० : गीता

दान भी सत्य की खोज में सहयोगी है । दान का मतलब जितना हम से सम्भव है उचित पात्र को दें ताकि वह भी प्रभु की ओर चल सके एवं अपने लिए जितना आवश्यक रखे, परिग्रही न बने, अपरिग्रही रहे ।

तत्त्ववित निश्चित ही इस तल पर पहुँच जाता है जहाँ नीति-अनीति की समस्त सीमाएँ अतिक्रमित हो जाती हैं । जहाँ तप, दान, पूजा, पाठ, तीर्थ, मन्दिर यज्ञ समाधि सब साधन सीढ़ी व्यर्थ हो जाते हैं, जिसे हमने आजतक परमात्मा को पाने के लिए अनिवार्य आधार धर्म माना था, साधन सीढ़ी माना था । परमात्मा प्राप्ति हो जाने पर उसके लिए समाज के द्वारा, परिवार के द्वारा ही नामधारी गुरुओं द्वारा, शास्त्र द्वारा दिए गए सभी आधार व्यर्थ हो जाते हैं । इसी बात को कृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं -

''सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'' ।।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते । -६/३ : गीता

''योग युक्तोभव'', ''आत्मवान् भव''

समस्त नीति के पार हो जाना ही परम नीति है एवं समस्त धर्मों के पार हो जाना ही परम धर्म है । समस्त अहंकारों से छुटकारा ही जीव का परमधाम मुक्ति, शाश्वत शांति है । वह सनातन पद को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है । '**ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति** ।'

ज्ञानी कभी अनैतिक, मिथ्याचारी, लोक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है । किन्तु वह लोक, वेद विधि निषेध का किंकर (दास) भी नहीं होता । जिस संत की दृष्टि में लोक सत्य है, वही उसके संग्रह का विचार कर

मर्यादा की रेखा के भीतर चलता है । जिसके लिए यहाँ एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, वहाँ न लोक है, न धर्माधर्म, पाप-पुण्य, दानी-भिखारी,चोर-साहुकार, सती-वेश्या, ब्राह्मण-शुद्र, भक्त-भगवान, गुरु-शिष्य का द्वन्द्व नहीं होता है । इसीलिए ज्ञानी निर्द्वन्द्व पद में स्थित होता है । उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है । उसके लिए वेदान्त शास्त्र का श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि साधन भी कर्तव्य नहीं हैं ।

जिसे शास्त्र में संशय है, वह शास्त्र 'श्रवण' का अधिकारी है, जिसे जीव में ब्रह्मत्व का संशय है, वह 'मनन' करे, जिसे अपने में देह बुद्धि जगत् में सत्य बुद्धि विपर्यय दोष है, वह निदिध्यासन भले करे, किन्तु पूर्ण ज्ञानी के लिए किंचित् भी कर्तव्य नहीं । यदि वह मानता है तो अभी साधक है, ज्ञानी नहीं ।

ब्रह्म सर्वत्र समान है । एक स्थान पर बैठ वह सर्वज्ञ सर्वज्ञाता, सर्व द्रष्टा सर्व प्रकाशक नहीं है । जब ब्रह्म सर्वत्र है तो फिर जिसके बारे में जानना चाहते हो, वहीं के अन्तःकरण से वहाँ की बात पूछ लेना चाहिए । परमात्मा वैकुण्ठ में बैठा है कि सब में ? जब सब में बैठा है, तो ब्रह्म सब में होकर, सब में रहकर सबकी जानता है । एक शरीर में रहकर सबकी नहीं जानता है । एक शरीर में रह सबकी बात जानना मुर्खों की परिभाषा है । बिजली सब धरों में होकर सबको प्रकाशित करती है, एक जगह होकर सबको प्रकाशित नहीं करती है । यदि किसी मन का चिन्तन जानना चाहते हो तो जाननेवाला, बतानेवाला वहीं विद्यमान है । आत्मा को व्यापक ब्रह्म मानते हो या केवल एक देह के हृदय आसन पर बैठा मानते हो ? यदि एक आसन पर बैठे निरंजन को मानते हो तो यह बुद्धु आपके वहाँ की आपके मन की बात नहीं बता सकेगा । यदि मुझे केवल मंचासन कर बैठा ही नहीं, सर्वत्र आसीन मानते हो तो फिर तुम्हारे मन में भी मैं हूँ, वहीं उससे जो पूछना हो, पूछ लो । यदि आदमी मानते हो तो यहाँ हूँ और यहाँ से वहाँ की बात बताई नहीं जा सकती । छोटा ब्रह्म होता तो एक शरीर में रहता, परम ब्रह्म है इसलिए तुम अपने ही अन्दर वाले से पूछ लो । ऐसी आशा किसी अपने गुरु या अन्य शरीरधारी मानव में करना एक महान भूल है ।

आप कहो कि तुम ब्रह्म हो तो आग में कूद पड़ो, जहर पी लो । किन्तु हम तो व्यापक ब्रह्म है इसीलिए कूद नहीं सकते क्योंकि एकदेशीय ही कूद सकता है, सर्वदेशीय कहाँ से कहाँ कूदे । ब्रह्म है, निराकार है, इसीलिए जहर पी नहीं सकता । जहर पीनेवाला व्यक्ति बच नहीं सकता, वह अवश्य मरेगा, शरीर तो सबका जलेगा, कटेगा, सड़ेगा, डूबेगा, सूखेगा । जो जलाने पर भी जलता नहीं, मारने पर भी मरता नहीं, गिरता, टूटता नहीं, वह एकरस तुम हो । अखण्ड बचा रहने पर भी, अमर होने पर भी तुम्हें दिखाई नहीं पड़ेगा एवं तुम्हें जो दिखाई पड़ रहा है, न वह मैं हूँ, न ब्रह्म । मैं वही ब्रह्म हूँ जो तुम्हारे भीतर अभी मौजूद है । आप कहेंगे कि ब्रह्म हो तो बताओ हमारे मन में क्या संकल्प विचार है ? तो अभी तुम्हारे मन में क्या विचार चल रहा है, उसे वहाँ बैठकर अभी जो जान रहा है, वही तो मैं ब्रह्म हूँ । जानना ही तो मेरा स्वभाव है, बताना ही मेरा धर्म है और उसे अभी वहीं से बता ही रहा हूँ ।

भय से मुक्ति

जिस-जिस वस्तु, व्यक्ति, शरीर को आपने अपना होना मान रखा है, वह मरणधर्मा होने से क्षण-क्षण में मर रहा है, विनाश को प्राप्त हो रहा है । यही भय है कि मैं मिट न जाऊँ, मेरा कुछ नष्ट न हो जावे । यह जो मिटने की शंका है, उससे भय पैदा होता है ।

जिस मकान, जमीन को आप अपनी सम्पत्ति मान रहे हैं एवं उसके मिटने, छिनने की आशंका में भय बना रहता है । यह आपकी प्रकृति के जमीन पर मकान पर जो मालकियत का अभिमान है, यह झूठा है । आप नहीं थे, तब भी यह सम्पत्ति राज्यपद भूमि थे एवं आप नहीं रहेंगे तब भी यह सब रहेंगे । आप जिन-जिन चीजों का संग्रह कर रहे हैं, वे सब नष्ट होती हुई ही आपके हाथ आ रही है । धीरे-धीरे वे सभी मिट जावेगी, वे न भी मिटे तो देह मिट जावेगी । जो कुछ तुमने समाज के लोगों से छीना है और अपने जेब में रखा है, मृत्यु वह सब तुम से छीन ही लेने वाली है तो भलाई इसी बात में है कि मौत आने से पूर्व हम उन सबका उपयोग कर लें ।

जहाँ आप ठहरे हुए हैं, वह पद, वह घर, वह परिवार, वह शरीर, उनके प्रति घबराहट लगी रहती है कि कब हटा दिया जाऊँ ? कब निकाल दिया जाऊँ ? कब बेघर, बेसहारा हो जाऊँ ? इसी कारण लोग प्रार्थना, पूजा, उपवास, दान करते हैं पति, पुत्र बचाने हेतु । आप सम्पत्ति का संग्रह कर रहे हैं, शक्ति को अपने में पैदा कर रहे हैं । या पिस्तोल, लाठी, छुरा लेकर घूम रहे हैं या कीर्तन कर रहे हैं, पूजा पाठ मन्दिर तीर्थ माला करते हैं । बात एक ही है कि हम भयभीत हैं एवं सब अपने-अपने ढंग से बचाव का साधन

अपना रहे हैं । याद रखें ! बाहर कभी सुरक्षा नहीं, शान्ति नहीं, अभयता नहीं । जो बाहर से सब ओर से निराश हो चुका है, भयभीत हो चुका है, उसके लिए भीतर अभय का द्वार खुल जाने की सम्भावना हो जाती है । वही हमारा सच्चा घर है, वही सच्ची शान्ति है । भीतर दृष्टि होते ही अभयता पैदा हो जाती है । हाथ में धनुष-बाण हो या त्रिशूल, चक्र हो या गदा, तलवार हो या फरशा, सर्प हो या सिंह, सब भयभीत लोगों के ही यह प्रतीक हैं । अन्यथा इन सबको धारण करने की क्या आवश्यकता ? कृष्ण, जीसस, नानक, कबीर, शंकर, दयानन्द, महावीर, बुद्ध ने कुछ भी बाहर के बचाव के लिए बाहर की सुरक्षा के साधान क्यों नहीं किए ? क्योंकि उन्हें भीतर की अभयता का साक्षात्कार हो चुका था, रास्ता मिल चुका था । भीतर ठहर चुके थे, जहाँ बाहर के किसी भी खतरे की छाई नहीं पड़ सकती है ।

''दुःख लवलेश न सपनेहुँ ताके'

सिकन्दर, हिटलर, नेता, राजा, पहलवान को शूरवीर बहादुर मत समझना, ये ज्यादा डरे हुए लोग हैं इसलिए इन्होंने ज्यादा शक्ति का संग्रह किया है । घर को ज्यादा सजाने वाला देह को बाहर के वेश भूषा से सजाने वाला बहुत ज्यादा गहरे में गरीब एवं असुन्दर है । उसे स्वरूप बोध नहीं हुआ इसीलिए बाहर के नश्वर सामग्री वस्तु धन, बल एवं सौन्दर्य साधनों से अपने को सजाना एवं वास्तविकता से छिपाना चाहता है ।

सभी भय से मुक्ति का उपाय करते हैं एवं पूछते फिरते हैं कि भय से मुक्ति कैसे होगी ? किन्तु भय का कारण कोई नहीं खोजते । डॉक्टर वही योग्य है जो रोग के कारण का पता लगाकर उपचार करता है तो रोग का कारण समाप्त होते ही रोग भी स्वतः समाप्त हो जावेगा । अन्धकार का कारण प्रकाश का अभाव खोज लेने से उसका उपाय प्रकाश करते ही अन्धकार स्वतः विलीन हो जावेगा । आवश्यकता प्रकाश प्रकट करने की है । अन्धकार के भय से छूटने का मन्त्र साधन नहीं व्यर्थ परिश्रम मात्र है ।

कीर्तन, जप, माला, यज्ञ, तीर्थ, उपवास, सम्पत्ति, पद, पुत्र, परिवार के द्वारा आप भय से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे । तलवार, शक्ति, सेना द्वारा भय से मुक्त नहीं हो सकेंगे ।

भय के प्रति जागरण, भय के प्रति होश वाले को भय क्यों ? क्या कारण है भय का ? यदि कारण दिखाई पड़ जावे कि भय का कारण आत्म विश्वाँस की कमी है । भय का कारण देहाध्यास है । तभी हम अभय की भूमि, आत्मविश्वाँस को प्राप्त करने में लग जावेंगे । भय का कारण यही है कि जहाँ हम खड़े हैं, वह सब खसक रहा है, घट रहा है, नष्ट हो रहा है । अभी हमारा वहाँ प्रवेश नहीं हो पाया है, जहाँ कुछ भी मिटता नहीं । अगर यह दिखाई पड़ जावे तो तत्काल अभयता आ जावेगी ।

उलट गई मोरी नैन पुतरिया

भय के कारण को देखे, समझे, जाने बिना कोई भय से छूटने का उपाय मत करो । बिना समझे भय से छूटने का उपाय हम जो कर रहे हैं, वह सब भय को ही प्रदान करनेवाला है, भय के राज्य की ही सामग्री है । भला भय के क्षेत्र की सामग्री आपको अभय कैसे दिला सकती है ? भय के वाहन अभयता के राज्य में प्रवेश नहीं करा सकेंगे । अतः भय को देखें और समझें कि वह क्यों है ? जो समझ लेता है कि भय का कारण देह को मैं मानना है एवं सम्बन्धीजनों को वस्तुओं को मेरा मानना है । वह तत्काल उन भयदायक व्यक्ति, वस्तु एवं देह से अपने अहं-मम-बुद्धि को हटा लेता है । फिर जो नित्य, एकरस, आनन्दस्वरूप निर्भय तत्त्व है, उसी में मैं बुद्धि सोऽहम् बुद्धि कर समस्त भय से मुक्ति पा जाता है । उसे भय से मुक्ति पाने हेतु अन्य उपाय की भी जरूरत नहीं पड़ती है, जिसने समझ लिया कि भय क्यों है ? उसका भय गया । हम भय के कारण को तो खोजते नहीं, कि भय क्यों है ? एवं भय से छूटने का उपाय खोजते फिरते, भागते, दौड़ते, चिल्लाते रोते हैं । जैसे अहंकार में प्रतीत होनेवाला रस्सी के सर्प को देख कोई उससे दूर भागने या मारने हेतु लाठी पत्थर का उपाय करे, सब व्यर्थ ही होगा । अतः भय को खोजें कि वह क्यों हो रहा है ? जो उसे समझ लेता है, उसे आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य साधन करने की जरूरत नहीं रह जाती है ।

मृत्यु के भय को मिटाने के उपाय लोग मन्दिर, तीर्थ, जप, ध्यान, पूजा, पाठ, कीर्तन की ध्वनी से करना चाहते हैं, किन्तु इन साधनों से वह दूर नहीं हो सकेगा । शराब, सिनेमा, सत्ता आपके दुःखों को भुलाने का क्षणिक

साधन हो सकता है, किन्तु मिटाने का नहीं । कितनी ही बाहरी सुरक्षा व्यवस्था करलो, शक्ति बढ़ालो किन्तु भीतर से भय से छुटकारा नहीं हो सकेगा । आत्म अज्ञान ही हमारा दुःख एवं भय है, आत्मज्ञान ही अभय एवं आनन्द है ।

बच्चा कंकड़-पत्थर छोटे-छोटे फिल्म टुकड़े, कांच के टुकड़े, इकट्ठा कर उतना ही वह आनन्दित होता दिखाई पड़ता है, जितना कि बड़े लोगों को हीरे-मोती प्राप्त हो जाने से होता है । कारण है भीतर हृदय में सरलता है । जहाँ हृदय में सरलता है, वहाँ कंकड़-पत्थर भी हीरे-मोती हो जाते हैं । यदि हृदय सरल न हो प्रेमी न हो तो हीरे-मोती के ढेर भी पड़े रहे तो वह कंकड़-पत्थरों से ज्यादा नहीं होते हैं। वह आनन्द को उपलब्ध नहीं हो पाता है। हृदय कठिन है तो वह कश्मीर चला जावे, झरनों के पास बैठ जावे, सुन्दर, सुगन्धित फुलवारी बगीचे में बैठ जावे उसे कोई आनन्द की सुगन्ध नहीं आसकेगी ।

बच्चे बचपन में इतनी छोटी-छोटी वस्तु पाकर ज्यादा प्रसन्न हो जाते हैं । इस हिसाब से तो बूढ़ों को बड़ी-बड़ी उपयोगी वस्तु पाकर तो ज्यादा आनन्दित होना चाहिये, ज्यादा अभय हो जाना चाहिये । किन्तु उलटा ही होता है, बच्चे भय मुक्त, दुःखमुक्त, चिंता मुक्त, शोक मुक्त हैं । चाहे वह हजार रुपयों का खिलौना हो या पाँच सात लाख की कार हो या दस लाख की कोठी हो नष्ट हो जावे, गन्दी हो जावे बच्चों की भूल से, तो भी वे बड़ों की तरह जहर खाकर मरने की नहीं सोचते, न बड़ों की तरह शोक ही करते हैं । उनके लिए सब समान है । बालू पर बनाए गए मकान को बिगाड़ देने जैसा ही होगा । लेकिन होता है उलटा बूढ़ों को ज्यादा आनन्दित, निर्भय, दुःखरहित, शोकमुक्त होजाना चाहिए था, लेकिन वे ज्यादा भयभीत, ज्यादा दुःखी, ज्यादा शोक-मोहग्रस्त होते हैं ।

यदि बुढ़ापे में भी बचपन की तरह हृदय सरल एवं प्रेमी हो तो बचपन से ज्यादा बड़े होने पर आनन्द, अभयता तथा प्रेम अधिक प्रकट होना चाहिये । माना कि बचपन १० वर्ष उम्र तक में १०० आनन्द है, तो ५० वर्ष में ५०० एवं १०० वर्ष में १००० गुना ज्यादा हो जावेगा । यदि उम्र, धन,

पद बढ़ने से आनन्द न मिले तो जानना चाहिए कि हम गलत ढंग से जीवन व्यतीत कर रहे थे । हम जीवन को ठीक से व्यवस्ता नहीं दे सके । अन्यथा एक वृद्ध व्यक्ति को बड़े-बड़े धन, सम्पत्ति से ज्यादा आनन्द आना चाहिए था । जब कि एक बच्चे को, छोटे-छोटे सामान से बचपन में बहुत सुख दिखाई पड़ता है । यह तो पतन हुआ बुढ़ापे में । क्योंकि बचपन में बिना कीमती वस्तु के सुख, निभर्यता, शान्ति एवं बुढ़ापे तक सब कुछ संग्रह कर भी दुःख । यह तो मानव का पतन हो गया ।

जिसका चित्त जितना सरल होगा, उतना ही वह सुखी होगा । जितना चित्त कठिन, कठोर, अभिमानी होगा, उतना ही वह दुःखी होगा । जिसके भीतर अहंकार का भाव जितना कम होगा, उतना ही वह सरल होगा, आनन्दित होगा, प्रेमी होगा, दयावान् होगा, क्षमावान् होगा, धैर्यवान् होगा ।

जिसका हृदय बच्चे की तरह सरल होता है, वही परमात्मा को उपलब्ध हो सकता है ।

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।

''मैं कुछ हूँ'' विद्या, पद, बल, धन में वही कठोर हृदय हो जाता है । जबकि हमारे देह की अवस्था के बदलने को, बाल पकने को, दाँत गिरने को, श्वाँस निकल जाने को रोक नहीं सकते उन पर हमारा वश नहीं । फिर अहंकार किस बात का ।

सरल होने के लिए उन सब मिथ्या ओढ़े अहंकारों को फेंकना होगा, जो हमें जन्म के बाद समाज, परिवार द्वारा निश्चय कराया गया है । झूठा अहंकार छूट जावे तो सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । हम जैसे अहंकार शून्य होते हैं तब ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है । किन्तु हम जैसे भीतर से नहीं होते है वैसा बाहर दिखाते एवं बताते हैं । हम जैसे हैं, उसे छिपाए रहते हैं । हम जितने सुन्दर, पवित्र, ईमानदार, प्रेमी नहीं, उससे ज्यादा दिखाते रहते हैं । यही हमारे कठोर हृदय का कारण है । इसका परिणाम यह होगा कि हमारा सच्चा रूप छिपा रह जावेगा एवं नकली रूप का ही दिखावा करते रहेंगे । जो अपने भीतर छिपी सच्चाई को नहीं देख सकता, वह सारे

जगत् में छिपे सत्य को कैसे जान सकेगा ? जो साधु नहीं, वह साधु बनने का अभिनय कर रहा है । जो प्रेमी नहीं, वह प्रेम का अभिनय कर रहा है ।

किससे छिपायेंगे हम अपने आपको ? दूसरों से ही न ? हम अपने से तो अपने को कभी छिपा भी न सकेंगे । सरल व्यक्ति वास्तविकता को छिपाकर अपने को असाधारण व्यक्ति नहीं दिखाना चाहता हैं वह तो जैसे घास, पत्ते, पशु, पक्षी हैं, जैसे और सारी दुनियाँ है, वैसा मैं हूँ । इस सारे विराट् जीवन का मैं एक अत्यन्त छोटा-सा अणु हूँ । मेरा होना कोई मूल्य नहीं रखता ऐसा ख्याल रखता है। अगर यह ख्याल भीतर से आ जावे तो, एक दिन तुम पाओगे कि तुम्हारा मन दर्पण की भांति निर्दोष हो गया । निरहंकारता से एक अद्भूत, नूतन शांति का जन्म होगा ।

सरल मनुष्य परमात्मा से ज्यादा दिन दूर नहीं हो सकता । इतनी सरलता चाहिए कि हम अपने मन की बुराईयों को देख सकें । अपने झूठे व्यक्तित्व को बनाए रखने का प्रयत्न न करें ।

अज्ञानी व्यक्ति देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन की क्रिया एवं अवस्था के साथ तादात्म्य इतना गहरा कर लेता है कि स्वयं साक्षी, द्रष्टा होते हुए दृश्य देह संघात् की अवस्था को अपनी ही मान लेता है ।

समझने, देखने के लिए, दिखाई पड़नेवाली, समझने योग्य वस्तु या अवस्था से आपके बीच दूरी चाहिए । जब जीव एक निश्चित, मनोदशा या अवस्था में अन्तर्ग्रस्त हो जाता है, तब वह नहीं समझ या जान पाता है किन्तु जब वह उस अवस्था को पार कर जाता है, तब उसका उस घटना से तादात्म्य टूट जाता है एवं तभी वह उस बीती घटना या अवस्था का स्मरण कर पाता है ।

जैसे किशोर अवस्था को मैं किशोर रूप मानता है । किशोर अवस्था से तादात्म्य टूट यूवा अवस्था में प्रवेश करता है तब किशोर अवस्था को दृश्य रूप, मेरी किशोर अवस्था कहता हैं एवं यूवा अवस्था में तादात्म्य कर मैं यूवा हूँ ऐसा अभिमान करता है । जब यही यूवा अवस्था का अभिमानी बुढ़ापे में प्रवेश कर जाता है तब यूवा अवस्था दृश्य रूप में घटित हो जाती है और तब कहता है मेरी जवानी चली गई ।

एक प्रेमी जब प्रेम में होता है, तब वह प्रेम घटना को नहीं समझ पाता है, किन्तु प्रेम लीला का जब खेल समाप्त हो जाती है, तब वह उस जीवन लीला का साक्षी, द्रष्टा बन पाता है । प्रेम करते समय तुम कर्ता बन जाते हो साक्षी नहीं रह पाते । बचपन अवस्था से गुजरने वाला जीव बचपन को, जवानी का भोगने वाला जीव जवानी को जान नहीं पाता, किन्तु जवानी में बचपन का स्मरण बुढ़ापे में बचपन, किशोर, जवानी तथा प्रौढ़ावस्था का भी उसे स्मरण हो जाता है क्योंकि अब वह उन अवस्थाओं को पार कर चुका है । उनसे अपने को पृथक् देख रहा है । पीछे देखने के योग्य तभी हो जाते हो जब तुम उस अवस्था का अतिक्रमण कर चुके होते हो । अतिक्रमण करने के बाद ही उस अवस्था की दृश्य रूप में समझ आती है । यदि कोई अन्य मुसीबत में है, निराश हो रहा है, दुःखी हो रहा है, तो तुम उसे अच्छी तरह हिम्मत दिला देते हो । क्योंकि तुम उस अवस्था से दूर अपने को देखते, समझते हो । परन्तु वही अवस्था से जब आप गुजरते हैं, तब अपने को नहीं सम्भाल पाते, नहीं समझ पाते । तब किसी अन्य सलाहकार की आवश्यकता पड़ती है और समाज में यह व्यवस्था समझदारों द्वारा पूर्व से निश्चित कर दी गई है कि जब हम बेहोश हों तो तुम आकर समझाना, हिम्मत देना, आँसू पोंछना एवं जब तुम रोने लगोगे तब हम आकर वह सब तुम्हारे साथ करेंगे । मरने, जीने, विवाह, उन्नति, अवनति, लाभ–हानि में यही समझौता समाज व आपके बीच बना रखा है ।

साक्षी भाव हर समस्या को सुलझा देता है । लेकिन जब तुम किसी अवस्था में गहरे उतर जाते हो तो साक्षी होना कठीन हो जाता है । जब तुम क्रोधित हो जाते हो तब तुम क्रोध ही पूरे–पूरे बन जाते हो । इस परम सत्य को भूल ही जाते हो कि पीछे खड़ा कोई क्रोध को देखनेवाला भी है । जो देख रहा है, निरीक्षण कर रहा है, निर्णय ले रहा है, ध्यान से देख रहा है कि अब इसे क्रोध छा रहा है, क्रोध उतर रहा है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

३/१/१ मुण्डक उप.

एक वृक्ष पर दो पक्षी सदा साथ रहने वाले परम मित्र हैं, जिसमें एक उस वृक्ष के फलों को चखता है एवं दूसरा पक्षी उदासीन हुआ बैठा अपने साथी के खाने-पीने हंसने, रोने, गाने, चिल्लाने को देखता रहता है । यह उपनिषदों का कथन जीव एवं आत्मा के प्रति एक देह के निवासी के प्रति है । जो पक्षी वृक्ष के शिखर पर बैठा देख रहा है वही तुम हो । भोगते समय भी तुम सूक्ष्म अन्तर द्रष्टा साक्षी बने रहते हो तभी तो बचपन, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ावस्था की घटना का स्मरण बना रहता है ।

जैसे तुम अभिनेता बन अभिनय कर रहे हो एवं फिल्म शूटिंग के बाद रीलिज होने के पूर्व उसी को बैठ देख रहे हो कि कहाँ ठीक, कहाँ ठीक नहीं हो सका । इसी तरह तुम भोजन, क्रोध, काम के क्षणों में कर्ता बन क्रिया करते हो एवं दर्शक बन उस अभिनय को भी देख सकते हो । यदि तुम अभिनेता एवं दर्शक एक साथ हो सकते हो तो साक्षी भाव का उदय हो सकता है । तुम इसका अभ्यास कर सकते हो क्षण के लिए कर्ता बन क्रिया करो, क्रिया प्रारभ हो गई, अब क्षण के लिए साक्षी बन उस क्रिया को देखो । प्रथम किसी को सम्मुख बैठा कैमरा सेट करो, एवं फिर उसे हटा स्वयं अपने को बैठा फोटो खींच लो ओटोमेटिक स्वीच से अथवा किसी व्यक्ति द्वारा । अर्थात् तुम अभिनेता होओ और दर्शक भी । एक क्षण के लिए क्रोधित, कामुक हो जाओ एवं फिर अलग होकर तुम्हारे पास जो घट रहा है, उसे साक्षी बन देखो ।

कोउक जात प्रयाग बनारस, कोउ गया जगन्नाथ हि धावे ।
कोउक मथुरा बदरी हरिद्वार को कोउ गंगा कुरुक्षेत्र नहावे ।।

कोउ पुष्कर ह्वै पंच तीरथ दौर हि दौरिजु द्वारिका आवे ।
सुन्दर धन गढ़यो घर माँहि जो बाहर ढूँढत क्यों करि पावे ।।

सरल सीधी बात है कि जो धन घर में गढ़ा है वह बाहर ढूँढने से नहीं मिल सकेगा । जैसे जिस मृग की नाभी में कस्तुरी है वह मृग को बाहर खोजने से कभी नहीं मिल सकेगी ।

मैं कौन हूँ?

हे आत्मन् ! अनादि काल से प्रत्येक मानव इस, नाम रूप, दृश्य शरीर को मैं मानने के अपराध से संसार बन्धन अर्थात् दुःखों को प्राप्त हो रहा है । अन्य सभी योनियों में भोगों की प्रधानता है किन्तु मानव जीवन ही ज्ञान प्रधान है । अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त करने की सुलभता है, जिसके फलस्वरूप यह जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

हे जिज्ञासु ! तू इस देह को अपना होना मत जान, यह देह तो प्रत्यक्ष माता-पिता के रज-वीर्य से अथवा पंच महाभूत से उत्पन्न हुआ है । यह जीव के संचिक कर्मों को भोगने का स्थान मात्र है । यह स्थूल देह तू नहीं है । इस शरीर में कर्ता एवं भोक्ता मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि चिदाभास रूप जीव भी तू नहीं है । न तू श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राणादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ है । न तू वाक्, पाणि, पाद, लिंग तथा उपस्थादि पंच कर्मेन्द्रियाँ है । न तू व्यान, समान, उदान, प्राण, अपानादि पंच प्राण है और न तू शब्द, स्पर्श, रूपादि पंच विषय हैं । इस प्रकार तू २० तत्त्वों वाला सूक्ष्म शरीर भी नहीं है ।

हे आत्मन् ! देह संघात् से लेकर ब्रह्मादिक पर्यन्त जो दृश्य पदार्थ है, जिन्हें 'यह'रूप, 'इदम्' रूप बताए एवं जाने जाते हैं, देखे और दिखाए जा सकते हैं, बाहर या भीतर जिनका तेरे द्वारा अनुभव किया जाता है वह सब अनात्म दृश्य पदार्थ तू नहीं है । यह सब मन-वाणी के द्वारा जाने एवं अनुभव किए जाते हैं, इसलिए तुझ आत्मा के दृश्य है । इदम् रूप दृश्य पदार्थ देश, काल, वस्तु भेद वाले षड् विकारी, जड़ एवं नाशवान् है । तेरा स्वरूप अवाङ्मनसगोचर है । अर्थात् नित्य, चैतन्य, द्रष्टा, साक्षी, स्वयंप्रकाश निज

आत्म स्वरूप को दृश्य रूप से देखने एवं जानने की किसी की भी सामर्थ्य नहीं है । सभी पदार्थ तुझ द्रष्टा के द्वारा ही पहचाने जाते हैं ।

हे आत्मन् ! भूख-प्यास, सुख-दुःख, चंचल-शांत, ज्ञान-अज्ञान, सब अवस्थाओं की अनुभूति जिसके द्वारा होती है, वही तुम्हारा चेतन साक्षी आत्मस्वरूप है । जो मन के संकल्प विकल्प करने तथा न करने को एवं मन के शुभाशुभ विचार का जो साक्षी निर्विकार आत्मा है, वही तुम्हारा स्वरूप है । जिसके द्वारा अन्तःकरण की सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुणी समस्त वृत्तियों को जाना जाता है वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! जैसे रूप से पृथक् नेत्र, शब्द से पृथक् श्रोत्र, स्पर्श से पृथक् त्वचा, गंध से पृथक् घ्राणादि इन्द्रियाँ हैं, इसी प्रकार इन श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणादि इन्द्रियों के स्पष्ट, मंद तथा अंध धर्म को जाननेवाला मन, इन इन्द्रियों से भिन्न है । इसी प्रकार मन-बुद्धि के जो पूर्व हैं, एवं बुद्धि का जो साक्षी प्रत्यक्ष आत्मा है, वही तुम्हारा स्वरूप है । शब्द, स्पर्श, रूपादि के गुण दोषों को श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं एवं शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय भी अपने द्रष्टा श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि को नहीं जान पाते हैं । इसी तरह मन, बुद्धि को जो जानता है, एवं मन, बुद्धि जिसे नहीं जान पाती है, वही तुम्हारा स्वरूप है । जैसे महाकाश से घटाकाश कभी भिन्न नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्मा से तुम आत्मा सदा अभिन्न हो ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, ध्यान तथा समाधि आदि मन की अवस्थाओं को जो जानता है तथा भूत, भविष्य, वर्तमान काल को जो सिद्ध करता है, वही सर्व प्रकाशक स्वयं सिद्ध तुम्हारा अपना स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! जिसको मन कभी भी मनन नहीं कर सकता, जिसको बुद्धि कभी निश्चय नहीं कर सकती, जिसका चित्त कभी चिन्तन नहीं कर सकता और जिसका अहंकार कभी अभिमान नहीं कर सकता, वही तुम्हारा अचिन्त्य निराकार स्वरूप है । **जो सुनते-सुनते, सुनने से रह जावे, जो स्पर्श करते-करते, स्पर्श होने से रह जावे, जो देखते-देखते, देखने से रह जावे, जो अनुभव करते करते अनुभव करने से रह जावे, वही तुम्हारा असंग निर्विकार, सर्व साक्षी स्वरूप है ।**

हे आत्मन् ! मन, वाणी, भौतिक जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्ध वाले दृश्य पदार्थों का ही चिन्तन कर सकती है और यह तुम्हारा स्वरूप आत्मा जाति, गुण, क्रिया तथा सम्बन्धवान् दृश्य पदार्थों से सर्वथा रहित द्रष्टा है । दृश्य पदार्थ कभी द्रष्टा का प्रकाशक एवं ज्ञाता नहीं हो सकता, यह एक वैज्ञानिक नियम है । इसीलिए मन, बुद्धि, वाणी के साक्षी, द्रष्टा, आत्मा को मन, बुद्धि, वाणी, प्रकाश नहीं कर सकती । अर्थात् आत्मा किसी इन्द्रिय द्वारा जाना नहीं जा सकता । किन्तु मन, बुद्धि आदि के भावाभाव को तथा न्यूनाधिक भाव को तथा मन आदि के शान्त-अशान्त, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, आदिक धर्मों को जो जानता है, वही तुम्हारा स्वरूप है । वही तू है "तत्त्वमसि" ।

हे आत्मन् ! यह कभी मत समझना कि मन, बुद्धि तो सब पदार्थों को जानती है । इसलिए यही स्वयंप्रकाश होना चाहिए । वास्तव में यह सब पर प्रकाश है । इनमें किसी पदार्थ को जनवाने, निश्चय करने, मनन करने की स्वतंत्र पृथक् सत्ता नहीं है । मन, बुद्धि जिस किसी पदार्थ को प्रकाशित करते हैं, वह सब आत्मा के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । मन, बुद्धि किसी पदार्थ को स्वतंत्र रूप से बिना आत्मा की शक्ति प्राप्त किए प्रकाशित नहीं कर सकते । जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा जानने में नहीं आता, किन्तु जिसके द्वारा प्रमाता (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) प्रमाण (श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण), प्रमेय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, अनुभोक्ता, अनुभाव्य, अनुभव, भोक्ता, भोग्य, भोजन, ध्याता, ध्येय, ध्यान, कर्ता, कर्म, क्रिया, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इत्यादि त्रिपुटियाँ जिसकी सत्ता मात्र से सिद्ध होती है । जिसकी शक्ति का अंश मात्र ग्रहण करके इन्द्रियाँ अपना काम करने में समर्थ होती हैं, वही तुम्हारा चैतन्य आत्मस्वरूप है । अस्तु बुद्धि आदि समस्त पदार्थों के जाननेवाली साक्षी आत्मा को तुम अपना स्वरूप जानो । जिसे कोई भी दृश्य पदार्थ प्रकाशित नहीं कर सकते,वही प्रत्यक्, चैतन्य, स्वयं ज्योति तुम्हारा स्वरूप है । तात्पर्य है कि बुद्धि, मनादिक सर्व अनात्म दृश्य पदार्थों की 'इदम्' रूप 'यह' रूप जो बताने वाला, जाननेवाला है, वह आत्मा है और वही तुम्हारा स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! जो हृदय देश में स्थित हुए मन, बुद्धि आदिकों का साक्षी, चैतन्य पुरुष स्थित है, जो मन के चिन्तन में नहीं आता, जो मन आदि को देखनेवाला है । उसी को अपना स्वरूप जानो और जो मन, बुद्धि, वाणी के द्वारा जाना जाता है, वह सब माया, प्रपंच जानो, उसे तुम अपना आत्मा स्वरूप न जानो । जो जानने में आता है, वह दृश्य, जड़ एवं अनित्य होता है ।

यत् यत् दृश्यं तत् तत् अनित्यम्

हे आत्मन् ! जो मन, बुद्धि आदिकों के द्वारा जानने में न आवे, स्वयं साक्षात् अपरोक्ष प्रत्यक्ष भी हो तथा मन, बुद्धि को प्रकाशित करे वह वस्तु स्वयं प्रकाश होती है । ऐसा लक्षण इस बुद्धि आदिकों के साक्षी आत्मा में ही घटता है अन्य दृश्य कल्पित पदार्थों में नहीं और वह आत्मा तुम ही हो ।

हे आत्मन् ! जो यह अनुभव करता है कि मन कुछ स्पर्श करना, सुनना, देखना, स्वाद लेना तथा गन्ध लेना चाहता है, वह मन की इच्छा एवं अवस्था को जो जानने वाला है, वह आत्मा है और वह तुम्हारा स्वरूप है ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/४ : केन उप.

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/५ : केन उप.

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषिं पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/६ : केन उप.

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदँ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/७ : केन उप.

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणःप्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। १/८ : केन उप.

हे आत्मन् ! श्रोत्र ब्रह्म नहीं, शब्द ब्रह्म नहीं, त्वचा ब्रह्म नहीं, स्पर्श ब्रह्म नहीं, चक्षु ब्रह्म नहीं एवं चक्षु द्वारा देखा गया रूप ब्रह्म नहीं । वाणी ब्रह्म नहीं एवं वाणी द्वारा कहा गया शब्द भी ब्रह्म नहीं । प्राण ब्रह्म नहीं, प्राण द्वारा

अनुप्राणित प्राणायाम, मुद्रा, ध्यान, समाधि प्रपंच भी ब्रह्म नहीं । मन ब्रह्म नहीं, मन द्वारा किया संकल्प-विकल्प भी ब्रह्म नहीं । बल्कि इनसे विलक्षण वह ब्रह्म है जिसकी शक्ति का अंश पाकर यह श्रोत्र शब्द श्रवण करने में, त्वचा स्पर्श करने में, चक्षु रूप दर्शन करने में, वाणी शब्द कहने में, प्राण क्रिया निरन्तर भीतर बाहर होने में, हृदय प्रतिक्षण धड़कने में एवं मन संकल्प-विकल्प करने में, चित्त चिंतन करने में, बुद्धि निश्चय करने में समर्थ होते हैं, वह ब्रह्म है, वही तुम्हारा स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! नेत्र अन्तर्गत जो द्रष्टा पुरुष है, जिसके द्वारा समस्त चौदह त्रिपुटियाँ का व्यवहार होता है, वह द्रष्टा पुरुष ब्रह्म है, वही तुम्हारा स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! जो स्वप्नान्तर्गत साक्षी पुरुष नाना प्रकार के जीवों को भोगते, भागते हुए अनुभव करता है, वही ब्रह्म है, वही तुम्हारा स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! जो साक्षी पुरुष सुषुप्ति अन्तर्गत केवल आनदं एवं अज्ञान को प्रकाशित करता है, वही आत्मा है, वही तुम्हारा स्वरूप है ।

हे आत्मन् ! नेत्र बिना कोई रूप दिखाई देना सम्भव नहीं होता, यदि वस्तु दिखाई पड़ती है, तो निश्चित कर लिया जाता है कि नेत्र ठीक है ।

हे आत्मन् ! यदि वस्तु दर्शन हो रहा है तो हम नेत्र के होने में सन्देह नहीं करते । क्योंकि बिना नेत्र के कोई रूप दर्शन सम्भव नहीं होता । अब यदि मन, श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ न हो तो किसी विषय वस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं हो सकता, जैसे मुर्च्छा, ध्यान, सुषुप्ति अवस्थाओं में । अस्तु जब इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण, त्याग ठीक होता है तो मन की सत्ता को उनके पीछे स्वीकार कर लिया जाता है ।

जब किसी व्यक्ति से उसको सुनाई गई बात को फिर सुनाने को कहा जावे तो वह मन से सुन रहा था तो बता देता है कि यह सुना । लेकिन सुनते समय मन अन्यत्र होगा, देखते समय मन अन्यत्र होगा तो कह देगा मुझे क्षमा करें, मैं नहीं कह सकूँगा या मैं ठीक से नहीं देख पाया क्योंकि मेरा मन अन्यत्र था । अब मन की चंचल-शांत, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, पुण्य-पापादि

अवस्थाओं का भी ज्ञान ‘यह’ रूप ‘इदम्’ रूप से होता ही रहता है कि मेरा मन चंचल, शांत, सुखी, दुःखी, पापी धर्मात्मा इत्यादि है तो फिर मन के पीछे किसी जानने वाली सत्ता, किसी प्रकाशक, किसी साक्षी का होना स्वाभाविक स्वीकार करना ही होगा । क्योंकि मन दृश्य, प्रकाश्य वस्तु का मन ही स्वयं प्रकाशक द्रष्टा, साक्षी तो हो नहीं सकता । यदि मन की दशा जानने में आ रही है तो उसको जानने वाला उसके पीछे कोई अवश्य चैतन्य सत्ता की उपस्थिति है । उसे ही आत्मा, साक्षी अथवा मैं आदि नामों से बताया जाता है । अतः जो मन का प्रकाशक, मन का साक्षी है, वह ब्रह्म है और वही आत्मा तुम हो । अर्थात् जिसके द्वारा विषय, इन्द्रिय, देवता, मन सहित सब प्रकट होते हैं, वह सब पदार्थ पर प्रकाश्य कहलाते है एवं उन्हें जो प्रकाशित करता है, उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं और वह स्वयं प्रकाश आत्मा, साक्षी आत्मा तुम हो ‘‘तत्त्वमसि’’ ।

विषय करण सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ।।

–रामायण

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।

– गीता ३/४२ ।

मैं ही सर्व प्रथम

अपने शुद्ध साक्षी आत्म स्वरूप के अज्ञान के कारण हम शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मनादि उपाधियों के साथ तादात्म्य कर उन्हें ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं और इसे ही वेदांत में अहंकार कहते हैं । जब सद्गुरु की कृपा से इस मिथ्या अहंकार का नाश हो जाता है, तब शुद्ध साक्षी 'अहम्' स्वयं प्रकट हो जाता है । अहंकार के नाश का अर्थ शरीरादिक का नाश नहीं बल्कि उन-उन 'इदम्' वृत्ति में से अहं वृत्ति का नाश अर्थात् यह-यह रूप देह संघात् में मैं पने की बुद्धि का नाश है । आत्मा नित्य सत्य है, किन्तु अज्ञान आवरण के कारण प्रतीत नहीं होता है । जैसे बच्चा गर्भस्त होने के कारण, नारीयल में जल व खोपरा होने के कारण, सरोवर में पत्तों के कारण, जल होने पर भी एवं पृथ्वी में जल होने पर भी मिट्टी के कारण प्रतीत नहीं होता है, इसी प्रकार आत्मा नित्य, सत्य होने पर भी बुद्धि पर पंचकोष, तीन शरीर, तीन अवस्था के अज्ञान आवरण छा जाने के कारण ''मैं आत्मा हूँ'' ऐसा सबको प्रतीत नहीं होता है । इस प्रकार असली तथा नकली दो रूप 'अहं' के देखे जाते हैं । नकली अहं के नष्ट होने पर असली शुद्ध अहं प्रकट स्वतः हो जाता है । इस देह संघात् अभिमानी नकली अहं को अहंकार कहते हैं । यह एक शरीर में अभिमान करने के कारण व्यष्टि जीव तथा समस्त ब्रह्माण्ड के स्थूल शरीर में अहं बुद्धि करने से ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है ।

अपने वास्तविक आत्म स्वरूप की खोज के लिए वर्तमान हम अपने को अज्ञान दशा में मान रहे हैं, वहीं से विचार को प्रारम्भ करते हैं ।

किसी भी व्यक्ति से उसका परिचय पूछने पर वह अपना सर्वप्रथम नाम बतलाता है । परन्तु यह नाम तो व्यक्ति नहीं है । यह तो शरीर का परिचायक है जो सामाजिक, पारिवारिक सुव्यवस्था हेतु सम्बन्धी जनों द्वारा कल्पित कर रखा गया है । जो जन्म से साथ आया नहीं, जिसका कोई चिह्न भी नहीं पाया जाता है, वह असत् नाम आप कैसे हो सकते हैं ?

अब शरीर को अपना रूप मानते हो तो आप कौन से शरीर हो ? क्योंकि शरीर तो अवस्थांतर को प्राप्त होता रहता है । आप बालक शरीर है या किशोर शरीर ? आप यूवा शरीर हैं या प्रौढ़ शरीर ? आप गर्भस्त अति लघु शरीर हैं या वृद्ध शरीर ? आप जन्मने वाले हैं या मृत होने वाले ? आपकी कितनी आयु है, ५,१५,२५,४०,८० वर्ष ?

विचार करने से ज्ञात हुआ कि बचपन से आज तक कितने प्रकार के शरीर में परिवर्तन हुआ मैं उनमें से किस शरीर एवं आयु को अपना मानूँ ? फिर देखा कि बाल्यावस्था वाला शरीर यूवा अवस्था में नहीं है, किन्तु ऐसा तो नहीं देखा गया कि बाल्यावस्था का अनुभव कर्ता यूवा अवस्था में विद्यमान नहीं है । यदि ऐसा होता तो बाल्यावस्था का स्मरण यूवा या वृद्धावस्था में नहीं हो पाता । यह तो स्पष्ट हो जाता है कि शरीर की अवस्थाओं का अनुभव करने वाला मैं अवस्था एवं शरीर से पूर्ण भिन्न हूँ । क्योंकि मैं सदा रहता हूँ शरीर बदलता रहता है । इसलिए शरीर मिथ्या नाशवान् है । मैं किसी से उत्पन्न नहीं हुआ । शरीर पंच भूतों का कार्य होने से जड़ है, विकारी है, नाशवान् है, किन्तु मैं सत् एवं सबको जानने वाला होने से चैतन्य भी हूँ । शरीर तो जड़ है क्योंकि उसे 'स्व-पर' का ज्ञान नहीं है ।

हे आत्मन् ! आश्चर्य कि जीव स्वयं चैतन्य का अंश होने से चैतन्य होकर भी अपने को जड़ शरीर मान लेता है । यदि मैं जड़ शरीर ही होता तो जड़ शरीर के भीतर तथा बाहर के विषयों का न ज्ञान होता । क्योंकि जिस वस्तु को मैं जानता हूँ, उसमें मैं भिन्न होता हूँ । शरीर से भिन्न न होना तो यह मेरा हाथ, यह मेरी आँख, यह मेरा मन, यह मेरा शरीरादि नहीं जान पाता । जब मैं अपने शरीर को जानता हूँ तो फिर मैं शरीर से अवश्य ही भिन्न हूँ । परंतु यह शुद्ध विवेक बिना सत्संग के प्राप्त नहीं होता एवं बिना सद्गुरु के

सत्संग प्राप्त किए यह सद् विचार बुद्धि में कभी जाग्रत ही नहीं हो पाता । इसी कारण जीव अपने साक्षी आत्म स्वरूप को भूल मिथ्या देह संघात् में अभिमान कर दुःखी बना संसार चक्र में भ्रमण करता कष्ट पाता रहता है । तथा जन्म, नाश, रोग,अंधता, बुद्धि मंदता आदि विकारों को अज्ञानी अपना मानता चला आ रहा है ।

हे आत्मन् ! जब आँख अंधी होती है तो मैं अपने को अंधा मान लेता हूँ । इसका अर्थ हुआ कि 'मैं आँख हूँ ।' भूख-प्यास प्राण के धर्म एवं मैं कहता हूँ, मैं भूखा, मैं प्यासा हूँ । मन के शांत-अशांत होने पर मैं कहता हूँ, मैं शांत अशांत हो जाता हूँ । इसी प्रकार बुद्धि को डॉक्टरी, मास्टरी, इंजीनियरिंग या वकील का ज्ञान हो जाता है तो मैं अपने को डॉक्टर, मास्टर, वकील, इंजीनियर मान लेता हूँ जबकि मैं तो वह हूँ जब यह विशेष ज्ञान बुद्धि में उदय नहीं हुआ था एवं वह मैं हूँ जब यह ज्ञान वृद्धावस्था में बुद्धि से भुला दिया जाता है एवं देह इंद्रियों द्वारा कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता है । तब भी जो उस भावाभाव का एक साक्षी है वही आत्मा मैं हूँ ।

हे आत्मन् ! यह क्षण-क्षण में परिवर्तन होने वाला शरीर एवं बदलने वाली मनोवृत्ति मैं नहीं हूँ । क्योंकि एक ही समय में मैं रोगी-निरोगी, दयालु-कठोर, चोर-इमानदार, धर्मी-अधर्मी सब कुछ तो नहीं हो सकता । परंतु भिन्न उपाधियों के साथ तादात्म्य कर उनके गुणों को अपने गुण मान लेने के कारण यह नानात्व का भ्रम पैदा हो जाता है । समस्त अवस्था जड़ है उनको जानने वाला जड़ एवं अनित्य अहंकार नहीं हो सकता । इन देह संघात् जड़ वस्तुओं को ही अहंकार कहते हैं । मैं इनको जानने वाला आत्मा नित्य चैतन्य स्वरूप हूँ । देह संघात् जड़ होने से भी चैतन-सा प्रतीत होता है, उसका कारण है कि आत्मा का संसर्ग अध्यास हो रहा है । जैसे सूर्य के सम्बन्ध से चंद्रमा प्रकाश रहित होते हुए भी प्रकाश रूप प्रतीत होता है । अर्थात् चैतन्य स्वरूप आत्मा का जड़ शरीर के तादात्म्य सम्बन्ध होने पर ही 'मैं शरीर हूँ' यह भाव उठता है । इसे ही अहंकार कहते हैं । जैसे रस्सी अज्ञान से जड़ रस्सी में चेतन सर्प भ्रान्ति हो जाती है, इसी प्रकार आत्मा अज्ञान से देहादि संघात् में अहं भ्रान्ति हो जाती है । अर्थात् मैं पने का निश्चय हो जाता है ।

अज्ञान से उत्पन्न वस्तु का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता है जैसे अंधकार से उत्पन्न सर्प की अपनी कोई सत्ता नहीं होती है। उस अज्ञान से उत्पन्न वस्तु के नाश हेतु अधिष्ठान का ज्ञान ही एक मात्र साधन है । इसी तरह अहंकार की उत्पत्ति का मूल आत्म अज्ञान होने से बिना आत्म ज्ञान हुए इस दृश्य अहंकार वृत्ति का नाश करोड़ों अन्य साधनों द्वारा नहीं हो सकता । अतः अहंकार का नाश एक मात्र आत्म ज्ञान द्वारा ही सम्भव है । आत्म ज्ञान की प्राप्ति किसी श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ही होती है, अन्य किसी साधन से नहीं ।

आत्मा स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध होने से प्रमाणित करने हेतु अन्य प्रमाण एवं साधन की आवश्यकता नहीं । फिर आत्मा अद्वय तथा चैतन्य है । उसकी तरह अन्य श्रेष्ठ चैतन्य आत्मा का अभाव होने से उसका प्रकाशक कोई अन्य नहीं हो सकता । यदि आत्मा से भिन्न कोई प्रकाशक अन्य होगा तो आत्मा जड़ रूप हो जावेगा । और वह प्रकाशक चैतन्य रूप मानना होगा । यह सत्, चित्, आत्मा को जड़ मनना अनुभव के विरुद्ध होगा । मैं सद्रुप होते हुए चैतन्य स्वरूप हूँ । जड़ नहीं हूँ क्योंकि मैं समस्त देह, प्राण, इन्द्रिय अन्तःकरण के परिवर्तनों को सत एक रस आत्मा जानता रहता हूँ । यदि चित से भिन्न सत् मानोगे तो वह आत्मा असत् हो जावेगा जबकि मैं त्रिकाल में विद्यमान हूँ ।

जीव का वास्तविक स्वरूप सत+चित है । किन्तु एक शरीर तथा अंतःकरण के साथ तादात्म्य भाव कर लेने से **जीव** कहलाता है तथा समष्टि स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर में अभिमान करने से वही सत्+चित आत्मा **ईश्वर** कहलाता है । इस अविद्या तथा माया उपाधि के भेद से ही जीव ईश्वर के चिदाभास पृथक्-पृथक् है जैसे अल्पज्ञ-सर्वज्ञ, अल्पशक्ति-सर्वशक्ति आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं । सत् तथा चित् दृष्टि से जीव ईश्वर में कोई भेद नहीं है । व्यष्टि देह की उत्पत्ति समष्टि पंचभूतों से हुई है । इसलिए व्यष्टि देह समष्टि ब्रह्माण्ड से भिन्न नहीं है, उपाधियाँ अज्ञानमूलक होने से मिथ्या है । इसलिए ईश्वर एवं जीव का भेद भी मिथ्या है (व्यावहारिक सत्य है) परन्तु जीव साक्षी आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा का अभेद घटाकाश

मठाकाश की तरह पारमार्थिक है । अतः ईश्वर का साक्षात्कार स्वयं के स्वरूप ज्ञान से भिन्न नहीं है ।

उपाधियों का त्याग करने पर निरुपाधिक आत्मा स्वतः सिद्ध प्रकट हो जाती है । शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मनादि में जो मैं बुद्धि अज्ञान से कर रखी है, इसे विचार से हटाना कि मैं शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि देह संघात् एवं इनके गुण, कर्म वाला जीव नहीं हूँ । यह अनात्म भाव का त्याग कर देने पर 'नेति-नेति' की अंतिम सीमा का जो साक्षी आत्मा शेष रह जाता है, वह स्वयं ही प्रकट है । यह सर्व साक्षी निजात्म स्वरूप का मैं रूप से बोध होना ही आत्म दर्शन है । इसी आत्म दर्शन को भगवत् दर्शन, ईश्वर दर्शन या परमात्म दर्शन नाम से कहा जाता है ।

परमात्मा ईश्वर, आत्मा, चैतन्य, निराकार, व्यापक, शक्ति होने से उसका कोई साकार व्यष्टि रूप नहीं है । भक्तों को जो दर्शन होता है, वह उनके मन की भावना की मूर्ति का ही होता है । परमात्मा दर्शन की वस्तु नहीं, वह द्रष्टा है । अतः ईश्वर दर्शन की भ्रामक धारणा का त्याग कर निजात्म स्वरूप में ही संतुष्ट रहना चाहिए ।

जो द्रष्टा है, वह आत्मा है और उससे भिन्न दृश्य विषय अनात्म कहलाते हैं । अर्थात् द्रष्टा आत्मा केवल एक होने से उसका दृश्य रूप मैं दर्शन नहीं हो सकता ।

अनात्म देह संघात् से अहं बुद्धि का त्याग ''मैं शुद्ध आत्मा हूँ'' इस ज्ञान वृत्ति द्वारा स्वरूप में स्थित हो जाना ही आत्म दर्शन अथवा आत्म निष्ठा है । क्योंकि दो आत्माएँ नहीं हैं जो एक दूसरे को देखेंगी । जैसे निद्रा दोष से स्वप्न द्रष्टा ही अपने को कोई राजा या भिखारी रूप में देखे, किन्तु निद्राभंग हो जाने पर वह राजा अपने को भिखारी नहीं देखता एवं भिखारी राजा नहीं देखता है । इसी प्रकार अज्ञान दोष से ब्रह्म ही जीव रूप में प्रतीत होता है, किन्तु सद्गुरु द्वारा ज्ञानोदय हो जाने से वह अपने को जीव नहीं, ब्रह्म ही देखता है । अथवा मंद अंधकार दोष से जैसे रस्सी साँप रूप प्रतीत होती है, किन्तु प्रकाश होने से केवल रस्सी ही मात्र प्रतीत होती है, सर्प

नहीं । इसी प्रकार जीव भाव का त्याग करने से पुरुष स्वयं को आत्म स्वरूप में स्थित देखता है । देह भाव नहीं रखता ।

सपनेहु होहि भिखारी जिमि, रंक नागपति होय ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जग जोय ।।

बुद्धि जड़ होने से उसे ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं, किन्तु चेतन आत्मा के संसर्ग के कारण चेतना प्राप्त कर विषय ज्ञान करने में समर्थ होती है । बुद्धि को अनेक वस्तुओं का ज्ञान होता है तथा अनेक वस्तुओं, विषयों का अज्ञान होता है । जब बुद्धि अनजानी, अनदेखी वस्तुओं को देख लेती है, जान लेती है, तब बुद्धि से उन वस्तु विषय का अज्ञान हट जाता है और हम वह चेतन सत्ता हैं जो बुद्धि के अज्ञान एवं ज्ञान को भी जानते रहते हैं । आत्मा ज्ञान अज्ञान धर्मी नहीं है । क्योंकि प्रकाशक, प्रकाश्य बुद्धि के धर्मों से भिन्न ही रहता है । जिसके कारण बुद्धि में चेतना, ज्ञानशक्ति है, वह बुद्धि का विषय कैसे हो सकता है ?

''येन इदं सर्वं विजानियात्'
'विज्ञातारम रे केन विजानियात्'

जिसका जो स्वरूप होता है, वह उसे बोझा रूप नहीं होता है और न उसे त्यागा ही जा सकता है । यदि दुःख बंधन जीव का स्वभाव होता है तो उसे त्यागने की चेष्टा कभी नहीं करता और न उसे वह दुःख रूप ही होता है । जैसे व्यक्ति का ६०,७०,८०,१०० K.G. वजन उसे कभी बोझ रूप नहीं लगता है किन्तु ५ किलो वजन उठाकर चलने में थकावट हो जाती है । अग्नि की उष्णता न त्यागी जा सकती है न उष्णता अग्नि को जला पाती है न उष्णता बिना अग्नि का कोई अस्तित्व ही रह सकता है । इसी प्रकार जीव का वास्तविक स्वरूप आत्मा होने से जीव को आत्म प्राप्ति हेतु किसी प्रकार के साधन करने की आवश्यकता नहीं रहती है । आत्मा के बिना जीव का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा ।

दुःख आत्मा का स्वरूप होता तो वह कभी भी त्याग नहीं किया जा सकता था । न दुःख से किसी प्रकार पीड़ा का अनुभव होता न त्याग करने

का प्रयत्न किया जाता । किन्तु दुःख किसी को प्रिय नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि मैं दुःख स्वरूप नहीं हूँ बल्कि आनन्द स्वरूप हूँ । किन्तु अज्ञान से स्वयं को दुःखी मानकर विषय भोग द्वारा हम सुखी बनना चाहते हैं । यह तो ऐसे ही है जैसे चीनी स्वयं मीठी बनने के लिए अनेक मिठाईयों का उपभोग करना चाहे या कुत्ता रक्त का अनुभव करने हड्ड़ी को चूसने का पुरुषार्थ करता हो ।

आत्मा आनन्द स्वरूप है । आनन्द उसका स्वभाव है । यह सत् स्वरूप ही चित् है और पूर्ण है । सब देश, काल, वस्तु रूप होने से अप्राप्य कुछ नहीं है। इसलिए आनन्द स्वरूप है । पूर्णता में अभाव की प्रतीति नहीं है और जहाँ अभाव नहीं वहाँ दुःख नहीं, बल्कि नित्यानन्द ही बना रहता है । अतः यह सिद्ध हो गया कि मैं आत्मा सब काल में हूँ । इसलिए सत् हूँ । सब काल को जानता हूँ, इसलिए चित् हूँ तथा सब काल प्रिय हूँ, इसलिए आनन्द स्वरूप हूँ । यह ज्ञान ही हमें समस्त दुःखों से छुटकारा दिलाकर परमानंद स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति करता है ।

मोक्ष प्राप्त करने की वस्तु नहीं वह अग्नि की उष्णता धर्म की तरह स्वतः सिद्ध नित्य आत्मा का स्वरूप ही है । अज्ञान से ही आत्मा में बंधन की प्रतीति हो रही थी । वही सद्गुरु की कृपा से बंधन भ्रम की निवृत्ति को, औपचारिकता से मुक्ति की प्राप्ति कहा जाता है । वास्तव में कुछ नूतन प्राप्ति को मुक्ति यहाँ नहीं समझना चाहिए । मोक्ष मरने के बाद मिलने वाली वस्तु न समझें । जैसा कि लोग मरने के बाद स्वर्ग, वैकुंठ, इष्ट लोक की प्राप्ति रूप मुक्ति मानते हैं, किन्तु यह सब कर्म, उपासना द्वारा प्राप्त लोक, पद, भोग नाशवान् ही है ।

वेदांत सिद्धांतानुसार मुक्त जीवात्मा अज्ञानता से स्वयं को देह प्राण, इन्द्रिय, मनादि मान बंधन को प्राप्त होता है । अज्ञान मूलक बंधन का नाश जब आत्म ज्ञान द्वारा हो जाता है, तब उस पुरुष को यह ज्ञान होता है कि मैं सर्वदा मुक्त ही था । तब उसे ऐसा बोध नहीं रहता कि बंधन में था एवं ज्ञान पाकर अब मुक्त हुआ है। बल्कि मुक्त ही, मुक्त हुआ । '**विमुक्तश्च विमुच्यते**' । जीवत्व भाव ही बंधन है, जो अज्ञान का कार्य है अतः स्वयं को बद्ध मानना

एक भ्रामक कल्पना है । भ्रम के नाश होने पर कहना कि मैं मुक्त हो गया भी केवल औपचारिक है । क्योंकि वास्तव में मुझे बंधन कभी हुआ ही नहीं था ।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रूर ।
पाया, खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।

संसार में बड़े पद वस्तु को पाने हेतु ज्यादा कठिन साधन, समय, शक्ति, धन व्यय करना पड़ता है । इसी प्रकार आत्मा को पाने हेतु शारीरिक कष्ट उठाने वाले को लोग तपस्वी, योगी, त्यागी, संन्यासी कहते हैं । किन्तु वह सब त्याग, साधन द्वारा उन्हें निराशा ही मिलती है । परमात्मा को पाने हेतु कुछ करना नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र नित्य, सब रूपों में विद्यमान है । तब यहाँ उसे पाने का महान तप क्या है ? केवल सद्गुरु को प्राप्त कर अनात्मा में से मैं पने के अहंकार का त्याग ही महान तप है ।

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

स्वयं का स्मरण

संसार चक्र घूम रहा है, लेकिन उसमें अचल रूप से स्थित तुम आत्मा अपने को क्यों घूमता हुआ मान रहे हो ? यह तुम्हारा मूल भ्रम है कि तुम अपने को विकारी, परिवर्तनशील, नाशवान् शरीर मानते चले आ रहे हो । शरीर प्राण, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि के भीतर जो कील रूप, केन्द्र रूप है, उसे देखो । जिसके सहारे ये सब दृश्य गतिशील हो रहे हैं, उस अगति स्वरूप स्वयं आत्मा को जानो । वह जो नहीं घूम रहा है, न घूम सकता है, न कभी गतिशील हुआ है । वही अचल, निर्विकार, कूटस्थ, अखंड, अव्यय, अनामय, अलिंगी, निराकार आत्मा तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

जान जान जानने वाले को जान ।
देख देख देखने वाले को देख ।।
सुन सुन सुनने वाले को सुन ।।।

रथ के चाक को मत देखना, रथ के चाक के कील को देखना, घूरी को देखना वह नहीं घूमता है, पहिए घूमते हैं, एक्सिल नहीं घूमता है ।

स्वयं को कील स्वरूप जानो । शरीर तो प्रतिक्षण तुम्हारे सहारे परिवर्तन को प्राप्त हो रहा है । तुम सब अवस्था के साक्षी हो । उठते, बैठते, सोते, जागते, उस साक्षी स्वरूप का स्मरण जगाये रखो तो धीरे-धीरे समस्त परिवर्तनों के पीछे उसके दर्शन होने लगेंगे, जो कि परिवर्तन को प्राप्त नहीं होता है । जो कि दृश्य नहीं होता । वही तुम हो, वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है ।

सदैव एक का स्मरण रखो, जो शरीर के भीतर है । चलते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते प्रत्येक क्रिया करते हुए उसे जानते रहो, उसका स्मरण बनाये रखो, जो सब कुछ देख रहा है, सब कुछ जान रहा है और वह साक्षी द्रष्टा आत्मा तुम हो । सब क्रिया परिधी पर हो रही है, बाहर-बाहर, ऊपर-ऊपर हो रही है, केंद्र बिंदु कील पर नहीं । और सब करने के पार हमारा होना है । इसलिए सब कर्म होने में अकर्ता रूप अपने को जानते रहो एवं समस्त परिवर्तनों में अपने को अचल देखते रहो । किसी भी क्रिया के साथ तादात्म्य बुद्धि न करें । उनके साक्षी रहो । सहज श्वाँस के प्रति जागे हुए रहो । भोजन के स्वाद के प्रति होश में रहो । निद्रा के आने को एवं जाग्रत आने के प्रति होश में रहो एवं देखते रहो तो तुम शिघ्र ही साक्षी पद में स्थित हो सकोगे ।

ध्यान, जप, चिंतन, कुछ न करो, बस सहज श्वाँस के प्रति जागो । श्वाँस के गमनागमन को देखो । श्वाँस के आने जाने के साक्षी रहो । श्वाँस को न तेज बहाओ न धीमे चलाओ, न भीतर रोको न बाहर । ऐसा श्वाँस के प्रति दृश्य भाव जाग्रत हो जाने से मृत्यु भय से मुक्त हो सकोगे । कोई श्रमपूर्ण चेष्टा न हो । चारों ओर जो हो रहा है, उसे सजग होकर देखो । जो सुनाई पड़ रहा है, उसे साक्षी भाव से सुनो । सभी अनुभवों के साक्षी रहो । मैं हूँ को कभी न भूलो फिर मैं भी खो जावेगा रह जावेगा 'हूँ' । बस जो शेष में सब के रह गया वह 'हूँ' ही ब्रह्म है । वही तुम हो ।

बस देखना है । कितना सहज है, जहाँ कुछ भी श्रम नहीं करना है । लेकिन हमें बिना कुछ किए चुप बैठे रहने की आदत नहीं है । इसलिए कुछ न करना जैसा कार्य भी बहुत कठिन हो गया है ।

फिर क्या करें ? करें कुछ भी नहीं, बस, जागें - देखें सारी बातें । मन को ही देखें, मन के प्रति होशपूर्ण रहें ।

मन को वश में करने का उपाय न सोचें । सभी उपाय मन के रोकने के लिए मन को ही करना है । मन मिटाना है तो उसको काम देना नहीं कि ऐसा करो, ऐसा सोचो, ऐसा मत करो, ऐसा मत सोचो । बल्कि मन मिटाना है तो मन के साक्षी होकर रहो । मन जो करता है, उससे मन स्वयं कैसे नष्ट

होगा ? बल्कि सब करने में मन की उपस्थिति तो अनिवार्य रूप से रहेगी । मन स्थिर होता ही नहीं । वस्तुतः चंचलता का नाम ही मन है । इसलिए मन या तो होता है या नहीं होता है । मन या अमन बस ऐसी ही स्थिति है । मन रहते स्थिर नहीं हो सकता । अग्नि रहते शीतल नहीं हो सकती । मन मिटाया तो जा सकता है । अग्नि शान्त तो की जा सकती है, किन्तु शीतल नहीं । मन मिटाया तो जा सकता है, किन्तु स्थिर नहीं किया जा सकता । जीवन में शान्त मन जैसी कोई चीज नहीं है । यह मृत्यु पर ही शान्त हो सकेगा ।

जप करने से मन मूर्च्छित हो सकेगा, आत्म सम्मोहन अवस्था बन जाती है, किन्तु मन मरता नहीं है, फिर लौट आता है ।

ध्यान है जागना, देखना, साक्षित्व यह क्रिया नहीं है । बल्कि समस्त क्रियाओं का विश्राम ध्यान मन के पार है । मन संसार के भीतर है । जाने कि न कुछ बुरा है, न भला है । बस भाव है अतः रोके नहीं, देखे । कर्ता नहीं, द्रष्टा बने, साक्षी रहे ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

ज्ञान मय ब्रह्म से रचित यह समस्त जड़ चेतनात्मक सृष्टि ब्रह्ममय ही है । जब सच्चिदानन्द घन ब्रह्म से यह सब जगत् जल से बर्फ की सदृश परिपूर्ण है, तब किसी वस्तु का त्याग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः (वि.चू.)
प्रज्ञपायो विजानाति स जीवन्मुक्त लक्षण ।

अर्थात् इस सृष्टि का उपादान निमित्त कारण एक अखण्ड परमात्मा होने से उसकी कार्य रूप सृष्टि भिन्न नहीं है । इसलिए यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, जिसे त्यागा जा सके ।

ब्रह्महि से जग उपजे, कहत सयाने लोग ।
ताहि ब्रह्म त्यागे बिना, जगत् न त्यागन जोग ।
ब्रह्म जगत् का बीज है, जो नहि ताको त्याग ।
जगत् ब्रह्म में लीन है, कहहु किससे ले वैराग ।।

'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेंति तदात्मानं स्वयं कुरुत'

– तैत. उप.२/६/१

वेद मतानुसार इस समस्त दृश्य सृष्टि का निमित्तोपादान कारण एक पर ब्रह्म परमात्मा है । उस परमात्मा ने, इस सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्व सृष्टि के जीवों को उनके फलित संचित् कर्मों को, भुगवाने के लिए संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ । फिर वह एक सत् ब्रह्म, तेज, जल, पृथ्वी रूप होकर जड़ चेतनात्मक सृष्टि रूप हो गया ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ – ७/७ : गीता

बीजं मां सर्व भूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ – ७/१० : गीता

हे अर्जुन ! मेरे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र के मणियों के सदृश मेरे में गुंथा हुआ है । सम्पूर्ण भूतों का मैं ब्रह्म ही सनातन कारण हूँ और वह मैं ही समस्त तेजस्वियों का तेज एवं बुद्धिमानों का बुद्धि रूप हूँ ।

उक्त प्रमाणों से निश्चय हो गया कि ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी अन्य नहीं है । तब त्याग ग्रहण किसका कौन करे ? बुद्धिमान एवं तेजस्वियों का तेज वही है तब विचार करें कि पुण्य-पाप आप किस आधार से मानेंगे ? कौन यहाँ अन्य है जिसके साथ शुभाशभ क्रिया हो सकेगी एवं जिसका फल पुण्य-पाप रूप स्वर्ग-नरक जा सुख-दुःख भोग हो सकेगा ।

एक परमात्मा सर्व रूप होने से पुण्य-पाप की कल्पना अज्ञानियों की दृष्टि से है । जैसे स्वप्न में साक्षी नाना संसार रच कर उसमें शुभाशुभ की कल्पना कर ग्रहण-त्याग पुण्य-पाप मान लेता है । किन्तु जाग्रत होने पर विचार होता है कि वहाँ मेरे सिवा अन्य नहीं होने से पुण्य-पाप कुछ नहीं है । स्वप्न सब भ्रान्ति मात्र है या स्वप्न साक्षी ही पुण्य-पाप कर्मों का करता है । यदि कहो कि प्रेरक परमात्मा है, कर्ता नहीं । तब फिर दो चैतन्य मानना पड़ेगा जबकि यहाँ द्वैत कुछ नहीं है । जैसे कारण बीज ही कार्य रूप में

वृक्षाकार होता है । अव्यक्त बीज ही व्यक्त होकर दीखता है । तैसे ब्रह्म ही अव्यक्त स्थिति से व्यक्त रूप जगदाकार बन जाता है । जैसे स्वर्णवेत्ता को स्वर्ण से बने सब अलंकार स्वर्ण रूप प्रतीत होते हैं । तैसे ही ब्रह्मवेत्ता को ज्ञान होने पर, सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखता है । ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाता । जो ब्रह्म से पृथक् किंचित् भी अन्य देखता है, वह जन्म-मृत्यु के असहनीय कष्ट को यहाँ से ब्रह्मलोक तक भोगता रहता है ।

बिष्ठाया यादृशं दुःखमसह्य जायते कृमेः ।
तादृशं ब्रह्मलोकेऽकि मरणादौ प्रजायते ॥ – आत्म पुराण, ४/७/३९

बिष्ठा में बसने वाले कीड़े को जैसा असह्य कष्ट होता है, उसके सदृश ही ब्रह्मलोक पर्यंत सबको जरा, जन्म और मृत्यु आदि क्लेश होते हैं, ऐसा तत्त्ववेत्ता ज्ञानीजन मानते हैं ।

जब सर्व ब्रह्ममय दृष्टिगोचर होने लगता है, तब जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है । समस्त संसार अपना स्वरूप दीखता है । फिर ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानी को सर्वत्र समभाव होने से पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष का भेद ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाता है । केवल स्वयं आत्मा ही आत्मा सर्वत्र दीखता है जैसे दर्पण में स्वयं ही भासता है ।

सत्यमेव त्वमेवतत
हरि ॐ तत सत्, त्वमेव तत

सत्य है वह तू है और तू वही है । अर्थात् सोई तू है और तू ही वह है ।

इसके विपरीत जो अपने को जन्मने मरने वाला देह मात्र जानता है और अपने से पृथक् अपना द्रष्टा, फलदाता, प्रकाशक, नियन्ता, नियामक दूसरे को मानता है । यह स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान कहलाता है । जो सब पापों का मूल कारण है ।

देहात्म बुद्धिजं पापं नतद्गोवध कोटिभिः ।
आत्माऽहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥

यह देह ही मैं हूँ, ऐसी दृढ़ विपरीत बुद्धि हाने से जैसा महान पाप होता है, वैसा पाप करोड़ों गाय हत्या करने से भी नहीं होता है । और सच्चिदानन्द आत्म ब्रह्म (सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि) मैं हूँ, ऐसा दृढ़ बोध होने के समान पुण्य, न भूत काल में कभी हुआ था न है न भविष्य में हो सकेगा । इसलिए कहा है –

स्नानं तेन समस्त तीर्थं सलिले
दत्तापि सर्वावनि र्यज्ञानां चकृत सहस्त्रमखिला
देवाश्च संपूजिताः । संसाराच्च समुद्धता ।
स्वापितरस्त्रे लोक्य पूज्योप्य सौ यस्य ब्रह्म
विचारेण क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् – सिद्धान्त मुक्तावली, १

ब्रह्म विचार में जिनका मन क्षणमात्र भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, वह महान् पुण्यशाली, जगत् वन्दनीय है । गंगादि समस्त तीर्थों में वह स्नान कर चुका । वह समस्त पृथ्वी का दान कर चुका । वह हजारों यज्ञ कर चुका और वह सर्व देवताओं का पूजन कर चुका । अपने-अपने सर्व पित्रों के उद्धार का मार्ग खोल दिया और वह त्रैलोक्य का पूज्य हो गया ।

सत्संग परं तीर्थ मन्यत्तीर्थ मनर्थकम् ।
सर्व तीर्थोंश्रयं हंसो ! महात्मने चरणाम्बुजम् ।।

बाह्य जड़ एवं तमोगुणी दुःख रूप तीरथ की अपेक्षा सत्संग रूप सर्वोत्तम तीर्थ करना सर्वश्रेष्ठ है । सत्संग के सम्मुख और तीर्थ वृथा है । संतों के पाद पद्म ही समस्त अन्य तीर्थों के आलम्बन हैं ।

मुद मंगलमय संत समाजु । जो जग जंगम तीरथ राजु ।।
मज्जन फल पेखिय ततकाला । काक होहि पिक बकउ मराला ।।
सुनि आश्चर्य्य करहिं जनि कोई । सत संगति-महिमा नहीं गोई ।।
सत संगति मुद मंगल मूला । सो फल सिद्धि सब साधन फूला ।।
शठ सुधरहि संत संगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ।।
विधि हरि हर कवि कोविद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मोहीसन कहि जात न कैसे। शाक बणिकमणि गुण गण जैसे ।।

– रामायण, बाल.

साधुनां दर्शनं पुण्यंतीर्थ भूताहि राघवः ।
न फलते तीर्थं सद्यः साधु समागमः ।। – चाणक्य

साधुना दर्शनं पुण्यं स्पर्श नं पाप नाशनम् ।
तीर्थानि नैवेद्यं परमं पदम् ।।१ ।। – वैष्णव गीता ।

तीनों लोकों में साधु दर्शन सर्वोपरि पुण्य रूप तीर्थ है । जड़ तीर्थ कालान्तर में शास्त्र विधि से करने पर फल देता है, किन्तु साधु समागम अग्नि उष्णवत् तत्काल फल देता है ।

सच्चे संतों का स्पर्श करने से सब पापों का समूह समूल नाश को प्राप्त होता है । उनका चरणोदक उत्तम तीर्थ है । और उनका शेष प्रसाद उच्छिष्ट रूप तत्त्वमसि महावाक्य परमपद का प्रदाता है, जिसके ग्रहण से जीव संसार चक्र से छूट परमधाम को प्राप्त होता है ।

तिस्त्र कोट्योर्ध कोटी च तीर्थानि भुवनत्रये ।
वैष्णवांघ्रि जलात्पुरायात्कोटि भागे न नोत्तमा ।।

तीन लोकों में मिलकर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, सम्पूर्ण तीर्थों के सेवन मात्र से जो फल मिलता है, वे सब महात्माओं के चरणोदक के एक बिन्दु के कोटि भाग करने से एक भाग के तुल्य भी नहीं हो पाता है । क्योंकि सकामी लोगों को तीर्थों का कुछ प्रसांगि फल होता है । और महात्माओं का चरणामृत मोक्ष प्रदान करने का प्रधान कारण होता है, जिससे आवागमन की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध ।
तुलसी संगत साधु की, हरे कोटि अपराध ।।

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयंम्

– वि.चू.

बहुत से वाग्जला से क्या प्रयोजन है ? जीव स्वयं ब्रह्म है । ''जीवो ब्रह्मैव ना परः'', ''एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'', ''नेह नानास्ति किंचन'' ।

पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं

पराधीनता सबको बुरी लगती है । पराधीन व्यक्ति सदा भयभीत रहता है । भयभीत को कभी स्वप्न में भी सुखानुभूति नहीं हो पाती है । स्वतंत्रता में ही सुख है, '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**' गीता : ३/३५ इतना जानते हुए मनुष्य दूसरों से सुख पाने की आशा एवं प्रयास करता है । दूसरों से अपनी प्रशंसा सुन सुखी होना चाहता है । दूसरों से सम्मान की आशा करता है एवं प्रत्यक्ष में वे सभी दुःखी ही होते हैं जो दूसरों से कुछ चाहकर सुखी होना चाहते हैं ।

आश्चर्य की बात है कि वस्तु से, व्यक्ति से, परिस्थिति से, घटना से, अवस्था से जो सुख चाहता है, उनका वह सुख उधार है, पराया है, उसे पराधीन होना पड़ेगा । कुछ भी चाहना अपने आप को दरिद्र बनाना है । अपने अखण्डानन्द स्वरूप आत्मा का अपमान करना है । मुफ्त में लोग दरिद्रता को खरीदते रहते हैं ।

जो सम्मान की इच्छा करता है वह सम्मान का गुलाम है । जो धन की इच्छा करता है, वह धन का गुलाम है । जो शिष्य की कामना करता है, वह शिष्य का गुलाम बना रहेगा । जो दूसरों से सम्मान प्रशंसा चाहता है, वह उस वस्तु का अधिकारी ही नहीं है । अधिकारी को वह वस्तु स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है जिसका जो अधिकारी है ।

जो परमात्मा की चाह करता है, वह कभी न तो दुःखी होगा न कभी पराधीन रहेगा । क्योंकि परमात्मा अपना स्वरूप है, परमात्मा दूसरी वस्तु नहीं है । जीव तो परमात्मा का अंश है ।

ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातन –१५/७ : गीता

ईश्वर अंश जीव अविनाशी – रामायण

जो साधक परमात्मा के अलावा दूसरी चीज से परम सुखी होने चाहेंगे तो दुःख निश्चित होगा । रोटी, कपड़ा, मकान तो जीवन निर्वाह के साधन हैं । सुखी होने के नहीं । यदि भौतिक वस्तु में सुख होता तो सभी भौतिकवादी सुखी हो जाते, किन्तु आज सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग दुःखी ही हैं । जो अपने को उत्पत्ति, विनाशशील वस्तु के आधीन मानेगा, वह सुखी कैसे होगा ? क्योंकि स्व उत्पत्ति नाश से रहित है । स्वयं अविनाशी है ।

जितने भी पदार्थ हैं, सभी उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं । क्रिया का आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है सभी परिवर्तनशील है । इस प्रकार के विकारी विनाशी परिवर्तनशील जगत् के पदार्थों, स्थिति, अवस्था से जो सुख चाहता है, वह अवश्य दुःखी होगा । उसे रोना निश्चित होगा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् । – ९/३३: गीता

जीव ईश्वर अंश नित्य, निर्मल, आनन्द स्वभावी है । उसे इस नश्वर जगत् के द्वारा कुछ स्थायी लाभ मिलने का नहीं । रोना ही पड़ेगा, पछताना ही पड़ेगा ।

इस जीवन की विशेषता इसी बात में है कि वह अपने निर्विकार, नित्यानन्द, एकरस, अखण्ड आत्मा को सद्गुरु की शरण में जाकर जान ले ।

मनुष्य जीवन में ही जो ज्यादा धन, सम्पत्ति, पद, बल, प्रतिष्ठा आदि भौतिकता से सम्पन्न हैं, वे सत्संग में नहीं जा पाते । तब जो भोग प्रधान देवता है, वे सत्संग को कैसे प्राप्त कर पावेंगे ? किन्तु मनुष्य जीवन में ऐसी विशेषता है कि यहाँ भोग के साथ परमात्मा का, अपने अंशी का, साक्षात्कार कर भी सकता है । किन्तु परिवर्तनशील भौतिक पदार्थों के ग्रहण–त्याग में ही जो सदा लगा रहेगा, वह अपने अमृत आत्म स्वरूप को साक्षात्कार कैसे कर सकेगा ?

संसार में पिता–माता को लड़की की शादी होने तक चिन्ता रहती है । रात–दिन उचित वर खोजते रहते हैं । जब लड़की शादी होकर उसके घर

चली जाती है, तो माँ–बाप खुशी हो जाते हैं, चिन्ता मुक्त हो जाते हैं । इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर जब जीव देह संघात् के सभी कर्म प्रकृति में होते हुए देखता है और अपने आत्मस्वरूप में नहीं देखता कि मैंने यह किया, मैंने वह किया, बल्कि मैं तो चेतन आत्मा इन सब प्रकृति के धर्मों से रहित हूँ ऐसा जान लेता है, तो वह परम सुखी हो जाता है । जब तक अपने साथ प्रकृति के कर्मों का बोझा उठाए रहता है, तभी तक दुःखी रहता है । अतः सभी प्रकृतिगत धर्मों का मन से अहंकार त्याग कर अपने को उनका साक्षी मात्र जानो । अर्थात् **जिस इन्द्रिय से जो कर्म होता है, उसी इन्द्रिय को उस कर्म का कर्ता जानो एवं अपने को उस इन्द्रिय, विषय एवं अहं कर्ता अन्तःकरण वृत्ति का साक्षी जानो ।** हम अपने स्वभाव में रहने को स्वतंत्र है । इन्द्रियों के धर्मों में विकार लाना या उन्हें धर्मच्युत करने का हमारा अधिकार या कर्तव्य नहीं है । स्वभाव में रहने में कोई साधन, समय नहीं लगता । हम नाशवान् विकारी देह, इन्द्रिय, मन एवं पदार्थों में अहं बुद्धि करते हैं, इसीलिए बन्धन होता है । स्वभाव में रहने से ही हम मुक्त हैं ।

सठ सुधरहिं सत संगति पाई ।

आदत छूटती नहीं, यह कहना ही गलत है । आदत का मतलब ही है कि उसे अपनाया है, सत्संग इसीलिए होता है कि हम उस आदत को अच्छी आदत में बदल दें । यहाँ हम आज जो एकत्रित हुए हैं, वह किसी भौतिक पदार्थों को संग्रह करने के लिए नहीं, बल्कि बुरी आदतों को छोड़ने के लिए ।

स्वभाव ही एक ऐसा है जो बदला नहीं जाता । वह आनन्द प्राप्ति का, चैतन्यता का, अमृत रहने का । इस प्रकार समस्त दुःखों से छुटकारा एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति केवल मनुष्य जीवन में ही सम्भव है । मनुष्य के अतिरिक्त देव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, भूत, प्रेत, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, कीट, पतंग किसी को मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है। यह केवल मनुष्य के लिए सुगम है एवं सम्भव है ।

साधन धाम मोक्ष कर द्वारा

संसार में इतनी सरलता, शिघ्रता से किसी अन्य पदार्थ की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती, जितना शिघ्र एवं सरलता से परमात्मा की प्राप्ति सम्भव होती है ।

भगवान ने अपनी प्राप्ति के लिए तो यह देव-दुर्लभ मानव शरीर प्रदान किया है, इसमें यदि यह कार्य सम्भव नहीं होगा तो फिर इस शरीर का महत्व ही क्या रह जावेगा ? स्वर्ग भोगना है तो ऊपर जाओ, नरक भोगना है तो नीचे जाओ एवं दोनों से ऊपर उठना है तो मनुष्य शरीर पाकर सद्गुरु की शरण में जाकर ज्ञान प्राप्त करो । बस इसे पाने की ही तीव्र उत्कंठा पैदा करो, कि हमें केवल यही लेना है । भोग एवं धन दोनों नहीं चाहिए । आपको भोग एवं धन अपनी तरफ न खींच सके । इतनी तीव्र इच्छा परमात्मा को पाने की जाग्रत कर लो ।

जैसे बचपन के खिलौनों से ऊपर उठ गये, अब वे किशोर अवस्था में मन को अच्छे नहीं लगते । इसी प्रकार अब धन, भोग, सम्मान, प्रशंसा, पुत्रादि से भी ऊपर उठ जाओ एवं तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लो । सीमित वस्तु के पाने में ही शक्ति, समय तथा धन की आवश्यकता होती है । परमात्मा सर्वत्र है, असीम है, नित्य है । उसके पाने में क्या समय ? क्या शक्ति ? कुछ नहीं, वह तुम्हारा स्वभाव है, वह तुम्हारा स्वरूप है । परमात्मा सबका अपना है । उसकी प्राप्ति के लिए आप उत्पत्ति विनाशशील वस्तुओं से रहति हो जाओ ।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से रहित हो जाओ । बाल्य, युवा, वृद्धा, अवस्था से पृथक् हो जाओ । जो क्रिया, घटना, वृत्ति, स्थिति, संयोग-वियोग की अवस्थाएँ होती हैं उनमें राजी मत होओ । मिटने वाली अवस्था में सुख मानना ही दुःख का हेतु है । जो संकल्प उठे, अवस्था आवे, उनसे अपने को पृथक् समझो । एक घड़ी, आधी घड़ी, एक मिनट भी अलग होकर अपने को जानलो तो इसी छोटे से साधन से मुक्ति का अनुभव कर सकोगे ।

देवता का पशु कौन ?

किसी भी जड़ पदार्थ के ज्ञान के लिए उससे भिन्न किसी चैतन्य प्रकाशक के होने पर उस वस्तु की सत्ता का ज्ञान होता है । बिना चैतन्य प्रकाशक के उस जड़ वस्तु के होने का ज्ञान नहीं हो पाता है । किन्तु मैं तो सदा ही दृष्टि के द्रष्टा रूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप हूँ । मैं सत्य, नित्य, चैतन्य हूँ, मुझे अपनी सत्ता के प्रकाशित होने में किसी अन्य चैतन्य ज्ञान प्रकाशक की जरूरत नहीं, मैं तो स्वयंप्रकाश, सर्वप्रकाशक, सर्वद्रष्टा, सर्व साक्षी हूँ ।

जिस प्रकार सूर्य ताप से तपा शरीर या अग्नि से जला दृश्य अंग ही आत्मा द्वारा जाना जाता है किन्तु वह ताप अंश या अग्नि अंश जाना नहीं जाता जिससे वह तपा या जला था । इसी प्रकार साक्षी के द्वारा मन, बुद्धि के सुख–दुःख रूप ताप का ही भान होता है, किन्तु स्वयं आत्मा सुख–दुःख रूप की तरह दृश्य नहीं होता । अज्ञानी व्यक्ति अन्तःकरण के सुख–दुःख धर्म को मैं सुखी, मैं दुःखी इस अभिमान का अध्यास अपने साक्षी आत्मा में करता है क्योंकि अन्तःकरण को ही अज्ञानी मनुष्य मैं, आत्मा समझता है । किन्तु जो विवेकी पुरुष है, उसे कभी भी मन के सुखी या दुःखी धर्म का मैं आत्मा सुखी, दुःखी इस प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती । लेकिन अज्ञानी देह के रोग, भोग, अवस्था को आत्मा में अध्यास कर मैं रोगी, मैं भोगी, मैं रागी, मैं प्रेमी, मैं क्रोधी, मैं बद्ध, मैं युवा, मैं वृद्ध मानता है । निष्कर्ष यह है कि अन्तःकरण के धर्म आत्मा का धर्म नहीं है । आत्मा सच्चिदानन्द, साक्षी मात्र है ।

'यह' 'यह' कहलानेवाला, दिखाई देने वाला 'यह' रूप से जानने में आनेवाले 'इदम्' अंश को मिथ्या दृश्य नाशवान् जानो । उसमें से अहं वृत्ति मैं पने का बाध हो जाने पर जो ''नेति-नेति'' की अवधि का प्रकाशक एक चेतन स्वरूप आत्मा शेष रह जाता है, वही मैं हूँ । दृश्य अन्तःकरण के सुख-दुःखादि धर्मों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं सर्वथा एकरस, नित्य, मुक्त, अद्वितीय, निर्मल आत्मा हूँ । ''नाहं सर्वं इदम्'' ।

ब्रह्म अद्वितीय है । वह शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय की तरह दृश्य नहीं है । बल्कि इनका विज्ञाता अर्थात् जाननेवाला है । वह किसी के अभिमान करने के लिए विषय रूप नहीं हो सकता जैसे कि मैं ज्योतिष शास्त्र ज्ञाता, दयावान, बलवान, धनवान् हूँ, मैं चित्रकला, नृत्यकला, गायनकला का ज्ञाता हूँ । इस तरह मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ, इस प्रकार किसी के अहंकार का विषय नहीं है । ब्रह्म ज्ञान तो अद्वैत सत्ता को बोध कराता है । ब्रह्म के अतिरिक्त वहाँ कोई दूसरा होता नहीं जिसको अपनी कला, बल, स्वर, बुद्धि का प्रदर्शन कर सके व कह सके ''शिवोऽहम्'', मैं ब्रह्म हूँ । ब्रह्मज्ञान का मतलब समस्त अहंकारों की निवृत्ति । यदि किसी को अपने ब्रह्मज्ञानी होने का अहंकार है तो फिर वह अज्ञानी ही है ।

तस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।। - केन उप. २/११

परन्तु जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे निश्चय ही नहीं जानता है । जो उसे जानने का अभिमान रखता है उनके लिये वह अविदित है, परन्तु जो अनजान बनते हैं, ब्रह्म को वे ही जानते हैं ।

''मैं ज्ञाता हूँ'' ज्ञेय नहीं हूँ । इस प्रकार की बुद्धि द्वारा जाना गया यह होश सद्गुरु प्राप्ति से पूर्व नहीं था । अब हुआ है एवं व्यवहार में भी यह द्रष्टा भाव, साक्षी भाव भूल जाते हैं । स्वप्न में भी स्मरण नहीं होता, ऐसा यह महाकारण शरीर रूप वृत्ति भी मेरी दृश्य है और दृश्य होने से एवं सब समय समान न रहने से उस वृत्ति को अखण्ड नहीं कह सकते । इसलिए वह वृत्ति दृश्य होने से नाशवान् एवं पर प्रकाश्य ही हैं । मैं उस द्रष्टा, साक्षी वृत्ति का भी प्रकाशक स्वयं प्रकाश चैतन्य आत्मा हूँ ।

जिस प्रकार मिट्टी युक्त जल को पीने योग्य बनाने की इच्छा वाले कतक चूर्ण (निर्मली बीज) उस मलिन पानी में डाल देते हैं । फिर वह चूर्ण सम्पूर्ण मिट्टी, मलिनता को नीचे बैठाकर स्वयं भी बैठ जाता है । उसी प्रकार मैं असत्, जड़ दुःखरूप शरीर हूँ । इस बुद्धि मलिनता को, साक्षी के स्वरूप पर से दूर करने के लिए, मैं सच्चिदानन्द अद्वैत, ज्ञाता, द्रष्टा आत्मा हूँ । यह विशेष ज्ञान समस्त देह संघात् के अहं-मम को नाश कर देता है । जैसे अग्नि लकड़ी को जलाकर स्वयं भी शांत हो जाती है, इसी तरह मैं ज्ञाता, द्रष्टा हूँ, इस विशेष वृत्ति का भी स्वयं नाश हो जाता है । सद्गुरु द्वारा प्राप्त द्रष्टा, ज्ञाता, वृत्ति प्रत्यगात्मा को समस्त विशेषणों से रहित शुद्ध रूप में दर्शा देती है । तात्पर्य यह है कि सद्गुरु से प्राप्त यह विशेष ज्ञान कि ''मैं ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ'', यह बुद्धि की ही विशेष वृत्ति साक्षी द्वारा जानने में आने से विनाशी है । आत्मा का धर्म ज्ञाता, द्रष्टा नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि आत्म ब्रह्म निर्विशेष है । आत्मा में बुद्धिवृत्ति नहीं है, इसलिए ज्ञान-अज्ञान धर्म भी नहीं है । ज्ञातृत्व धर्म न होने से आत्मा चिन्मात्र स्पष्ट है ।

सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीन प्रकार के भावों से यह समस्त संसार मोहित हो उसमें अहं-मम बुद्धि कर जन्म-मरण के पाश में बंधा दुःख भोग रहा है, किन्तु गुणों से परे अपने साक्षी आत्मा स्वरूप को नहीं जानता है ।

ये सत, रज, तम, गुण प्रकृति से उत्पन्न पंचभूत रचित स्थूल सूक्ष्म शरीर में अविनाशी जीवथ
ात्मा में अहं बुद्धि करा संसार चक्र में फंसाने वाले हैं ।

यह सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला है, विकार रहित होने से जीवात्मा को सांसारिक सुख में एवं उनके प्रति भोक्तापन के अहंकार का ज्ञान कराने वाला है ।

रजोगुण जीवात्मा को कर्तृत्वाभिमान एवं फल प्राप्ति की आशा में बाँध प्रवृत्ति में फंसाता है ।

यह तमोगुण जीवात्मा को अपने कर्तव्य पथ से साधन मार्ग से च्युत कर आलस्य, प्रमाद, मूढ़ता, निन्दा, हिंसा, क्रोधादि में बाँधता है ।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञाशनरमश्रेव च ।।

–१४/१७ : गीता

सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से अज्ञान उत्पन्न होता है ।

जब सद्गुरु की कृपा से यह जीव देहादि संघात् से अपनी तादात्म्य बुद्धि छोड़ तीनों गुणों एवं उनके कार्य देह संघात् का अपने को साक्षी जानता है, तब यह तीन गुणों के कार्य रूप स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर के अहंकार को त्याग जन्म–मरण रूप षड् विकारी देह से मुक्त हो दुःखों से छूट जाता है ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। –१४/१९ : गीता

जिस समय यह जीवात्मा अपने को तीनों गुणों का द्रष्टा एवं सच्चिदानन्द रूप परमात्मा को आत्म रूप से, सोऽहम् रूप से जानता है, उस समय ही यह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।।१४/२२ गीता

जो ज्ञानी पुरुष सत्त्वगुण के कार्य रूप ज्ञान को रजोगुण के कार्य रूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्य रूप मोह अज्ञान को भी न तो प्रवृत्त होने पर द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी इच्छा ही करता है । बल्कि अपने को तीनों गुणों से अति परे असंग, निर्विकार, साक्षी आत्मा ही जानता है ।

समस्त जगत् में आत्मा के अलावा कोई साक्षी, चैतन्य, नित्य शुद्ध नहीं है । समस्त इन्द्रिय कर्मों के कर्ता–भोक्ता, अन्तःकरण को जो आत्मा का धर्म मानते हैं, अपना धर्म मानते हैं वे अज्ञानी हैं । मैं आत्मा कर्म का कर्ता नहीं, अपितु समस्त कर्मों का द्रष्टा, विज्ञाता, साक्षी मात्र हूँ । ज्ञानीजन ऐसा निश्चय से जानते हैं ।

इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण की वृत्ति विषयाकार में परिणत हो जाती हैं एवं अधिष्ठान चैतन्य (वृत्ति आरूढ़) ही

अध्यस्त रूप में प्रतीत होता है । यह वृत्ति मुझ आत्म चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होती रहती है । अन्तःकरण की दृष्टि आत्म चैतन्य के लिए दृश्य है । इन्द्रियों से होनेवाले सभी ज्ञान उन-उन आकारों में परिणत हुई अन्तःकरण की वृत्ति से ही होते हैं और मैं उन सभी वृत्तिओं का प्रकाशक स्वयंप्रकाश आत्मा नित्य हूँ । वृत्तियाँ उदय-अस्त स्वभाव होने से नाशवान् हैं ।

मैं अशरीरी आत्मा हूँ, इसलिए भूख-प्यास, जन्म-मरण, जरा-व्याधि, शोक-मोहादि धर्म शिव स्वरूप मुझ आत्मा के नहीं हैं ।

अज्ञानी व्यक्ति को आत्मा-अनात्मा, द्रष्टा-दृश्य का विवेक न होने से वह अशुद्ध तमोगुणी वृत्ति के साथ तादात्म्य करके ''मैं मूढ़ हूँ'' ऐसा समझते रहते हैं एवं शुद्ध सात्त्विकी वृत्ति के साथ तादात्म्य करके ''मैं शुद्ध हूँ'' ऐसा समझने लगते हैं । इस कारण अज्ञानी जीव को गुण जन्य वृत्ति एवं उनके कार्यों में अहं-मम (अहंकार) रूप मिथ्या अभिमान होने से संसार बन्धन को प्राप्त होते हैं ।

हे आत्मन् ! मुझ अविकारी में विकार न होने से मैं विक्षेप रहित हूँ । और जब विक्षेप ही मुझ में नहीं, तब मैं समाधि साधन की इच्छा क्यों करूँ । विक्षेप-समाधि तो मेरे दृश्य विकारी मन के ही धर्म हैं । मुझ साक्षी, असंग आत्मा के नहीं । मुझ में मन ही नहीं है तब समाधि और विक्षेप ही मुझमें कैसे हो सकते हैं ? कभी नहीं ।

मैं यद्यपि नित्य, मुक्त, बुद्ध, शुद्ध हूँ । तथापि जब तक मुझे अपने नित्यत्व, शुद्धत्व-मुक्तत्वादि स्वभाव का अज्ञान था एवं मन, बुद्धि, देह संघात् को ही अपना रूप जानता था, तब तक मेरी समाधि, ध्यान, तप आदि अनुष्ठान में कर्तृत्व बुद्धि थी । किन्तु अब मेरे नित्यत्व, शुद्धत्व, मुक्तत्व स्वरूप का बोध (ज्ञान) हो जाने से ध्यान, समाधि एवं पूजा, मंत्र, जप, यज्ञादि धार्मिक वैदिक अनुष्ठानों के प्रति मेरी कर्तव्य बुद्धि नहीं होती ।

आत्म स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर किसी हेतु के न रहने के कारण समाधि आदि साधनों का अभ्यास करना अथवा न करना कर्तव्य नहीं रह जाता । ध्यान के द्वारा प्रत्यगात्मा (साक्षी) का साक्षात्कार हो जाने पर मुझे कृत-कृत्यता की सिद्धि हो जाने से कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता,

क्योंकि प्रत्यक् एकरस मुझ ब्रह्म का सोऽहम् रूप से ध्यान कर मुमुक्षु लोग कृत-कृत्यता का अनुभव करते हैं ।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् ।

बृ. उप., ४/४/२३

ब्रह्मवेत्ता की यह महिमा नित्य है, जो कर्म से न तो घटती है और न कर्म से बढ़ती है । मैं तो केवल (निर्विशेष) शिव-स्वरूप त्रिगुणातीत स्वयं प्रकाश आत्मा हूँ । न मेरे लिए सन्ध्या है, न रात्रि और न दिन है क्योंकि मैं नित्य साक्षी स्वरूप हूँ, दिन-रात मुझ नित्य प्रकाश स्वरूप आत्मा में नहीं है तब मैं सन्ध्या, उपासना दिन-रात के अभाव में कैसे करूँ ?

समस्त प्राणियों में मेरे अतिरिक्त कोई अन्य चैतन्य नहीं है, तथा मैं ही समस्त कर्मों का द्रष्टा, साक्षी, प्रकाशक (ज्ञाता) नित्य, निर्गुण और अद्वय आत्मा हूँ । मेरे अलावा कोई अन्य नहीं, इसलिए मेरे लिए कोई ज्ञेय भी नहीं ? क्योंकि मैं ही मैं हूँ सर्वत्र ।

वही वास्तविक ब्राह्मण है जिसने अपने आत्मा स्वरूप को ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप से जान लिया है । इस प्रकार जिसे आत्मनिष्ठा नहीं, वह देहाभिमानी आत्मघाती ही है ।

जो मनुष्य अपने को देहादि संघात् व उनके धर्मों में अहंकार करनेवाला तथा ज्ञाता समझता है, वह अज्ञानी जीव ही है । वह आत्मज्ञानी नहीं है । जो विवेकवान् पुरुष अपने को कर्म एवं भोगों का कर्ता-भोक्ता अहंकारी एवं द्रष्टा ज्ञाता नहीं समझता है उसे ही आत्मज्ञानी समझना चाहिए । अखण्ड, सर्वरूप, सर्वव्यापक, अद्वय आत्मज्ञानी व्यक्ति वही है, जो अपने को अकर्ता, अज्ञाता, अद्रष्टा, अभोक्ता रूप जानता है । क्योंकि यहाँ एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है तब वह किसका ज्ञाता,द्रष्टा, प्रमाता बने ? प्रत्युत कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा, अन्तःकरण युक्त चिदाभास जीव को साक्षी जानता है, वही आत्मवित है ।

वस्तुतः आत्मा तो देह से सर्वथा पृथक् असंग है । तथापि अज्ञानवश जीव देहादि के साथ आत्मा के अभेदाध्यास (तादात्म्य) से स्त्री, पुरुष,

हिन्दु, जैन, सिख, ईसाई, मुस्लिम, ओड़िआ, बंगाली, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, संन्यासी, गृहस्थी आदि का मिथ्या अहंकार (अभिमान) करता है । उसी प्रकार अहंकार प्रधान लिंग शरीर (चिदाभास, सूक्ष्मशरीर) और आत्मा का अभेदाध्यास (जड़, चेतनग्रन्थि) अविवेक से आत्मा में कर्तृत्वादि का मिथ्या अभिमान होता है ।

स्वप्नावस्था में सुप्त पुरुष सर्वथा श्रवण, मनन एवं कर्म, भोग ज्ञान का अनुभव करता है । यह दर्शन, श्रवण, मनन, ज्ञान सब अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी इनसे भिन्न है । स्वप्न में सवृत्तिक अन्तःकरण के विज्ञाता को साक्षी कहते हैं । सुषुप्ति में अन्तःकरण तो आत्मा में लय हो जाता है और उस वक्त एक आत्मा ही समस्त विषय, इन्द्रिय वृत्तियों के अभाव का साक्षी रूप से अवशेष रह जाता है । आत्मा तो वृत्तियों की तरह उदय-अस्त धर्म वाला है नहीं । वह तो स्वयं अद्वय, अखण्ड, एकरस, चिन्मात्र रूप (ज्ञान) है । अतः समस्त स्थूल, सूक्ष्म विषय, इन्द्रिय एवं ज्ञेय वृत्तियों को जानने वाला ''ज्ञान स्वरूप'' आत्मा है वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमान से रहित है । स्वप्न में जो भी विषय, वस्तु लोक-भोग क्रिया अहंकार प्रतीत होता है, वह सब सवृत्तिक अन्तःकरण ही आकार धारण करता है । उनको जो जानता है, जो प्रकाशित करता है वह साक्षी आत्मा उन सभी स्थूल, सूक्ष्म दृश्य प्रपंच से रहित है । एक रस, असंग, ज्ञान स्वरूप आत्मा से भिन्न कोई स्वयंप्रकाश, सर्वज्ञ, सर्वाधिष्ठान, अखण्ड, आनन्द स्वरूप आत्मा नहीं है । और वह आनन्द स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तुम ही हो ।

अदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्र नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽसि मन्त्र नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ । बृह.उप.३/८/११

हे आत्मन् ! यह परम अक्षर, परब्रह्म, साक्षी परमात्मा सबका द्रष्टा होकर किसी की दृष्टि के द्वारा नहीं देखा जा सकता । समस्त का श्रोता है किन्तु किसी के कान का विषय बन शब्द रूप हो सुनने में नहीं आता । समस्त मन का जाननेवाला मन्ता है, किन्तु किसी मन के द्वारा मनन रूप नहीं होता है ।

वह मन से सदा अचिन्तनीय ही है, सबको जानता (विज्ञाता) हुआ, परन्तु किसी की बुद्धि द्वारा नहीं जाना जाता । (अविज्ञात रहता है ।)

इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है, इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । और वह सर्व विज्ञाता तुम हो ।

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातरं विजानीथाः एष न आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम् ।

– बृह.उप.३/४/२

हे आत्मन् । तुम सर्व दृष्टि के द्रष्टा को दृश्य की तरह नहीं देख सकते । तुम ज्ञानेन्द्रिय के पीछे बैठे श्रुति के श्रोता को शब्द की तरह नहीं सुन सकते । तुम सबके मन के प्रकाशक, मन को मनन करने की शक्ति प्रदान करनेवाले मन्ता का मन के द्वारा मनन नहीं कर सकते । तुम सबके बुद्धि के विज्ञाता को, बुद्धि के द्वारा नहीं जान सकते । जो समस्त इन्द्रिय, अन्तःकरण के पीछे रहकर सर्व प्रकाशक, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञाता, सर्वमन्ता, सर्व श्रोता को, सर्वान्तर रूप आत्मा जानो अर्थात् वह तुम ही हो, तुमसे भिन्न उसे दृश्य विषय की तरह मत जानो ।

मन, बुद्धि के द्वारा जो जाना जाता है, वह दृश्य संसार है, वह परमात्मा नहीं है । मन, बुद्धि, ध्यान समाधि जिसके द्वारा जाने जाते हैं, जिसके प्रकाश में प्रकाशित होते हैं, वह परमात्मा है और वह तुम हो । वह तुमसे अन्य नहीं है । जो साक्षी परमात्मा को अन्य मानकर उपासना करते हैं, वे अज्ञानी परमात्मा को नहीं जानते हैं ।

ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति, लोक, वेद, भूत ये सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको अपने आत्मा से भिन्न जानता है । – बृह.उप., ४/५/७

जो भेद को देखता है, वह अन्य रूप में देवताओं की उपासना करता है । वह अज्ञानी उस देव का पशु ही है । – बृह.उप. १/४/१०

जो अज्ञानी है, उसी को द्वैत-सा होता है । वास्तव में तो यहाँ अद्वैत आत्म सत्ता से भिन्न अन्य कुछ नहीं है । अविद्या ग्रस्त मूढ पुरुष ही ऐसा मानता है कि मैं अन्य को सूंघता, सुनता, सम्मान करता, अपमान करता,

मारता, रक्षा करता, मदद करता, मनन, चिन्तन करता एवं जानता हूँ । किन्तु जिस महा भाग्यशाली विद्वान् पुरुष के लिए सब एक, अखण्ड, अद्वय, आत्मा रूप से अपने अनुभव में हो गया है, वहाँ द्वैत के अभाव में किसके द्वारा कैसे देखे, सुने, अभिवादन करे, मनन, ध्यान करे और किसके द्वारा किसे जाने, क्योंकि उसके लिए कुछ अन्य ही नहीं है ।

जिसके द्वारा इन सभी दृश्य विषय इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की वृत्तियों को जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? वह सर्वज्ञाता तुम ही हो ।

येनेदम् सर्वम् विजानाति, तं केन विजानीयात्
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति – बृह्मदा. उप. ४/५/१५
अथ यो अन्याम् देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहम
स्मीति न स वेद यथा पशुरेवम् स देवानाम् – बृह.उप. १/४/१०

जो देवता की "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ" इस प्रकार उपासना करते हैं, वह नहीं जानते हैं । जैसे किसान के पास पशु होता है एवं मार खाकर, कष्ट पाकर, भूखा रहकर उस किसान के सब काम में आता है, उसी प्रकार वह मनुष्य देवता का पशु है । जैसे लोक में अपने उपयोगी पशु सेवक का हरण होना, चले जाना, मर जाना मालिक को प्रिय नहीं, उसी प्रकार देवता भी नहीं चाहते हैं कि उनके उपासक अज्ञानी मनुष्य किसी श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के समीप जा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान सोऽहम् भाव को प्राप्त हो सके । क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने से देवताओं के जीवन उपयोगी सेवा करने के लिए फिर वे मनूष्य पूर्ववत् पशु बनकर कष्ट सह, भूखे रह, उनकी उपासना करना नहीं चाहेंगे । जैसा कि वे अज्ञान काल में घास–पुआल, अन्नवत् इन्द्रिय विषय भोगों की प्राप्ति के लिए उत्साह प्रसन्नता एवं आशा रख निरन्तर, जप, पाठ, मंत्र, पूजा, यज्ञ, देवताओं को प्रसन्न करने के लिये अनुष्ठानादि करते रहते हैं ।

इन्द्रिन सुर न ज्ञान सुहाई । विषय भोग पर प्रीति सदाई ।

अनेकों आश्रमोंचित अद्वैत ज्ञान से भ्रष्ट संन्यासियों, के अंग–भंग कर श्रृगालों को दिये, प्रजापति के तीन सिर वाले उस विश्वरूप पुत्र को मैने वज्र से वध करडाला । परन्तु मेरे एक बाल भी क्षिण नहीं हो सका ।

यस्यनाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। –१८/१७ गीता

जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोक को मार कर एवं भोगों को भोगकर भी वास्तव में न तो मारता है, न भोगता हैं और न वह पाप से बंधता है ।

परमात्मा को कहाँ ढूँढें ?

देश काल दिशी विदेश हुं मां ही
कहहुं सो जहाँ प्रभु नाहीं ।

परमात्मा यहाँ है, अभी है तथा वह तुम हो । क्योंकि वह व्यापक है, इसलिए यहाँ भी है । वह नित्य है, इसलिए अभी भी है तथा अणु-अणु है, इसलिए तुम भी हो । जरा तुम अपने तथाकथित गुरु, ग्रन्थ, शास्त्र, धारणा से जागकर देखो । सुनी, पढ़ी, ग्रहण की गई साधु-संन्यासी की धारणा मान्यता के चश्मे को हटाकर एक किनारे रख दो । फिर आँख खोल देखो, सब ओर से उसका स्पर्श होने लगेगा । संगीत सुनाई देने लगेगा । सब ओर उसका सौन्दर्य निमन्त्रण देने लगेगा । सद्गुरु जब साधक की आँख में ज्ञानाञ्जन लगा मैल, धूल साफ करता है, तब वह निर्मल आँख में परमात्मा की तस्वीर झलक पड़ती है ।

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना । राम रूप देखहिं किमि दीना ।

परमात्मा नित्य है एवं सत्य है अतः उसे अभी यहाँ से ही जानना, कल पर मत छोड़ना, दूर देश यात्रा पर मत निकलना ।

चलते चलते युग भया मिला न प्रभु का धाम ।
पाँच कोस पर गाँव था, बिन जाने कित धाव ।।

परमात्मा अभी है, यहीं इसी क्षण है यदि तुम्हारी आँख पर से जरा घूँघट हटे, परदा हटे, बुरखा हटे । घूँघट क्या है ? व्यर्थ के सुने पढ़े विचार । सदियों-सदियों से दुहराये अन्धविश्वाश जो तुम्हारे बुद्धि पर लाद दिए गए हैं,

इसलिए सत्य प्रकट नहीं हो पाता है। क्योंकि तुम्हारी बुद्धि में शास्त्र भरे पड़े हैं । वजनी पत्थर जब बीज पर रखा होता है, तो बीज अंकुरित हो ऊपर उठ नहीं पाता । पत्थर के हटते ही वह छोटा बीज महान वट वृक्ष बन आकाश को छूने लगता है ।

कहाँ खोजने जा रहे हो, परमात्मा को ? परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे तुम्हारा मिलन होगा । परमात्मा अस्तित्व का दूसरा नाम है । वह शक्ति है, व्यक्ति नहीं है । जैसे बिजली, मेगनेट शक्ति, हवा, फल स्वाद, पुष्प सुगन्ध, अपनी भूख-प्यास, सुख-दुःख का अनुभव सब करते हैं । किन्तु वे अपने अनुभव को दिखा नहीं सकते । बलिहार होना है तो इसी क्षण हो जाओ, क्योंकि वह सब ओर मौजूद है । मिलन हो ही रहा है । लेकिन तुम्हारी भ्रांत धारणा कि परमात्मा कोई नाम रूपधारी व्यक्ति है, कभी न कभी तो प्रार्थना सुन अवश्य मिलेगा । अर्जुन ने भगवान से प्रार्थना की हे प्रभो ! मैं आपके अविनाशी रूप को देखना चाहता हूँ । भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं वह कोई व्यक्ति नहीं जो तुझे दिखाया जा सके । वह इन नेत्रों से नहीं दिखाई देगा । उसके लिये तुझे दिव्यचक्षु दूगाँ तभी तू अनुभव कर सकेगा ।

राम राम बकते रहो, जब लग घट में प्राण ।
कबहुँ तो दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान ।।

यह भ्रान्त धारणा है कि वह मिलेगा । राम के रूप में, कृष्ण के रूप में, शंकर के रूप में, दुर्गा-काली के रूप में, चतुर्भुज के रूप में, महावीर, बुद्ध, जीसस के रूप में । इसी भ्रान्त धारणा से तुम सदियों से भटके हो भटकते रहोगे । मिलते हुए भी मिलन नहीं हो रहा है । प्राप्त हुआ भी अज्ञानता के कारण खोया हुआ-सा हो रहा है । तुम्हारी धारणा ही तुम्हारे व परमात्मा के दर्शन में, प्राप्ति में, होने में बाधा बन गई है ।

परमात्मा सामने खड़ा है किन्तु रामभक्त कहता हैं - मैं तो जब उसके मुरली हाथ में होगा, उसके हाथ में धनुष होगा तो नमस्कार करूँगा । एकबार तुलसीदास के मित्र तुलसी को कृष्ण के मन्दिर में ले गये, तुलसी वहाँ अकड़ गया मैं मुरलीवाले को नमस्कार नहीं करूँगा, धनुष बाण वाले राम को ही करूँगा ।

कैसा संकीर्ण विचार है ! मोर मुकुट, मुरली, पिताम्बर, मुक्ता मणिमाला तुलसी को अच्छी नहीं लगती, अपने राम के साथ । सब समय धनुष बाण लिए ही रहे । खड़ाऊँ पहने खड़े ही रहे, चौकीदार की तरह । कोई छुट्टी नहीं । आदमियों को भी छुट्टी मिलती है । पुलिस-सैनिक चौकीदार अपनी ड्यूटी से हटने पर सिविल ड्रेस, साधारण पोशाक में हो जाते हैं । राम को कभी छुट्टी नहीं । ओव्हर टाइम का पैसा नहीं, चौबीस घण्टे की नौकरी भक्त अपने भगवान से करा रहे हैं ये तुलसी ।

ध्यान रहे अस्तित्व कोई आदमी नहीं, न वह धनुष बाण हाथ में लेगा । न वह त्रिशूल पकड़ता है, न शंख, चक्र, गदा, पद्म, मुरली । अस्तित्व शक्ति है, व्यक्ति थोड़े ही है । लेकिन हमने व्यक्ति की धारणा बना रखी है कि परमात्मा कोई व्यक्ति है । बस भटकते रहो, चिल्लाते रहो, उतारते रहो आरती, बजाते रहो शंख, घण्टा, मृदंग । रोते रहो, नाचते रहो, मुर्च्छित होते रहो । तुम्हें परमात्मा तुम्हारी भ्रान्त धारणा के अनुरूप कभी व्यक्ति रूप में कहीं नहीं मिलेगा, किसी को कभी मिला भी नहीं, सम्भावना भी नहीं । यदि तुम्हारे धारणानुसार कभी वह धनुष-बाण लिए या मुरली, त्रिशूल लिए मिल भी जावे तो समझना कि यह भ्रान्ति मेरे मन का ही स्वप्न साकार रूप में भास रहा है । यह मेरी ही कल्पना का जाल है, मेरा ही सपना है । जन्मों-जन्मों से कल्पना का सपना देखते आ रहे हैं तो अब वह खुली आँखों से भी सपना दीखने लगा है । यह दिवा स्वप्न है ।

यह कोई परमात्मा नहीं है, जो तुम्हारे आँख बन्द करते ही भावनानुसार धनुष-बाण लिए या मुरली लिए खड़ा हो जाता है । यह तो तुम्हारी ही मान्यता है । और तुमने इस धारणा को बचपन से इतना दोहराया है कि दोहरा-दोहरा कर तुमने अपने को उसी आकृति में तन्मय कर लिया है, आत्म सम्मोहित कर लिया है ।

किसी भक्त से गुरु ने कहा कि तीन दिन तू गुफा में बैठ केवल भैंस का ध्यान कर । वह भक्त जिद्दी था भूखा-प्यासा रात-दिन 'मैं भैंस हूँ' का ध्यान करने लगा । तीन दिन बाद जब उसे बाहर आने को गुरु ने कहा तो वह कहता है - "गुफा का द्वार छोटा, मेरा शरीर मोटा, सींग बड़े, वे फंस

जावेंगे । जब उसे भैंस ध्यान से उठाया जाएगा व आँख खोल कर देखेगा तो वहाँ न भैंस है न सींग है । यह ध्यान गुरु द्वारा इसीलिए कराया गया कि उसे यह होश आ जावे कि मैं जो भावना कर ध्यान करता हूँ, वही आकृति मेरे सम्मुख प्रकट होने लगती है । अर्थात् जिसे तू ध्यान से देख परमात्मा मान रहा है, वह तेरा आत्म-सम्मोहन है । अब तू देख अभी तीन दिन के लगातार अभ्यास ध्यान द्वारा तू अपने को भैंस मानने लग गया । हुआ कुछ भी नहीं, जैसा का तैसा ही है । जैसा तू बाहर से भीतर गया था, वैसा ही बाहर आजा गुफा के और वह गुफा से बाहर बिना रूकावट के आ गया ।

जिसको तुमने धर्म के नाम से जाना है, वह आत्म सम्मोहन से ज्यादा नहीं है । वास्तविक धर्म समस्त सम्मोहन से मुक्त होने का नाम है । और तब परमात्मा व्यक्ति नहीं है तब परमात्मा समष्टि है । जहाँ जाओ उसी से मिलन हो रहा है ।

यदि तुम्हें बाहर से निराशा मिल जावे तो तुम भीतर की ओर शिघ्र मुड़ सकते हो । बाहर से भीतर मुड़े कि आनन्द की वर्षा हो जावेगी, वहाँ सब मौजूद है । आनन्द का सागर है किन्तु तुम उस ओर पीठ किए हो । सिनेमा गृह में जहाँ से प्रकाश आ रहा है, दर्शक पीठ किए बैठे रहते हैं एवं अन्धेरे की ओर मुख किए रहते हैं । यही जीव की दशा है दुःख रूप संसार की ओर दौड़ रहे हैं, सुख स्वरूप आत्मा की ओर पीठ किए हुए हैं । दिशा बदलो तो घटना आज यहाँ घट जावे । अपनी ओर मुख एवं संसार की ओर पीठ करो । स्वरूप बोध होते ही तुम अपनी पूर्व में हुई मूर्खता पर हंसोगे कि मैं सरोवर के तट पर बैठा क्यों प्यासा था ? जो अपने पास था, उसकी ही तलाश कर रहा था । जो मिला ही था, कभी खोया ही नहीं था, उसे खोजने निकल पड़ा था । मिलता भी नहीं, वह किसी को कभी, क्योंकि जो पूर्व से अन्दर ही था, वह बाहर कैसे मिलता ?

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढे बन माहिं ।
ऐसे प्रभु घट घट बसे, मूरख ढूँढे जाहि ।।

घट घट में है सुझे नहीं, धिक वे मति मन्द ।
तुलसीया संसार को भयो मोतिया बिन्द ।।

जो जहाँ है, उसे वहीं देखा जावे तो सहज मिल सकता है । सूई राबिया की घर में खोई एवं बाहर ढूंढ रही तो कैसे मिलेगी ?

तुम जब किसी सद्गुरु की कृपा से बाहर से हट भीतर की ओर मुड़ते हो तो वहाँ तुम्हें भय लगता है । क्योंकि उस तरफ जाने वालों के मार्ग में हजारों-हजारों, लाखों-लाखों यात्रियों, दर्शकों, भक्तों की भीड़ नहीं दिखाई देती । भीतर की ओर चलना तो ऐसा कार्य है जैसे कभी जोहरी की दुकान पर हीरा खरीदने जाने वालों की तरह । बाहर की ओर जाने वालों का मार्ग ऐसा है जैसे ट्रेन से यात्रा करने वालों की प्लेटफार्म पर भीड़ । याद रखो ! तुम अकेले भी रह जाओ कोई दूसरा उस दिशा में जाता दिखाई भी न दे तो तुम किञ्चित् भी डरना, घबराना नहीं कि यह मार्ग शायद गलत होगा । हजारों लाखों की भीड़ तो कुम्भ की ओर जा रही है निश्चित सत्य वहाँ होगा एवं मैं जिधर चल रहा हूँ, उधर तो कोई-कोई ही चल रहा है। ध्यान रहे ! जहाँ भीड़ है, वहाँ सत्य नहीं होगा । नये-नये साधक को सत्य मार्ग पर चलने में डर लगता है । इसीलिए धर्म के ठेकेदार भीड़ को बनाये रखने की सभी चेष्टा करते रहते हैं । वे वहाँ तक जाने आने के लिए बस की व्यवस्था, भोजन की व्यवस्था, मुफ्त या बाजार से सस्ता अच्छा भोजन, नाश्ते की दुकान खोल देते हैं । मुफ्त चिकित्सालय खोल देते हैं ताकि भीड़ बढ़ती जावे, भीड़ जमा रहे एवं नये नये लोग भीड़ देख हमारी दुकानो, भोजनालय की ओर आकर्षित होते रहें ।

मैं तुमसे कहता हूँ कि परमात्मा, आनन्द, मुक्ति, शांति हेतु तुम्हें घर छोड़ बाहर जाने की जरूरत नहीं है । क्योंकि मुक्ति, शांति परमात्मा आनन्द तुम्हारा स्वभाव है । अग्नि उष्णता, बर्फ शीतलता वत् । अग्नि को उष्णता, बर्फ को शीतलता कहीं से लाना नहीं, मांगना नहीं । इसी प्रकार मुक्ति, आनन्द, शांति, परमात्मा तुम्हारा स्वरूप है । मगर तुम पीठ किए हुए हो एवं जगत् की ओर, पदार्थों की ओर दौड़ रहे हो । जिस दिन रुक जाओगे, दृश्य जगत से पीठ घुमा उस और मुख कर लोगे, उसी दिन अचानक चौंकोगे, अवाक् रह जाओगे कि मैं क्यों इतना व्यर्थ दौड़ा जिसे मैं खोजता था, वह मैं स्वयं हूँ, वह मेरे भीतर मौजूद है ।

आत्म जाग्रति की सुख स्थिर मन पर छाया है । सुख परमात्मा के मिलने से ही मिलता है और परमात्मा भीतर मौजूद है, तुम उसकी ओर पीठ किए जगत् के पदार्थों को प्राप्त करने संग्रह करने दौड़े चले जा रहे हो ।

जब संसार के सभी पदार्थों का व्यक्ति संग्रह कर लेता है, फिर भी सुख की चाह समाप्त नहीं होती है तो एक बात स्पष्ट हो ही जाती है कि सुख सांसारिक पदार्थों में नहीं है । क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ वस्तु सुविधा मेरे पास नहीं है जिसको मुझे लाना बाकी रहा हो । सब कुछ होकर भी शांति नहीं तो यह बात निश्चित है कि सुख बाहर नहीं । तुम पहले सोचते थे कि इतनी चीजें, इतना धन, इतना परिवार, इतनी भूमि मेरे पास हो जावेगी तो मैं सुखी हो जाऊँगा । यदि कम सामान से कम सुख होता तो गहरी नींद में सबसे ज्यादा दुःखी होना था क्योंकि वहाँ संसार का एक व्यक्ति, वस्तु कुछ भी नहीं । किन्तु सभी कहते हैं रात में सुख से सोया । अब तुम्हें पता चला कि वे सब चीजें है और सुख नहीं। तो तुम्हारे सुख के सम्बन्ध की समस्त धारणा गलत थी । चाहिए था कुछ और जिससे सुख प्रकट हो भीतर की ओर यात्रा और तुम उल्टे बाहर दौड़ रहे थे । जिनके न होने के कारण अब तक दुःखी था, अब वे सब मेरे पास हैं जो-जो मुझे चाहिए था, जिनके बारे में सुख का स्वप्न देखता था, वह धन, पद, प्रतिष्ठा, परिवार सब है, अब तो सब भाँति सुखी होना चाहिए किन्तु सुखी नहीं है तो जरूर गलत मार्ग पर हूँ । संसार में न सुख था, न है न होगा । सुख तो केवल तब होता है, जब हमारा अंतरतम में छिपा परमात्मा से मिलन होता है ।

क्या तुम्हारे पास है, क्या तुम्हारे पास नहीं, इससे तुम्हारे सुख का कोई लेना देना नहीं । क्या तुम हो, कितनी वस्तु, अलंकार, जमीन, पद, पुत्र तुम्हारे पास हैं, इससे सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है । वस्तु, पद, पुत्र, प्रतिष्ठा तुम्हारी चिंता, परेशानी अवश्य बढ़ा देती है, किन्तु इन समस्त भौतिक वस्तु के बढ़ने से सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

मैं यह भी नहीं कह रहा हूँ कि तुम धन, पुत्र, पत्नी, नौकरी, व्यापार, अलंकार, वस्त्र, भोजन, नींद छोड़ दो, कि घर से भाग निकलो । तुम जहाँ हो वहीं रहो, न छोड़ने से मिलेगा और न पकड़ने से मिलेगा, केवल

बाहर सुख की तलाश बंद कर, भीतर सुख की खोज शुरू करो । बहुत हो चुकी बाहर की खोज, अब भीतर जाओ और उसे प्राप्त कर लो जिसके पाने से सब मिल जाता है ।

तुम परमात्मा को शास्त्रों में, गंगा में, तुलसी में, मूर्ति में पागलों की तरह खोज रहे हो, जबकि परमात्मा व्यापक सर्वत्र समान होने पर भी तुम्हें अपने हृदय में प्रवेश किए बिना बाहर कहीं भी कभी भी नहीं मिलेगा ।

कितनी मूढ़ता है लोगों की पत्थर का मंदिर, पत्थर का देव एवं लोग खूब प्रार्थना पूजा कर रहे हैं । पाषाण की पूजा करते-करते पूजकों का हृदय भी विवेक हीन पाषाण वत् हो गया है । जीवित बकरी, मुर्गा, भैंसा, सुवरादि को काट पत्थर निर्मित कल्पित देवादेवी पर चढ़ा रहे हैं । चैतन्य पुष्पों व पत्रों को तोड़ पत्थर की मूर्ति पर चढ़ा देते हैं । यदि पत्थर की मूर्तियों को चैतन्य पौधे की शरण में डाल देते तब भी उचित ही था किन्तु लोग जिंदा फूल को तोड़ प्रथम मुर्दा बना और चले मंदिरों की ओर दूसरे मूर्दे पर जाकर चढ़ा दिया । फूल को मार डाला और चढ़ा दिया पत्थर पर । जो पहले ही चैतन्य पुष्प परमात्मा के साथ जुड़ा हुआ ही था उसे वहाँ से छीन, तोड़, चढ़ा दिया पत्थर पर । अभी खिला था, नाचता था, हवाओं के झोंकों से सुगंध फैला रहा था, दर्शकों के मन को भी आकर्षित कर रहा था, आनंदित कर रहा था । अभी कितना मस्त हँसता हुआ दीख रहा था । लोग सुबह निकल पड़ते हैं एवं जिंदा फूलों को भर-भर टोकरी तोड़ मुर्दा बना पत्थर की मूर्ति पर डाल देते हैं । यदि कोई स्त्री वेणी बना बालों में लगाती या गले में माला बना पहनती तब तक भी ठीक था । फूलों का जन्म जीवन थोड़ा तो सार्थक होता । वे धारण कर कुछ देर प्रसन्न तो होती, किन्तु इन पत्थरों पर डालने से क्या फर्क पड़ा ? कुछ नहीं । इन पर तुम फूल चढ़ाओ या कुत्ते आकर स्नान करा दे दोनों क्रियाएँ उन मूर्तियों के लिए समान ही है ।

धर्म के नाम पर जो लोग मंदिर, मस्जिद, देवालयों में बैठ गये हैं, कुछ जो शराब घर, सिनेमा क्लबों में बैठे हैं दोनों समान ही हैं । चाह बदलने से धार्मिक कोई नहीं होता । चाह का परदा हटते ही परमात्मा से मिलन हो जाता है । जो चाह शुन्य होता है उसे परमात्मा मिलता है । चाह को गिर जाने

दो एवं नई चाह को न उठने दिया तो परमात्मा प्रकट हो जाता है । चाह ही मध्य में परदा है, परमात्मा के मिलन में ।

चाह चमारी सूकरी, चाह नीच को नीच ।
हम सच्चिदानन्द ब्रह्म है, चाह न होती बीच ।।

चाह गई चिन्ता गई, मनुवा भये वे पीर ।
जिनको कछु न चाहिये, वे है शाह फकीर ।।

काहे रे बन खोजन जावे ?

परमात्मा में ही तुम हो, तुम्हारी श्वाँस-श्वाँस में रमा है और तुम पुछते हो कि परमात्मा कहाँ है ? परमात्मा वहीं है जहाँ तुम हो । मछली सागर में उत्पन्न होकर, सागर में जीवन भर रहकर भी सागर को नहीं देख पाती । मछली को तो कुछ क्षण के लिये जाल में फँसा बाहर ले आवे तो जल का दर्शन कराया जा सकता है । इस तरह से मछली सागर को फिर भी देख सकती है । किंतु जीव इस प्रकार ब्रह्म के दर्शन नहीं कर सकेगा, क्योंकि जीव को ब्रह्म से बाहर करने का उपाय ही नहीं है । जैसे बर्फ को जल से, घड़े को मिट्टी से, अलंकार को स्वर्ण से भिन्न नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जीव को ब्रह्म से पृथक् नहीं किया जा सकता । कहाँ नहीं है परमात्मा ? कौन खोजेगा परमात्मा को ? जो सर्व व्यापक है, उसी का नाम परमात्मा है ।

जाको तू खोजत फिरे, सो तू आपे आप ।
और होय तो पा सके, यह तू आप अमाप ।।

खोज उसी की हो सकती है जो हम से खो-चुका हो । जिसे कभी किसी अवस्था में खोया ही नहीं, तब उसे कैसे खोजा जा सकेगा ? खोज परिच्छिन्न, जड़, अनात्म, नाशवान, एकदेशीय वस्तु की ही हो सकती है । बिना जाने, बिना खोये, जन्मों-जन्मों से उसे खोजने में लगे निराशाको लेकर ही मर जाते हैं, किन्तु खोज पूर्ण नहीं हो पाती । लोगों को पूजा करते, माला करते, तीर्थ पर्वत में रहते जब देखते हैं तो लगता है जैसे कोई सजा काट रहे हैं, बोझा ढ़ो रहे हैं । उनके मन में चेहरे पर कोई शांति की किरण

नहीं दिखाई पड़ती । यह जीना बस मरने की पल-पल प्रतिक्षा में ही हो रहा है । बस मौत नहीं आई इसीलिए जी रहे हैं । जीवन में कोई आनन्द नहीं ।

जो पूजा, पाठ, मंत्र, माला, दान, तप, तीर्थ में ही रुक गया है, मार्ग में ही घर बना बैठ गया है, वह आदमी जीवित नहीं है । जिसके प्राण सत्य को पाने हेतु व्याकुल नहीं है । वह तो जीवित मुर्दा ही है जिसके मन में परमात्मा को पाने के लिए तीव्र जिज्ञासा नहीं हो रही है ।

जो परमात्मा सर्वत्र सब रूप में है, उसे खोजने बाहर जाने वाले जड़ बुद्धि के लोग हैं । बाहर ही जो केवल देख पाते हैं, उनकी आँख तो कैमरे के शीशे की तरह है । वह भी केवल बाहर ही देख पाता है भीतर नहीं । जो भीतर दृष्टि कर, परमात्मा को देख पाते हैं, वे ही ज्ञानी माने जाते हैं । उनकी आँख एक्स-रे मशीन के शीशे की तरह होती है, जो बाहर के पदार्थ की उपेक्षा कर भीतर देखती है । जो दृष्टि पदार्थ देख पाती है वह परमात्मा को नहीं देख पाती । वे आँखें मोर पंख में बने आँख की तरह जड़ ही समझना चाहिए ।

सद्‌गुरु के पास बैठने से मन की गंदगी धुल जाती है । गंगा किनारे बैठने से केवल शरीर की ही धूल हट पाती है । मन को तुम गंगा में तीर्थ में रहकर गोते लगाकर कैसे धो सकोगे ? खोजो कोई ऐसा स्थल जहाँ तुम मर सको, मिट सको । खोजो कोई ऐसी मूर्ति जहाँ तुम अपने को समर्पित कर सको, अपने अहंकार को मिटा सको, अपने को झुका सको । जब तुम्हारा अहंकार गल जावेगा, भीतर से शांति का निरहंकार का अंकुर फूट पड़ेगा और तुम उसके द्वारा द्विज बन सकोगे । तुम्हारा दोबारा जन्म होगा । उसके बिना तुम द्विज नहीं हो सकोगे । देह अंहकार सुरक्षित रखने से तुम शुद्र ही बने सड़ते रहोगे । पहला जन्म मा-बाप से होता है, जो मृत्य को दिलाता है । दूसरा जन्म सद्‌गुरु से होता है, जो अमृत्व को दिलाता है । स्वयं को जानने का नाम ही अमृत को उपलब्ध होना है । जो बाहर की दौड़ में सोया है, वही भीतर जागा हुआ है । जो बाहर की दौड़ में जागा हुआ है, वह मरा हुआ ही है । धन, पद, प्रतिष्ठा की दौड़ में जीना एवं पशु का जीना समान ही है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।–२/६९ : गीता

तुम सभी तब तक सो रहे हो जब तक कि अपने आप को नहीं जाना है । तुम जो अभी हो, वह तुम नहीं हो, वह तुम्हारा भी नहीं है । अभी तुम जो हो, वह पराया है, उधार है । दूसरों ने तुम पर रंग डाला है, वह कृत्रिम है । अभी तुमने अपना असली रंग जाना नहीं, जो समस्त बाह्य रंगों के भीतर असंग रूप से, शुद्ध रूप से, बिना कोई रंग के छुपा पड़ा है । जैसे दर्पण जिसमें सब रंग आकार पड़ते, उभरते, प्रतिबिम्बित दिखाई तो पड़ते हैं किन्तु वे सब उधार हैं, बनावटी हैं, दूसरों ने अपना रंग प्रभाव डाला है । दर्पण का अपना कुछ नहीं है । उसका रूप सब रंगों, आकारों के भीतर शून्य रूप में है । दर्पण खाली रूप में बिना रंग बिना आकार के ज्यों का त्यों अखण्ड रूप से कुँवारा ही बना हुआ है ।

तुम्हारे चेहरे पर, असली स्वरूप पर, परिवार, समाज, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, देश तथा धर्म के ठेकेदारों ने दूसरे नकली मुखौटों को लगा दिया है एवं दर्पण में बार–बार उन्हीं मुखौटों को देख तुम्हें भ्रान्ति हो गई है कि यह चेहरा मेरा है । जैसे कि बच्चे अपने मुहँ के ऊपर सिंह, राक्षस, रावण आदि के चेहरे लगा दूसरे बच्चों को डराते रहते हैं, किन्तु वे अन्दर से होश में रहते हैं, कि यह नकली चेहरा मैं नहीं हूँ । नाटक, सिनेमा के कलाकार भी नाना रूपों को धारण करने पर भी अपने असली रूप को भीतर से जानते रहते हैं । तुम्हारा यह चेहरा नहीं है, तुम्हारा चेहरा वही है जो परमात्मा का चेहरा है, सच्चिदानंद । तुम व परमात्मा भिन्न नहीं हो । तुम्हारा असली चेहरा वही है, जो जन्म के समय साथ लेकर आये थे । तब न कोई नाम था, ना कोई रूप था, न कोई हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्य, न कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, न कोई उड़िया, बंगाली, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी, सुलतानी, मुलतानी, सिंधी, बिहारी । तुम सहज थे, शून्य थे, बाहरी अहंकार कुछ नहीं था। तुम समस्त अहंकार शून्य सहज थे ।

सहज का मतलब जो भीतर से आया हुआ है, तुम्हारे स्वभाव से निःसृत हुआ है । जैसे अग्नि में दाहकता, बर्फ में शीतलता, आखू, गन्ने में

मधुरता, नीम, करेला में कड़वाहट, नींबू में खट्टापन, इसी प्रकार सच्चिदानंदता यह तुम्हारा व्यक्तित्व है, जो भीतर से अंकुरित हुआ है । किन्तु जन्म के बाद तुम्हें संसार वालों ने असहज के साँचें में ढाल दिया है, नकली चेहरा पहना दिया है । तुम्हारा अभी जो व्यक्तित्व है, वह ऊपर से थोपा गया है, यह तुम्हारे भीतर से नहीं आया है, जैसा तुम अपने को मान रहे हो । कोई हिन्दु घर में पैदा हो गया तो हिन्दु हो गया, मां-बाप मुसलमान हैं तो मुसलमान हो गया । अब वह वही भाषा, भोजन, ग्रंथ, पंथ, इष्ट, सिद्धांत को मानने के लिए बाध्य हो जाता है जो उसके मां-बाप करते, मानते चले आ रहे हैं । क्योंकि उनके मां-बाप भी इसी प्रकार उनके मां-बाप द्वारा नकली मुखौंटों को धारण कर सारे जीवन उसी भ्रान्ति में जीते चले आ रहे थे । किसी को अपना नकली चेहरा उतारने का और असली चेहरा देखने का ख्याल ही पैदा नहीं होता । अब तो जो हिंदु घर में पैदा हुआ है, वह हिंदु है । अब मंदिर जावेगा, वेद, पुराण, गीता, रामायण पढ़ेगा । यदि मुस्लिम घर में पैदा हो गया तो कुरान का आदर करेगा, पुराण, वेद, गीता, रामायण का नहीं ।

याद रखें ! तुम्हारा स्वरूप अभी भी निर्मल समस्त आवरणों के भीतर मौजूद है । तुम प्याज के छिलके की तरह एक-एक आवरण को हटाने चलो तो अंत में तुम अपने को सहज शून्य निराकार निरावरण रूप में शुद्ध ही पाओगे । अपनी नग्नता में तुम अपने असली चेहरे को पहचान सकते हो । स्नानगृह में कपड़े उतार कर नये पहनने से पूर्व, नृत्यशाला, नाट्यगृह में नकली चेहरा बनाने से पूर्व तुम जो देखना चाहो तो देखलो वही तुम्हारी निजता है, वही सहजावस्था है, वही तुम्हारा असली रूप है । मगर तुमने पावडर, लिपिस्टिक, काजल, सिंदूर,नाखून पालिश,नकली बाल, हेअर डाई, नकली मूँछ, दाँत लगाकर नकली रूप को जोर से पकड़ रखा है । अब यदि कोई दयालू सद्गुरु इन वस्त्रों को हटाकर, उतारकर, छीनकर तुम्हारे नकली मुखौटे,वस्त्रों को उतार कर, असली रूप निश्चय कराना चाहे तो तुम उसे जहर देने, फाँसी देने, गर्दन काटने, पत्थर मारने, जेल में डालने, बदनाम करने को शिघ्र प्रस्तुत हो जाते हो । तुम कहते हो यही वस्त्र मैं हूँ । मुझे दिगंबर मत करो, हमारे वस्त्रों को मत छीनों । गोपियाँ भी यही कृष्ण से कह

रही हैं । कृष्ण हमें तुब दिगंबर मत बनाओ, हमारे कपड़े लौटा दो । हम किसी छोटे घराने की महिला नहीं है । हमारा घर, कुल, गौत्र, जाति, सम्मान महत्वपूर्ण है । बस यही भूल हो गई, हमने नकली में दूसरों के प्राप्त नाम, रूप, जाति, पद, सम्बन्ध, संपत्ति, धन, पुत्र, पति-पत्नी, पिता-माता में तादात्म्य कर लिया ।

तुमने अपने ऊपर देह वस्त्र को जोर से पकड़ कर ऐसे ओढ़ लिया जैसे ठण्डी के समय में गरीब व्यक्ति अपनी रजाई, चादर को लपेट लेता है, कोई अंग बाहर नहीं रहने देता । इसी प्रकार हमने नाम, जाति, सम्बन्ध, उम्र, सम्पत्ति को समझ लिया कि यह मैं हूँ । जन्म के समय न तुम्हारे साथ भाषा आई थी न नाम न कोई पद, परिवार, प्रतिष्ठा, सम्बन्ध था, न कोई धर्म न कोई देश न प्रान्त का अहंकार था । यह सब बातें हमारे खाली शून्य मस्तिष्क में लिख दी गई हैं समाज द्वारा । यह सब हमें जन्म के बाद तोतों की तरह रटा दी गई गिनती, २x२=४, २x३=६, २x४=८ की तरह, जिसे हम सारे जीवन दोहराते रहते हैं, कभी भूलते नहीं हैं । तुम तोते हो गए हो और बड़े अकड़ रहे हो, क्योंकि तुम्हें वेद याद है, संस्कृत में बोल लेते हो । तुम्हें गीता, कुरान के श्लोक, आयत कंठस्त हैं । तुम्हारी आज की अकड़ तो देखो जो तुम नहीं, जो तुम्हारा नहीं, जाति, सम्प्रदाय, शरीर उसमें अहंकार कर मरने, मारने को तैयार हो जाते हो और तुम्हें जरा भी होश नहीं कि जब तुम आए थे, तब तुम्हारे साथ न कुरान थी, न वेद थे तुम्हारे पास । न तब तुम उड़िया थे, न हिन्दू, मुसलमान, न तुम्हारा आर्य धर्म ता, न सिक्ख - तुम केवल एक कोरे कागज थे । जब से तुम्हारा कागज समाज द्वारा लिख दिया गया है, तब से तुम बाह्य जगत् से जुड़ अपने को उसके साथ एक मान रहे हो अपने से टूट गए हो, बाहर से जुड़ गए हो । भीड़ से जुड़ गए हो, अपने आत्म स्वरूप को भूल बैठे हो ।

सहज का अर्थ जो तुम्हारा स्वभाव है, जो बिना सीखे भीतर से आया है, पक्षी का उड़ना, मछली का तैरना जैसे सहज है, जीव का सहज स्वभाव साक्षी है । उतारते जाओ परतों को, निकालते जाओ छिलकों को, एक समय उस जगह पहुँच जाओगे, जो सबके पीछे खड़ा सब कुछ होने को

केवल जान रहा है । एक वृक्ष पर दो पक्षी जो सदा साथ रहते हैं, जिसमें एक पक्षी जो ऊपर की डाल पर बैठा देखता है, दूसरा पक्षी उसके समीप उस वृक्ष के खट्टे मीठे कड़ुवे फलों को खाता है । तुम वह साक्षी हो, जो देह वृक्ष पर मन पक्षी को सुख-दुःख भोगते केवल जानते रहते हो, कुछ करते नहीं हैं । एक ओर इस तरफ द्रष्टा साक्षी है, दूसरी तरफ उस ओर आप से दूर सामने की तरफ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, संस्कार, क्रिया, अवस्था देह, प्राण, जगत् हैं, जिसे तुम देखते हो, जो तुम नहीं हो। जो तुम्हारे सामने से गुजरते हैं, नदी की मध्य जलधारा की तरह, सड़क के किनारे बैठे व्यक्ति के सम्मुख यात्रियों का गमनागमन की तरह तुम्हारे समीप, तुम्हारे सामने से सब निकल रहा है । आकाश में पक्षी को देखते रहते हो । सिनेमा गृह में दर्शक के सामने फिल्म चलने की तरह तुम केवल द्रष्टा हो, मगर तुम इनको सिर्फ देखते ही नहीं, इनके साथ तादात्म्य कर लेते हो, उनके गुण, धर्म, अवस्था को अपना मान जीने लगते हो, विकारी बना लेते हो । जबकि वह सब आपका अपना स्वभाव नहीं है, वह सब जो तुम देखते, जानते हो वह परभाव है, पर धर्म है, पराया है, उधार है । वह तुम कैसे हो सकते हो ?उसमें अहंकार करना ही बन्धन का हेतु है, यही कृष्ण कहते हैं -

''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' - गीता १८/६६

तू समस्त अनात्म धर्मों का अहंकार मन से मिटा एक मात्र आत्मनिष्ठ हो जा । आत्मवान् हो जाओ, फिर तुझे किसी प्रकार का पाप-कर्म बन्धन नहीं लगेगा ।

तुम्हारे चित्त पर विचारों की बदली चलती है और तुम उसके साथ आवागमन करने लग जाते हो । रेल्वे स्टेशन, बस स्टैंड, गंगा घाट पर यात्रियों की भीड़ के साथ तुम न जुड़ो, तुम केवल द्रष्टा हो । सुख-दुःख मेहमान है, अतिथि है । आते-जाते लोगों के साथ तुम तादात्म्य मत करो । रोग, शोक, सुख-दुःख, क्रोध, प्रेम एक क्षण के लिए मेहमान बनते हैं, फिर चले जाते हैं । तुम अचल साक्षी इन्हें देखते रहते हो, जानते रहते हो, तभी तो बाद में उन घटना अवस्थाओं का स्मरण कर पाते हो, जिसका अनुभव नहीं किया उसका स्मरण नहीं होता है ।

तुम केवल देखो । दुःख आए तो देखो और जानते रहो कि मैं देख रहा हूँ, दुःख, रोग, भोग आ रहा है, न मैं सुखी–दुःखी हूँ, न भूखा–प्यासा हूँ, न रोगी बूढ़ा हूँ । बस इस छोटे से द्रष्टाभाव की कुंजी से अमृत के द्वार खुल जावेंगे । बस जागते रहना हर अवस्था के प्रति, किसी अवस्था को देख उसके साथ एक हो जाने की भूल न करना । क्योंकि हमारी पुरानी आदत है, आनेवाली अवस्था के साथ अपने को तत्काल एक कर देते हैं । जैसे भूख आई, प्यास आई, रोग आया, दुःख आया तो हम शिघ्र उसके साथ एकाकार कर लेते हैं कि मैं भूखा, मैं प्यासा, मैं रोगी, मैं दुःखी । नहीं, ऐसा नहीं मानना बल्कि ऐसे कहना मैं तो दुःख, रोग, क्रोध, शोक, मोह, कामादि अवस्थाओं को जाननेवाला देखनेवाला दर्शक मात्र हूँ । दर्पण हूँ सामने का दृश्य प्रतिबिम्बित हो रहा है, भीड़ आई एवं भीड़ गई, इससे दर्पण मलिन नहीं होता । यह किसी भी रूप को दिखाकर दुःखी व सुखी नहीं होता । दर्पण फिर खाली । तुम दर्पण हो, तुम द्रष्टा, साक्षी मात्र हो । फिर देखना कितना अन्तर तुम्हारे जीवन में घट जावेगा, इस छोटे से द्रष्टा साक्षी भाव के चिन्तन से । दुःख आने से तुम अपने को दुःख से दूर ही जानोगे । दुःख, रोग, उधर सामने वहाँ है और तुम दुःख रोग से इधर हो । तुम्हारे एवं उस अवस्था के बीच खाली स्थान है, दूरी है, अनन्त आकाश है, जो उसके साथ तुम्हारी एकता नहीं है । ऐसी दूरी जो कभी मिट नहीं सकती, जैसे रेल की समान्तर पटरियाँ जो जाती तो बहुत दूर तक किन्तु मिलती नहीं कहीं भी । द्रष्टा, दृश्य कभी हो नहीं सकता । खुशी आए, तुम उन्हें बस देखते रहोगे, एक नहीं जानोगे । तुम दोनों अवस्था को देखनेवाले हो, इसी स्थिति को साक्षी ध्यान, सहज अवस्था, सहज सामधि कहते हैं । इसे ही सुख–दुःख का प्रकाशक, महासुख कहते हैं । यही तुम हो । बाहर से आनेवाला सुख तो दुःख ही है ।

परमधाम कहाँ है ?

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम – गीता, ८/२१

परमधाम का अर्थ है जिसके आगे अब कोई और यात्रा पर न निकलना पड़े, पुनर्जन्म न लेना पड़े । परमधाम का यह भी अर्थ नहीं कि आकाश में आप बहुत लम्बी यात्राएँ कर वहाँ पहुँच जावें । परमधाम तो वह है जहाँ जागकर हमें पता चले कि हम कहीं से चलकर कहीं पहुँचे ही नहीं, बल्कि हम सदा से परमधाम में ही है, बल्कि हम परमधाम ही हैं । जहाँ जाकर या जिस स्थिति में जागकर यह पता चले कि हम तो यहाँ सदा से ही थे । अगर आप यात्रा करके कहीं पहुँचते हैं तो वह धाम ही होगा, परमधाम नहीं । परमधाम वह है जो हमारे साथ अभी भी है, सदा से है, सदा रहेगा । जो हमारा अपना स्वभाव है, आत्मा है, स्व है । जैसे बर्फ का परमधाम जल है, इसी तरह जीव का परमधाम परमात्मा ही है । जैसे रेलवे लाइन (पटरी) से ट्रेन कभी दूर नहीं होती, सदा दोनों साथ रहते हैं । फर्क इतना ही है कि पटरी अचल हैं एवं ट्रेन चलती है । पर कोई आगे पीछे नहीं होते हैं । इस तरह इस देह वृक्ष, पर दो पक्षी सदा साथ ही रहते हैं । जीव कर्मफल भोगता है, परमात्मा उसे केवल देखता रहता है । परमधाम वह है, जिससे हम कभी एक इंच, एक कदम, एक क्षण दूर नहीं हुए । निरन्तर वह मौजूद है और हमें पता नहीं, बस पता नहीं है, इतना ही फर्क पड़ेगा पहुँचकर, जानकर कि हम ही वह स्वयं है जिसे पाना चाहते थे, जहाँ जाना चाहते थे और कोई फर्क नहीं पड़ेगा । अलंकारों का परमधाम स्वर्ण, मटका का परमधाम मिट्टी, बर्फ का परमधाम जल से जैसे वह कभी पृथक् नहीं होता है ।

बुद्ध से लोगों ने आकर पूछा कि आपको इतने त्याग एवं साधना के परिणाम स्वरूप क्या मिला ? तब उन्होंने कहा मैंने अज्ञान जन्य सभी अहंकारों को खोकर वही पाया जो सदा से पाया हुआ ही था, कुछ नूतन नहीं । ऐसा समझो भिखारी के जेब में हीरा पड़ा हो एवं वह भीख मांगता फिरे । फिर एक दिन उसकी जेब से वह हीरा नीचे गिरे और वह उठाले और कहे कि मैंने हीरा पाया । बस जैसे भिखारी के साथ हीरा पहले से था, किन्तु अज्ञात था, आज ज्ञात होने से वह कहता है कि मैंने हीरा पाया ।

हीरा पड़ा है राह में लातों में कुचलाय ।
कितने मूरख चल गये, जोहरी लिया उठाये ।।

सत्य की खोज में निकला व्यक्ति जब किसी सद्गुरु के पास पहुँचता है तब वे गुरु उस शिष्य को कहते हैं कि तेरे व मेरे में भेद इतना ही है कि जो हीरा तेरे पास है, वही मेरे पास है । तेरी मंजिल व मेरी मंजिल दो नहीं, एक ही है । मैंने उसे जान लिया है, जो मेरे अन्दर है, वही तेरे अन्दर भी है, किंचित् भी भेद नहीं, तू जानने के करीब है, मैं वहाँ बैठा हुआ विश्राम कर रहा हूँ और देख रहा हूँ कि तू भी बस वहाँ जाग्रत होने वाला ही है व विश्राम करनेवाला ही है ।

जैसे हवाई जहाज का यात्री सूर्य दर्शन प्रथम करलेता है और भूमि पर स्थित मानव उसका कुछ समय वाद दर्शन करते हैं । एक दर्शन कर रहा हैं जो ऊंचाई पर पहुँचा हुआ, ठहरा हुआ है । दूसरा अभी उसके दर्शन करने के समीप होने वाला है दोनों का लक्ष्य एक ही सूर्य है । इसी प्रकार गुरु शिष्य की एक ही मन्जिल है । वस भेद इतना ही है कि एक मन्जिल पर बैठा है एवं दूसरा वहीं बैठा तो है किन्तु इस बात का उसे अभी पता नहीं है।

संसार में हम कितनी भी यात्रा करें, उस अक्षर परमधाम को नहीं खोज पायेंगे, नहीं पहुँच पायेंगे । चाहे हिमालय, बद्री, केदार, जगन्नाथ, वृन्दावन, गिरनार, मक्का, जेरुसलम आदि जिसे जहाँ जाना हो, भटकता रहे । यात्रा द्वारा पहुँचेगा नहीं । जहाँ वह जाना चाहता है । सभी परिधि पर यात्रा करने जैसा है और परिधि पर कोई कितनी भी तेजी से यात्रा करे वह केन्द्र पर नहीं पहुँच सकेगा, साधन द्वारा केन्द्र पर जाने का कोई मार्ग नहीं ।

क्योंकि चलना, पहुँचना तब पड़ता है जब साधक से उसका साध्य दूरी पर हो परन्तु साधक से साध्य परमात्मा कभी अलग हुआ ही नहीं, जैसे पौधे से बगीचा । तो फिर पाना ही क्या ?

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ६/१५ : श्वेताश्वतर उप.

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रुर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपुर ।।

उस परमगति, परमधाम, सनातन, अव्यक्त, अक्षर, परमात्मा को पहुँचने के लिए पैरों से यात्रा नहीं करना होगी । एक ऐसी यात्रा पर निकलना होगा, जहाँ आपके पैरों की, हाथों की, इन्दियों की मन की भी जरूरत नहीं होगी, बल्कि इन सबका सहारा छोड़ना पड़ता है ।

अनाशिनो अप्रमेयस्य - २/१८ : गीता
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज - १८/६६ : गीता

क्योंकि वह पद, धाम इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जाता है, इन्दियाँ मन शरीर केवल संसार की यात्रा तक ही साथ सहयोग करते हैं । नदी के उस तट पर नौका का उपयोग नहीं वह केवल जल तक ही गति करती है । इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, संघात् संसार के लिए ही उपयोगी है, परमार्थ में इनका प्रवेश नहीं ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह - तै. उप.

जहाँ पहुँचने के लिए पैर, शरीर, इन्द्रिय, मनादि के साधन की जरूरत है, वह संसार है, वहाँ तक परमार्थ नहीं है । बाहर चलकर बाहर ही पहुँचेंगे । चाहे वह स्वर्ग हो या वैकुण्ठ, एवं जहाँ तक जाना है, चढ़ना है, वहाँ से फिरना, गिरना ही होगा । इसीलिए सभी लोकों को 'पुनरावर्ती' लौट जानेवाला कहा है । पैरों से चलकर, साधन द्वारा हम वहाँ नहीं पहुँच सकते हैं, जहाँ पर हम पहुँचे हुए ही हैं ।

'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो' - ८/१६ : गीता

हमारे देह रथ के चाक को जो धुरी, कील थामे है, जिसके सहारे देह संघात् यात्रा कर रहा है वह अचल, सनातन, अव्यक्त परमधाम, परमात्मा

है । एक ऐसी मंजिल है जिसे हम देह संघात् व उनके धर्मों को छोड़ धीरे-धीरे कील रूप साक्षी पर पहुँच जाते हैं, जहाँ चाक नहीं, गति नहीं, यात्रा नहीं, कील ही परमधाम है रथ के चाक का ।

यह कील अचल आत्मा है । शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मनादि, घूमता हुआ चाक है, सब समय परिवर्तनशील है । हमारे आधार से, कील के आधार से, मन का चाक घूम रहा है । हमारे मन की वासनाओं का चाक घूम रहा है । यदि किसी गतिशील के लिए उसके भीतर अगति, अचल न हो तो चलन सम्भव नहीं है । यदि संसार के भीतर कोई अव्यक्त, अचल, कील, धुरी न होती तो संसार की प्रतीति भी नहीं हो पाती । इसी प्रकार देह, प्राण, इन्द्रिय व अन्तःकरण के चाक को चलानेवाली कील आत्मा है । इसी प्रकार हमारे आधार से, आत्माधार से यह मन, इन्द्रियाँ, वृत्तियों का चक्र घुम रहा है । एक से एक शक्ति, प्रकाश, प्रेरणा पाकर वे सब गतिशील हो रहे हैं ।

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ।।
सब कर परम प्रकाशक जोई । राम अनादि अवध पति सोई ।।

(रामायण)

चलती चक्की सब कोई देखे, कील न देखे कोय ।
कील पकड़कर जो रहा, साबुत बचा है सोय ।।

जहाँ भी परिवर्तन है, वहाँ उसके आधार में कोई अपरिवर्तनशील तत्त्व अवश्य होता है । उस कील को ही उपनिषद, गीता आदि ग्रन्थों में अक्षर या परमगति कहते हैं । उसतक पहुँचने का यदि कोई मार्ग है तो हम इन बाह्य जगत् की ओर गति करने वाली इन्द्रियों के पीछे न चलेगें तो धीरे-धीरे चल से हट, अचल, अविनाशी, चेतन, आत्मा, साक्षी पर ठहर जावेंगे - जहाँ सब ठहरा हुआ है । जिस दिन हम यह चल प्रकृति के सर्व बाह्य आभ्यान्तर धर्मों के अहंकार का त्याग कर देंगे, उसी क्षण हम उस सर्वाधिष्ठान अक्षर ब्रह्म को, अव्यक्त ब्रह्म को, जो सनातन है प्राप्त कर लेंगे । यह प्राप्त कर लेना भी अन्य पदार्थ की तरह नहीं होगा, बल्कि जो प्रथम से है, सदा से है, उसका मैं रूप, सोऽहम् रूप साक्षात्कार करना ही प्राप्त की प्राप्ति नाम से कहा जाता है । यहाँ नूतन की प्राप्ति का भाव नहीं है ।

गाड़ी चाहे करोड़ों मील की यात्रा कर ले, किन्तु कील धुरी अपनी जगह से थोड़ा भी नहीं हटती है । आश्चर्य की बात यह है कि यदि किसी चलनेवाली वस्तु में, यन्त्र में कोई कील न हो तो यह गतिशील पंखा, मोटर साईकल, ट्रेन, घट्टी, गाड़ी, घड़ी कोई गतिशील मशीन आगे बढ़ नहीं सकती, घूम नहीं सकेगी ।

शरीर से हमें अपनी भिन्नता समझने में कोई बहुत कठिनाई नहीं । शरीर बीमार हो और किसी से कहें कि तुम्हारा शरीर अस्वस्थ है तो वह नाराज नहीं होता है, किन्तु अपने मन, बुद्धि से अपने को दूर समझना हमें भूल–सा गया है, कठिन हो गया है । यदि कोई हमें मूर्ख, पागल, बुद्धु, क्रोधी, कामी कह दे तो हमें असह्य हो जाता है । तब हम यह नहीं समझ पाते, विवेक नहीं कर पाते कि मैं शरीर की तरह प्राण, इन्द्रिय एवं विचार अन्तःकरण से भी पृथक् हूँ ।

हम अपने सिद्धांत, विचार, मान्यता के लिए लड़ने, मरने को तैयार हैं । फांसी लग जाने को, जेल जाने को तैयार हैं । लेकिन 'अपना विचार' नहीं छोड़ता, क्योंकि विचारों के साथ अन्तःकरण के साथ हमने तादात्म्य कर लिया है, मैं भाव स्थापित कर लिया है । हमें ऐसा लगता है कि शरीर तो मेरे बाहर की परिधि है, किन्तु विचार, मन यह मैं स्वयं केन्द्र हूँ । किन्तु यह भ्रम है शरीर, प्राण, इन्द्रिय की तरह मन, बुद्धि, विचार, चिन्तन भी मेरे बाहर की परिधि है । विचार तो अभी है, क्षणभर पहले नहीं था, बाद में भी नहीं रहेगा । यदि आप विचार को विचार उठने से पहले ढूँढेंगे, तो विचार नहीं मिलेंगे एवं विचार के लिए जब वह उठा एवं आप थोड़ा ठहर गए तो फिर आगे के क्षण वह विचार खो जावेगा, नूतन विचार उठ जावेगा और वह पिछले डूबे विचारवाला कार्य कर नहीं सकेंगे । इसीलिए तो मनीषियों, ज्ञानियों ने कहा कि बुरा कार्य – चोरी, निन्दा, आत्महत्या या अन्य हत्या – करने का विचार उठे तो तत्काल करने मत चले जाना, थोड़ा रुक जाना, तो अगले क्षणों में वह विचार खो जावेगा उसका स्थान नूतन विचार ले लेगा एवं आप उस बुरे के दुष्परिणाम से बच जावेंगे । यदि काई अच्छा विचार जाग्रत हुआ है तो उसके लिए रुक मत जाना, तत्काल करने को उठ जाना । यदि रुक

गए तो अगले क्षण वह अच्छा विचार भी खो जावेगा एवं उसका स्थान कोई अन्य उससे घटिया विचार उदय हो जावेगा और आप उस अमृत लाभ से बहुत बड़े लाभ से वंचित् रह जावेंगे । इसीलिए तो सिद्धान्त बनाया अच्छे भले लोगों ने जगत् कल्याणार्थ –

कल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल में प्रलय होयगा, बहुरि करेगा कब ।।

स्वर्ग, वैकुण्ठ भी यहाँ की तरह संसार ही हैं । जैसे पानी को ९९ डिग्री तक गरम किया जावेगा वह पुनः ठण्डा पानी हो जाता है । किन्तु उसे १०० डिग्री तक गरम कर दिया जावे तो वह भाप बन उड़ जाता है । पानी का स्वभाव गड्ढे खोजना है नीचे की ओर बहना है जबकि भाप आकाश को खोजती है, आकाश की ओर उठती है ।

मनुष्य की चेतना भी इसी तरह संसाार की ओर ही फैलती है, ९९ डिग्री तक तो वह संसार में है, कितनी भी ऊँची चेतना को ले जावें एक से ९९ डिग्री तक किन्तु वह गरम पानी से शीतल पानी होने की तरह नीचे ही गिर–ती रहती है । हमसे कोई लोग पूजा, प्रार्थना, ध्यान, समाधि के क्षणों में ९९ डिग्री तक पहुँच जाते हैं और उन्हें ऐसा लगता है कि हम मुक्ति, परमधाम, परमात्मा अव्यक्त ब्रह्म में पहुँच गए, लेकिन उन्हें फिर अपने स्वर्ग, वैकुण्ठ से गिरना पड़ता है क्योंकि यह सब केन्द्र नहीं परिधि है । परमधाम नहीं संसार ही है । इसीलिए समस्त लोकों को पुनरावर्ती कहा है ।

'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनो' – गीता, ८/१६

विचार तेजी से बदल रहे हैं, चलते हुए बिजली पंखे की पंखुड़ियों की तरह एक के पीछे एक चले आ रहे हैं । किन्तु उन विचारों के साक्षी हम, अपने को विचार रूप वृत्ति रूप मन रूप मान लेते हैं । सद्गुरु कृपा से जो अपने को तीन शरीर, पंच कोश, तीन अवस्था से पार अनुभव कर सकेगा, वही विचार से निर्विचार को उपलब्ध हो जावेगा ।

अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो, चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर कील है, धुरी है, उसी को जानने को परमगति परमधाम के नाम से कहा जाता है । उस कील के बिना कोई अणु-परमाणु भी खाली नहीं है ।

'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'

'अस को जीव जन्तु जग माहिं । जेहि रघुनाथ प्राण प्रिय नाहि ।।'
'जगत् आत्म प्राण पति रामा । तासु विमुख किमि लहि विश्रामा ।।'
'देश काल दिसि विदेशहु माहिं । कहहुँ सो कहा जहाँ प्रभु नाहिं ।।'

यह शरीर तो व्यक्त है उसे ही हम नहीं जानते हैं, तब जो परमात्मा अव्यक्त निराकार है, उसे अज्ञानी कैसे जान पायेंगे ? जब हम अपने को शरीर मानते हैं तो औरों को भी शरीर ही मानते हैं । इस शरीर के पंच भूत पच्चीस प्रकृति को भी हम नहीं जानते हैं, बल्कि हम ही यह प्रकृति हैं ऐसा मानते हैं । हमारे शरीर में कुण्डलिनी, चक्र, मनादि अद्‌भुत शक्तियाँ छिपी हैं जो व्यक्त का ही हिस्सा है, किन्तु हम उसे नहीं जानते फिर परमात्मा तो इस व्यक्त शरीर एवं अव्यक्त मनादि से भी परे परम अव्यक्त है । मन के भी पार है । यदि साधक मन से तादात्म्य तोड़ दे वृत्तियों से तादात्म्य हटा ले तो फिर वह उसी खोज पर निकल सकता है जो परमधाम, परम अव्यक्त, परमगति, परमात्मा, सनातन ब्रह्म है ।

जो भ्रू-मध्य में ध्यान केन्द्रित करने की साधना करता है, वह उस साक्षी को उपलब्ध हो जाता है जहाँ संसार नहीं, पदार्थ नहीं, भोग की कामना करनेवाला एवं भोगनेवाला मन नहीं, कर्म-भोग सब प्रकृति में है

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' - गीता, ३/२७

'इन्द्रियाणी इन्द्रियार्थेषु वर्तन्त' - गीता, ५/९

'गुणा गुणेषु वर्तन्त', 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः' - गीता, ३/१८-२९

सनातन अव्यक्त जो सदा से अप्रकट है, जो सदा के छिपा है

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत्तः
मूढ़ोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ।। - गीता, ७/२५

जिसे कोई मन्द बुद्धिवाला खोज नहीं पाया है

'विमूढ़ा नानु पश्यन्ति' – गीता, १५/२०

सद्गुरु कृपा से उसे जो जान लेता है, कैसे जान लेता है :–

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः'

उसे पुनः संसार में नहीं लौटना पड़ता है । वह परमधाम, परमगति को उपलब्ध हो जाता है, वह सनातन अक्षर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । जो परमात्मा सदा से छिपा है, ढका है, उघड़ा नहीं है । अनेक साधनों द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है । ऐसा शास्त्रों में कथन किया जाता है, तो मन में यह प्रश्न होता हे कि फिर वह बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण आदि अनेक महापुरुषों द्वारा कैसे जाना गया ?

जिसे परमात्मा को उघाड़ना है । उसे अपने सब परतों, आवरणों, वस्त्रों, नकाबों, नकली मुखौटों को ही हटाना है । सूर्य दर्शन में बाधक बादल या नेत्र हैं, सूर्य पर कोई परदा नहीं । सूर्य पर कौन परदा कर सकेगा ? यदि परदा है तो विराट् को कैसे निरावृत कर सकेगा ? परदा अपनी आँख पर है, सूर्य पर नहीं । इसी प्रकार आवरण अपने मन पर से हटाना है । परमात्मा को नग्न नहीं करना है वह तो दिगम्बर पूर्व से ही है । हमने ही नाना परतें, वस्त्र, दीवारें, अपने ऊपर खड़ी कर रखी हैं । उन अपने संग्रहित, पकड़े हुए, ओढ़े, पर्दे तोड़ फोड़ हटा देने पड़ते हैं । उसकी खोज उल्टी है । दर्पण में दीखने जैसी । श्रृंगार की कमी दर्पण में दीखती है समर्पण बिम्बि को होता है । प्रतिबिम्ब को कुछ नहीं दिया जाता है, यात्रा उल्टी वहाँ है । इसी प्रकार परमात्मा पर दीखनेवाला आवरण परमात्मा पर नहीं, जीव पर है, उसे ही हटाना, उघाड़ना, तोड़ना, फाड़ना है । ढके हम जीव हैं, उघड़कर हम ही परमात्मा होते हैं । कोई परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म, पुरुषोत्तम आनेवाला प्रकट होनेवाला नहीं है। हमारे नग्न होते ही, उघड़ते ही, दिगम्बर होते ही, हम वही हो जाते हैं । जिससे हम अनादि से अनन्त साधन करते दुःख भोगते हुए पुकार, खोज रहे थे, जिस कील को पाने के लिए हमने बैलागाड़ी पर बैठ यात्रा की, वह कील गाड़ी के साथ ही थी, उसी के आधार से गाड़ी चल रही थी । इसी प्रकार जिस परमात्मा की खोज पर हम पूजा, मन्दिर, तीर्थ, ध्यान, समाधि आदि साधनों द्वारा यात्रा करते हैं । वह सभी साधन एवं यात्रा

परमात्मा द्वारा ही हो रही थी । जब सद्गुरु से ज्ञान चक्षु प्राप्त होता है, तब जीव को होश आता है । जिसे अनादि से मैं ढूँढ रहा था, वह एक क्षण भी मुझसे अलग नहीं हुआ था । बल्कि वह मैं स्वयं ही था, हूँ एवं रहूँगा ।

एक बार कुम्हार बड़ी तेजी से कोड़े मारता हुआ गधे पर बैठा जा रहा था । लोगों ने पूछा कहाँ जा रहे हो तेजी से ? कुम्हार कहता है, जल्दी में हूँ, पूछो नहीं, रोको नहीं, एक ही गधा मेरे जीवन का सहारा है वह खो गया, उसे ढूँढने जा रहा हूँ, लोगों ने कहा तुम किस पर बैठ खोजने जा रहे हो ? जब कुम्हार ने अपनी ओर देखा तो पाया कि उसी गधे पर तो हूँ, जिसे खोजने जा रहा था । बस यही दशा मनुष्य की है, जिसके सहारे सब कार्य हो रहे हैं, उसी परमात्मा को खोज रहा है । हम इतनी तेजी से साधनों को कर रहे हैं, बाहर तेजी से भटक रहे हैं कि रुक कर अपनी ओर देखने का, विचार करने का अवसर ही नहीं कि यह सब कार्य करने की सब ओर यात्रा करने की शक्ति इसमें कहाँ से है और यदि कोई सद्गुरु होश में लाने के लिए उपदेश करते हैं तो कह देते हैं हमें अपनी पूजा, प्रार्थना, ध्यान, जप, पाठ से फुरसत नहीं । हम परमात्मा की प्राप्ति के साधनों को समय पर बिना किए पानी भी नहीं पीते, हम सत्संग में कैसे आ सकेंगे ?

मछली खोजे नीर को, कपड़ा खोजे सूत ।
जीव खोजे ब्रह्म को, तीनो ऊत के ऊत ।।

विमूढ़ा नानु पश्यन्ति

हम जिसे खोज रहे हैं, जानने वाले अनुभवी ज्ञानी संत कहते हैं, तुम उसे कभी भी नहीं जान सकोगे । क्योंकि हम उसी में है, उसी पर सवार हैं । सद्गुरु मिलेगा तो बात होगी वह पूछेगा किसे खोज रहे हो ? किसकी तलाश पर निकले हो ? जो खोज रहा है, उसी की तलाश हो रही है, खोज चल रही है । प्रत्येक साधक धीमे या तेजी से अपने आप को ही खोज रहा है एवं जब भी शिघ्र या देर से पायेगा तो वह अपने अलावा किसी अन्य को नहीं पायेगा । जैसा कि बुद्ध ने कहा कि सब त्याग कर उसी को पाया जो मैं पहले से ही था ।

यह अपने आपको खोल देना, उघाड़ देना, नग्न कर लेना और जिस दिन यह अपने को समस्त तादात्म्य से आवरणों से उघाड़ लेगा, जब उसके चित्त पर कोई वस्त्र नहीं होंगे पूर्ण दिगम्बर, नग्न, निरावरण हो जावेगा उसी दिन परमात्मा को उपलब्ध हो जावेगा । फिर भक्त भगवान् में द्वैत भेद दूरी नहीं होगी ।

जित देखूँ तित श्याम ।

परमात्मा को पाने का एक ही मार्ग है वह है अनन्य भाव । भक्त प्रार्थना, ध्यान, पूजा में भी अपने भगवान के साथ अनन्य नहीं होता । वहाँ भी उसे दूसरे भक्तों दर्शकों का विचाार होता है । आँख आगे, पीछे, दाँये-बाँये घूमती रहती है । वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष केवल अनन्य भक्ति, एकीभाव, सोऽहम् भाव द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है । उस परमधाम को पाये बिना आप जो कुछ ऊँची से ऊँची गति, स्थिति, पद, शक्ति, सिद्धि प्राप्त कर ले, उसका कोई मूल्य नहीं, अन्त में सब जन्म-मरण के दुःखों को ही प्रदान करनेवाली सिद्ध होगी । अनन्य भक्ति का मतलब अखण्ड निष्ठा, अपने आत्मा में हो । जरा भी बँटी हुई यहाँ-वहाँ खंडित न हो । एक निष्ठा से ही परमात्मा प्राप्त होता है ।

तुम ही परमधाम हो

सत्य व तुम्हारे बीच कोई मान्यता, उपाधि न हो यही सत्य को उपलब्ध करने का तरीका है । तुम्हारे पंडित कथाकार, पुरोहित बिल्कुल व्यर्थ ही श्रोताओं को भयभीत कर जीवन नष्ट कर रहे हैं । पुराने युगों की कहानियों को सुनाकर केवल मनोरंजन एवं धनोपार्जन कर रहे हैं । मैं तुम्हें याद दिलाऊँ कि ये तुम्हारे तथाकथित धर्मगुरु तुम्हारे मन में जहर घोलने के अलावा कुछ नहीं कर रहे हैं । मगर तुम तो उनकी बातों को बहुत प्रसन्नता पूर्वक अमृत मानकर पी रहे हो । तुम तो पंडित-पुरोहित के पीछे अन्धे की तरह चल रहे हो । सोचो, वह किस युग की समस्या का समाधान महाभारत, रामायण, भागवत्, गीता तथा पुराण इतिहास सुना रहे हैं । तब यह ग्रन्थ सिद्धान्त उन लोगों की मनोदशा के अनुसार ठीक था । पर आज आपके जीवन में उन समाधान से कुछ नहीं होने वाला है । जो होनेवाला था वह तो एक बार गीता, भागवत सुनकर अर्जुन परिक्षित का हो गया और तुम उसी सिद्धान्त को उसी कहानी को रोज-रोज पढ़ते कंठस्थ कर चुके हो । प्रवचन कर्ता भी उसी अवस्था में बने हैं एवं वे कथा सुननेवाले श्रोता भी उसी अवस्था में पड़े कष्ट भोग रहे हैं ।

पंडित-पुरोहित जहाँ की कथा कर रहे हैं वे वहाँ पहुँचे नहीं है, और उन्हें उसके बारे में कुछ पता नहीं । केवल शास्त्र पढ़कर वहाँ पहुँचे हुए भक्तों, ज्ञानियों के जीवन की कहानियाँ सुना रहे हैं और श्रोताओं को वहाँ पहुँचाने का झूठा विश्वास दिला रहे हैं । जैसे कोई नक्शे को पढ़कर नाम रटकर उस देश

नगर में पहुँचजाने का विश्वास करता हो । क्या वह नक्शे को पढ़ने से उस नगर देश का आनन्द अनुभव कर सकेगा ? कभी नहीं । बस यह शास्त्र तो परमात्मा की सूचना देनेवाले नक्शे हैं । इन्हें पढ़कर परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकेंगे । रोग को दूर करनेवाली औषधि के नाम रट लेने से रोग नहीं कट सकेगा । भले आप आयुर्वेदाचार्य हो या डॉक्टर, बिना औषध ग्रहण किए केवल औषध जेब में रखने मात्र से या औषध का नाम जप कर लेने से रोग की निवृत्ति कभी नहीं हो सकेगी । भवरोग से छुटकारा पाने हेतु किसी योग्य सद्गुरु की शरण ग्रहण करनी होगी, शास्त्र की नहीं ।

सद्गुरु न कृष्ण का प्रचारक होता है न राम का, न किसी जाति सम्प्रदाय का । वह जो भी कहेगा, अवश्य गीता, रामायण, भागवत्, उपनिषद के माध्यम से ही कहेगा । किन्तु राम-कृष्ण के द्वारा वह अपने ही मन की व्याख्या करेगा, सत्य का ही प्रतिपादन करेगा । सद्गुरु किसी भूतपूर्व संत को पुनरुक्त करने को नहीं होता, वह अपने ढंग से जीता है । वर्तमान की परिस्थिति के अनुसार उसे जो मार्ग, उपचार, साधन जीव कल्याणार्थ उचित प्रतीत होता है, उसी को वह निर्भयता पूर्वक अपनाता है । उसे यह चिंता नहीं होती है कि मेरी बात भूतपूर्व संत, ग्रन्थ से मेल खा रही है या नहीं ।

संत अपनी बात कहेगा और तुम उनसे ऋषि, मुनि, गीता, भागवत् पुराण की चर्चा करते हो तो वह यही कहेगा कि कृष्ण, राम, विवेकानन्द, रामकृष्ण, कबीर, नानक, तुलसी की बात मुझसे न करो, न पूछो । मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता, उनकी वे जानें मेरी मैं जानूँ । तुम्हें अच्छा लगे तो सुनलो अन्यथा जब राम, कृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, तुलसी मिले तब उनकी बात उनसे पूछ लेना । मैं अपने ढंग से रहूँगा । मैं किसी की पुनरुक्ति नहीं हूँ, न मुझे उनमें रस है । फिर समय बदल रहा है, जो उस दिन की जरूरत थी, उन्होंने उसे किया । जो आज की जरूरत है, वह मैं करूँगा । देखो ! स्वयं कृष्ण ने राम के आचरण को नहीं अपनाया । कृष्ण, राम से बिल्कुल भिन्न प्रकार का ही जीवन जीकर चले गए । तब तो कृष्ण गलत व्यक्ति कहे जावेंगे आपके मत से क्योंकि उनका आठ परारानियाँ थी व अनेक प्रेमकिाएँ थी । उन्होंने राम जैसा आचरण स्वीकार नहीं किया ।

याद रखो । जिसने तुम्हें कहा कि संसार को छोड़ो, परमात्मा को अपनाओ, वे अज्ञानी अन्धे हैं, यहाँ परमात्मा के अलावा कुछ भी अन्य नहीं है । परमात्मा के पाते संसार रहता ही नहीं, जैसे प्रकाश के होते ही अन्धकार रहता नहीं । अन्धकार को हटाना नहीं पड़ता । परमात्मा स्मरण में आ जावे तो संसार स्वयं असार हो जाता है । परमात्मा को केवल जानो तो संसार स्वप्न रूप स्वयं सत्ताहीन हो जावेगा ।

आश्चर्य है लोग परमात्मा के नाम पर चित्र-मूर्तियों को पूज रहे हैं और परमात्मा चारों तरफ मौजूद हैं । तुम्हारे रूप में, पिता-माता के रूप में, पति-पत्नी के रूप में, बेटे-बेटी-नौकर के रूप में, पशु-पक्षी के रूप में, सूर्य-चांद के रूप में, नदी-पर्वत के रूप में, पवन-पृथ्वी, वृक्ष-पौधों के रूप में, अन्न-जल, पत्र, पुष्प व फल के रूप में, सब ओर उसी की ही भीड़ है । तुम उससे एक क्षण के लिए भी तो बच नहीं सकते, दूर हो नहीं सकते । तुम्हारी श्वाँसों में वही तो भीतर बाहर निरन्तर हो रहा है । तुम्हारे हृदय में वही तो धड़क रहा है । तुम अपने प्रेम को सब दिशाओं में प्रार्थना में रूपातंरित करो । परमात्मा का दान, परमात्मा की भेंट सब ओर से प्राप्त हो रही है, उसे तुम धन्यवाद पूर्वक, प्रार्थना पूर्वक, प्रेमपूर्वक ग्रहण करो । न मानोगे तो मेरी कोई हानि नहीं, तुम्हारी ही हानि है । तुम्हारे मूढ़ता पूर्वक जीने से परमात्मा का कोई दुःख नहीं है । तुम बुरी तरह पछताओगे, जब देह, इन्द्रिय, मन, वृद्धावस्था में असमर्थ हो जावेंगे । जब तुम्हारी रोज की पूजा, माला, यज्ञ, सेवा, प्रार्थना, पाठ, उपवास, देव-दर्शन, तीर्थयात्रा, कीर्तन, नाच, गाना, नहीं हो सकेगा । तब पछताओगे पर कुछ कर नहीं पाओगे ।

तुम्हारा दमन करनेवाले, धोखा देनेवाले पंडित तो लाखों मिल जावेंगे । तुम्हारी मूढ़ता को बढ़ाने वाले पुरोहित तो तुम्हारी प्रतिक्षा में ही बैठे हैं । वे तुम्हें कहेंगे चोटी रखे हो न ? जनेऊ धारण करना मत छोड़ना । एकादशी उपवास जरूर करना । तिलक जरूर लगाए रहना । कुम्भ स्नान, गंगा स्नान, तीर्थ यात्रा बिना कल्याण नहीं होगा । इस तरह तो याद दिलाते रहनेवाले घर-घर, गली-गली गुरु घूमते भटकते हुए तुम्हें भटकाने को खोज रहे हैं, नहीं मिले तो मिल ही जावेंगे । किन्तु तुम सभी कर्मों के, जीवन के साक्षी हो यह

सत्य बात बतानेवाले तुम्हारे जीवन को सृजनात्मक क्रान्ति देनेवाले सद्गुरु तो कभी सौभाग्य से ही प्राप्त होते हैं ।

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। –७/१९ : गीता

राम-राम से कुछ समस्या हल होनेवाली नहीं, न राम की समस्या हल हुई, न सीता की, न दशरथ की, न हनुमान की । फिर तुम्हारी कैसे मनोकामना पूर्ण हो सकेगी । यदि राम-राम जपने से ही समस्या सब हल हो जाती तो देश की ये दुर्दशा न होती । मानव राम-राम रटते रटते घोर पापी क्यों बनता चला जाता ? दुःख के मूल को पहचान उपचार करो तो समस्या का हल होगा । हमारे दुःख का मूल कारण धन, पुत्र, पत्नी, पद, मकान नहीं, बल्कि आत्म अज्ञान है । उसकी निवृत्ति आत्मज्ञान बिना कभी नहीं हो सकेगी । अन्धकार का मूल ढूँढे बिना अन्धकार हटाने, भगाने से नहीं हटेगा । प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है । प्रकाश होते ही अन्धकार अन्य साधन किये बिना विलीन हो जानेवाला है ।

न मन्दिर जाओ, न मस्जिद जाओ । न चर्च जाओ, न गुरु द्वारा जाओ । न गंगा जाओ न तीर्थ । जहाँ बैठे हो वहीं यह सब प्रकट कर लो । जब सद्गुरु की प्राप्ति होगी तो घर बैठे ही सब मिल जावेगा । **घट में राम अविनाशी साधो ! काहेरे बन खोजन जावे !! कस्तूरी कुण्डल बसे ।**

वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, कहते हैं 'तत्त्वमसि' वह तू है परन्तु तुम्हें विश्वास नहीं आ सकेगा । अगर मैं तुमसे कहूँ कि तुम वहीं बैठे हो, जहाँ चलकर पहुँचना चाहते हो तो भी तुम विश्वास नहीं करोगे, लेकिन उस पर विश्वास शिघ्र कर लोगे जो तुम्हें तुम्हारे घर से चलाकर, गाड़ी में बिठाकर, इधर-उधर घुमाकर पुनः वहीं लाकर छोड़ देता है । क्योंकि संसार में बिना कुछ किए कुछ प्राप्त नहीं होता । लोग द्वार-द्वार भीख मांगने, प्रार्थना करने, प्रतिक्षा करने, कर्म करने से ही जीवन निर्वाह कर पाते हैं । फिर इतना बड़ा परमात्मा जैसा परम धन बिना चले, बिना किए कैसे मिल जावेगा ? सहज यह बुद्धि मानने को राजी नहीं हो सकेगी । वह आदमी पागल समझा जावेगा जो कहता है कि बिना कुछ किए परमधन मिल

जावेगा । बिना चले वहाँ पहुँच जाओगे जहाँ तुम जाना चाहते हो । तुम उस गुरु को खोजोगे जो तुम्हें बैलगाड़ी, घोड़े, कार, रथ पर बैठा कुछ घुमा, चला, दौड़ाकर, थकाकर फिराकर वहीं छोड़ दे तो तुम्हें विश्वास होगा कि अब मैं ठीक स्थान पर यात्रा के पश्चात् पहुँच गया ।

तुम जहाँ हो, वही मंजिल है, तुम अपने परमधाम से एक इंच भी एक क्षण के लिए दूर नहीं हुए । हट भी नहीं सकते । हटने के लिए भी उसका होना जरूरी है अन्यथा मुर्दा भी श्मशान पहुँच जाता । स्वभाव का अर्थ ही है जिसे तुम चाहकर पुरुषार्थ कर भी खो न सको, छोड़ न सको। जैसे अग्नि अपनी उष्णता को बर्फ अपनी शीतलता को, कभी छोड़ नहीं सकते । ठीक उसी प्रकार जीव अपने ब्रह्म स्वरूप परमधाम से पृथक् दूर नहीं हो सकता, जा नहीं सकता । तब वहाँ जाने, पहुँचने की बात ही समाप्त हो जाती है । तुम अपने को कैसे खो सकोगे ? जहाँ भी जाओ तुम तो अपने अर्थात् चैतन्य के साथ ही रहोगे । चाहे हिमलाय हो, चाहे शिवालय में हो, तुम अपने समीप उतने ही हो, जितने अपने घर में समिप हो जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं है । क्योंकि तुम तो तुम्हारे भीतर हो, सब घर, द्वार, पत्नी, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा बाहर छोड़ जाते हो, किन्तु अपने को नहीं छोड़ सकते ।

तुम फिर भी कहोगे, पूछोगे कि मैं आत्मा हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं परमधाम हूँ, यह मानता हूँ, फिर भी कुछ तो रास्ता बतावें वहाँ पहुँचने का । इसीलिए गुरु प्रथम कुछ साधन बताता है, बैलगाड़ी पर बैठा चलाता है, फिर कहता है यह आ गया तुम्हारा परमधाम और तब तुम्हें विश्वास हो जाता है कि अब मैं ठीक अपने घर पहुँच गया । गुरु शीर्षासन, सिद्धासन, पद्मासन, मूलबन्ध, आदि कठिनाईयाँ खड़े करता है, फिर कहता है इतना करो तब तुम्हें प्राप्त होगा, उसे पाना इतना सरल नहीं है । जन्मों-जन्मों की दूरी है, कुछ किए बिना, चले बिना नहीं पा सकोगे और तुम्हें भी विश्वास हो जाता है, क्योंकि संसार में कुछ करके ही पाया जाता है । इसलिए सीधा साधा निरंजन तो तुम्हें जचेगा ही नहीं कि यह भी कोई समझदार है जो सब करना छुड़ा देता है ।

सद्गुरु तो वही है, जो कहे तुम्हें कुछ करना नहीं, कहीं जाना नहीं, तुम वहाँ ही हो, वहाँ पहुँचे हुए ही हो । तुम्हें इस परम सत्य यथार्थ वचन पर भरोसा नहीं आवेगा ।

तुम्हें प्रलोभनात्मक या भयानक वचन पर शिघ्र विश्वास हो जावेगा, उस गुरु की बात जचने लगती है जो कुछ करके, पाने की बात बताता है । तुमने इतने काल से अपनी निन्दा की है कि मैं दुष्ट, पापी, चाण्डाल एवं इतना विरोध किया है अपने नित्य, शुद्ध, ब्रह्म स्वरूप का, कोई सद्गुरु तुम्हें ब्रह्म कहे तो विश्वास नहीं आता । तुम्हारा अपने प्रति आत्मविश्वास खो गया है । इतनी निन्दा करने से दूषित कुत्सित मानते आने के कारण । इसीलिए सद्गुरु नियम, साधन, जपादि कर्म कराकर पहुँचने का विश्वास पैदा कर देता है । इसीलिए गुरु को तुम्हारे मन की भ्रान्ति को काटने हेतु नया कर्म जाल बनाना पड़ता है । मिथ्या भूत को भगाने हेतू मिथ्या मंत्र, ताबीज, झाड़, फूँक करना पड़ता है । काँटे को निकालने के लिए एक प्रबल काँटा ढूँढना पड़ता है ।

सद्गुरु के मिलने से तुम्हारे मन, बुद्धि पर जमा जन्मों-जन्मों की धूल उड़ेगी, भ्रान्तियाँ अन्धविश्वास नष्ट होने लगेंगे और तुम घबरा जाओगे कि इससे तो हम पहले ही सन्तुष्ट थे । इस गुरु के मिलने से तो हमारा सब कुछ नष्ट हो गया, हम खाली हो गए । अवश्य पहले शून्य लगेगा एवं फिर शून्य ही पूर्ण हो जावेगा । खाली होना जरूरी है, पूर्ण होने के लिए । गुरु के बिना शिष्य अज्ञान अन्धकार में भटकता एवं विक्षिप्त होता रहता है । इसीलिए हमें कोई सद्गुरु चाहिए जो झूठ से पार करा सके । और तब तक साथ दे जब तक तुम्हें सत्य का अनुभव न हो । यदि शिष्य का मिथ्या छूट जावे एवं सत्य का पता न लगे तो वह भटक जावेगा । इसलिए ऐसा सद्गुरु चाहिए जो झूठ से हटा सत्य में हमें स्थित कर सके ।

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्यो र्मा अमृतमगमय !!!

सद्गुरु का उपयोग कुछ देने दिलाने में नहीं केवल भूले स्वरूप का स्मरण करा देने में है ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा - गीता - १८-७३

धोखे से पार करा देना मुक्त करा देना ही गुरु की एक मात्र कला है ।

यदि गुरु के प्रति आपकी परमात्मा रूप श्रद्धा नहीं है तो गुरु व्यर्थ है, वह आपके काम नहीं आवेगा । गुरु के प्रति श्रद्धा न हो तो फिर उसके पास कभी भी नहीं जाना चाहिए । जिसके प्रति श्रद्धा हो वहीं जाना चाहिए । आपकी श्रद्धा ही गुरु से जोड़ती है एवं ज्ञान का अधिकारी बनाती है । उसी ज्ञान से जीव को अपने भूले स्वरूप का स्मरण होता है । श्रद्धा तुम्हारी होगी तो गुरु पूर्ण न होने पर भी पार कराने में सहयोग देगा । लेकिन गुरु पूर्ण होने पर भी श्रद्धा नहीं है तो तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकेगा । अश्रद्धालु अन्धे की तरह पैदा होते हैं, अन्धे की तरह जीवन व्यतीत कर अन्धे ही दुनियाँ से चले जाते हैं । कोई भाग्यशाली ही सद्गुरु से चक्षुप्राप्त कर जीते हैं, जीवन का आनन्द लेते हैं ।

प्राप्तस्य प्राप्ति

जगत् में दो प्रकार की प्राप्ति देखी गई है । एक तो अप्राप्तस्य प्राप्ति और दूसरी है प्राप्तस्य प्राप्ति ।

अप्राप्त की प्राप्ति अर्थात् हमारे पास जो विद्या, व्यापार, नौकरी, खेती, मकान, सम्पत्ति, सन्तान, वाहन, अलंकारादि नहीं है, उन्हें किसी कर्म, तपस्या, मंत्र अथवा आशिर्वाद द्वारा प्राप्त कर लेना अप्राप्त की प्राप्ति कहलाती है । जो वस्तु पूर्व नहीं थी, वह अपने द्वारा किये साधन द्वारा अथवा किसी की कृपा या सहयोग से प्राप्त हुई है वह वस्तु, पद, अनित्य, असत्, विनाशी ही होती है । '**यत साध्यम् तत अनित्यम्**' अर्थात् जो कुछ साधन से प्राप्त होने वाले पद, पदार्थ हैं, वह सब अनित्य ही होते हैं । चाहे वह इह लौकिक पद, पदार्थ हो या पारलौकिक पद, पदार्थ हो ।

अब दूसरा वह पदार्थ है जिसे प्राप्तस्य प्राप्ति कहते हैं । अर्थात् जो पदार्थ हमारे पास पूर्व से ही है उसी की प्राप्ति होना ।

जैसे किसी ब्राह्मण ने गांजा, भांग ज्यादा पी लेने से उसे अपने ब्राह्मण भाव का विस्मरण हो गया हो व शुद्र भाव का ज्ञान हो जाता है तो उसे अपने ब्राह्मण भाव की पुनः स्मृति कराने हेतु उसकी बुद्धि से नशा हटाने के अतिरिक्त कुछ साधन करने की जरूरत नहीं रहती है ।

आत्मा सभी का अपना नित्य स्वरूप है । साधन साध्य नहीं अपितु स्वतः सिद्ध सभी को प्राप्त ही है । किन्तु अज्ञान के कारण देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन, बुद्धि, के साथ जीव तादात्म्य कर अपने को जन्म-मृत्यु, सुखी-

दुःखी, कर्ता-भोक्ता, बन्ध धर्मी मान लेता है । यह जो देहादि में मैं भाव है, इसी को अहं बुद्धि अनात्मा में आत्म बुद्धि या अहंकार कहते हैं । जीव भ्रान्ति से अपने को देहात्म बुद्धि कर दुःखी होता है । किन्तु वह उसके वास्तविक स्वरूप से किसी क्षण भी अलग नहीं है । वह अजन्मा, अमर, अखंड, असंग, अनादि, अनंत आत्म ब्रह्म ही है । अज्ञान के कारण मुक्त होते हुए अपने को बद्ध, अमृत होकर भी मरने वाला, असंग होकर भी संसारी निष्क्रिय होकर भी क्रियावान्, मान रहा है ।

जब सद्गुरु की कृपा से इस जीव को अपना सत्य आत्म स्वरूप का स्मरण हो जाता है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानंद आत्मा हूँ । मैं आत्मा ही अजर, अमर, अकर्ता, अभोक्ता शिव हूँ । इस निष्ठा का नाम ही आत्म साक्षात्कार, आत्म दर्शन एवं नित्य प्राप्त की प्राप्ति, प्राप्तस्य प्राप्ति कहलाती है । यह प्राप्तस्य प्राप्ति किसी अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है, यह तो अग्नि को उष्णता सूर्य को प्रकाशता, गन्ने को मधुरता, नींबू को खटासता, नमक को लवणता की प्राप्ति जैसा है । अर्थात् पूर्व प्राप्त स्वभाव का स्मरण मात्र ही है । इसीलिए वेदांत ज्ञान नित्यप्राप्त परमात्मा, मुक्ति, आनन्द, आत्मा की प्राप्ति एवं नित्य निवृत्त बंधन, जन्म-मरण दुःख की भ्रान्ति की ही निवृत्ति होती है ।

आत्मज्ञान से श्रेष्ठ तप नहीं है । आत्मज्ञान प्रदान करने से श्रेष्ठ दान नहीं । आत्मलाभ से श्रेष्ठ लाभ नहीं । आत्मसिद्धि से श्रेष्ठ अन्य सिद्धि नहीं । आत्मगुरु से श्रेष्ठ गुरु नहीं । आत्मपूजा से श्रेष्ठ पूजा नहीं एवं आत्मयज्ञ से श्रेष्ठ यज्ञ नहीं । ज्ञान प्राप्ति के साधन रूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मनिष्ठ होने के समान कोई श्रेष्ठ तप नहीं है । अज्ञान नाश ही श्रेष्ठ कर्म है ।

"बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागताः" - गीता, ४/१०

ज्ञानयज्ञ से ही परमात्मा की पूजा होती है । ज्ञानयज्ञ ही सर्व यज्ञों में श्रेष्ठ है ।

"श्रेयानद्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञनयज्ञः परंतपः" - गीता, ४/३३

ज्ञानाग्नि से ही जीव के समस्त संचित् शुभ-अशुभ कर्म दग्ध हो जाते हैं ।

''ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा'' – गीता, ४/३७

जब तक देहात्म बुद्धि रूप अहंकार का नाश नहीं होता तब तक किसी को ज्ञानोदय नहीं होता है। देहात्म बुद्धि रूप अहंकार का कारण आत्म अज्ञान ही है । उस अज्ञान का नाश आत्मज्ञान द्वारा होने से जीव का देहभाव कर्ताभाव का भ्रम नाश होता है । तभी जीव ''प्राप्तस्य प्राप्ति'' नित्य प्राप्त सच्चिदानन्द, मुक्त ब्रह्म स्वरूप में ''अहं ब्रह्मास्मि'', ''मैं ब्रह्म हूँ'' सोऽहम्, शिवोऽहम्, रूप से सत्य ज्ञानोदय होता है । यह भूले स्वरूप की स्मृति प्रदायक ज्ञान करोड़ों कर्मों से नहीं होती है।

''नष्टो मोहः स्मृतिर्लधा'' – गीता, १८/७३

जीव को आत्म स्वरूप कभी अप्राप्त नहीं था, वह त्रिकाल में विद्यमान ही रहता है । जैसा मन्द अन्धकार के समय रस्सी में सर्प का भ्रम से पूर्व रस्सी सर्प भ्रम काल में रस्सी एवं सर्प भ्रम निवृत्ति के समय भी केवल रस्सी ही रहती है । अन्धकार दोष से रस्सी सर्प रूप प्रतीत होती है एवं प्रकाश होने से प्राप्त रस्सी में ही रस्सी रूप की सिद्धि होती है । इसी प्रकार जीव को आत्म अज्ञान के पूर्व भी वह आत्मा ही है । जीव को अज्ञान के कारण देह में आत्म बुद्धि होती है तब भी वह आत्मा ही रहता है तथा सद्गुरु द्वारा मैं आत्मा हूँ का ज्ञान होने के बाद भी केवल ''मैं देह हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ'' इस भ्रम की ही निवृत्ति होती है एवं इस भ्रम का निवारण होते ही अधिष्ठान ब्रह्मात्मा का मैं रूप से भासमानता स्वतः ही होने लगता है ।

मिथ्या भ्रम को दूर करने हेतु नूतन प्रबल भ्रम उत्पन्न करना पड़ता है । जैसे पैर में लगे काँटे को निकालने हेतु कोई बड़ा मजबूत काँटा खोजना पड़ता है । मानसिक भूत भ्रम दूर करने हेतु काल्पनिक मन्त्र, ताबीज, डोरा, पूजा, अनुष्ठान, जप, उपवास, दानादि साधन किए जाते हैं । शरीर में फैले विष को दूर करने हेतु अन्य प्रबल विष को पहुँचाया जाता है दवा के रूप में ।

सत्यता तो इतनी है कि जीव नित्य मुक्तात्मा है ।

सदा मे समत्वं न मुक्तिर्नबन्धः चिदानन्दः रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

तब इस बन्धन भ्रान्ति को निवृत्त करने के लिए क्या साधन वेद में बताया गया है ?

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डक १/२/१२

ज्ञानादेवं तु कैवल्यम् ऋतेः ज्ञानात् न मुक्ति

इस बन्धन रूपी काल्पनिक भ्रम को दूर करने हेतु वेदों में ज्ञान से मुक्ति रूपी अभय दिलाने वाले सिद्धान्त की स्थापना की है । अज्ञानी अपने को ब्रह्मात्मा न जान देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं उनके द्वारा होनेवाली क्रियाओं को अपनी मान दुःख अनुभव करता है । जबकि सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, कर्ता-भोक्ता, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक गमन गमन के ही धर्म हैं । भूख-प्यास प्राण के हैं । रोग-नीरोग, जन्म-मृत्यु षड् विकार शरीर के हैं ।

प्रकृते क्रियमाणानि गुणे कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमितिमन्यते ।। – ३/२७ : गीता

अज्ञानी परधर्मों को, प्रकृति धर्म कर्म को अपना मान दुःखी होता है । किन्तु ज्ञानी सूक्ष्म बुद्धिवाला इन परधर्मों को बुद्धि से त्याग कर स्वधर्म रूप साक्षी, आत्मा में ही मैं बुद्धि करता है । आत्मज्ञानी को बन्धन की भ्रान्ति नहीं, इसलिए मुक्ति प्राप्ति की इच्छा रूप भ्रम भी नहीं रहता है । बन्ध-मोक्ष सापेक्षिक मनोदशा है और मैं इनका भी प्रकाश, साक्षी, आत्मा, निर्द्वन्द्व, सदा मुक्त हूँ ।

चैतन्यात्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है व ''अज्ञान'' का साक्षी है । जब हम कहते हैं ''मैं अज्ञानी हूँ'' तब हम कोई अज्ञानी होते नहीं । ''मैं अज्ञानी हूँ'' ऐसे कहनेवाले से हमें पूछना चाहिए कि भाई ! तू जो यह कहता है कि मैं अज्ञानी हूँ यह जानकर कहता या बिना जाने ? यदि वास्तव में ही तू अज्ञानी होता तो ''मैं अज्ञानी हूँ''- इस अज्ञान का भी ज्ञान नहीं हो पाता । यदि तू अज्ञानी ही है, तो यह कैसे जाना कि ''मैं अज्ञानी हूँ ?'' इसका मतलब तो यह स्पष्ट है कि पहले तूने कहीं ज्ञान को देखा है एवं अब यहाँ उसकी तुलना में ज्ञान प्रतीत नहीं होता है तभी तू तुलनात्मक दृष्टि से कहता है कि मैं अज्ञानी हूँ । इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं अज्ञान का प्रकाशक, अज्ञान का द्रष्टा ज्ञान स्वरूप आत्मा अज्ञान से भिन्न हूँ । वास्तविकता यह है कि मेरे में अज्ञान

नहीं, मेरे मन, बुद्धि मैं ही मैंने अज्ञान को देखा । जैसे मेरी बुद्धि मन्द है, मेरी बुद्धि कमजोर है, मेरी बुद्धि मूढ़ता को प्राप्त हो गई, मेरी बुद्धि की नासमझी पर मुझे ही आश्चर्य होता है अथवा मेरी बुद्धि तेजस्वी है, मेरी बुद्धि की चतुराई से यह काम बन गया, इत्यादि अवस्थाओं का प्रकाशक मैं आत्मा ज्ञान स्वरूप नित्य हूँ ।

आत्मा निराकार होने से हमारे पाँचों इन्द्रियों का विषय नहीं है । आत्मा भिन्न नहीं है, इसलिए उसका दर्शन सम्भव नहीं है । आत्मा अप्रमेय होने से बुद्धि द्वारा निश्चय में नहीं आता है । आत्मा निराकार होने से दृष्टि का विषय नहीं है । आत्मा द्रष्टा है वह दृश्य नहीं, इसीलिए भी आत्मदर्शन सम्भव नहीं । आत्मा अद्वितीय है, इसलिए आप से भिन्न दूसरे आत्मा के अभाव में आत्मा को देखना, प्राप्त करना सम्भव नहीं । आत्मा के साथ सोऽहम् भाव किए बिना आत्मदर्शन का अन्य मार्ग नहीं । **आत्म निष्ठा ही आत्म दर्शन है कि ''मैं आत्म स्वरूप ही हूँ'' । यही आत्म साक्षात्कार है ।**

तभी तक मन बन्धन का हेतु होता है, जब तक वह बहिर्मुख विषयासक्ति में लीन रहता है एवं मन जब आत्म विचार की ओर लौट आता है, तब वही मन मुक्ति का हेतु हो जाता है । यह मन ही अपना मित्र एवं अपना शत्रु रूप हो जाता है ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारुढ़स्तदोच्यते ।– ६/४ : गीता

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षायोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।

–२ : ब्रह्मविन्दु उप.

विषयासक्त मन बन्धन की प्रतीति करता है एवं वासना रहित मन मोक्ष का अनुभव करता है ।

आत्मा नित्य मुक्त है उसे मुक्ति की चाह नहीं । देह जड़ है, उसे भी मुक्ति की चाह नहीं । यह मन ही अपने में बन्धन की कल्पना करता है एवं

यही मुक्ति की इच्छा करता है । जब सद्‌गुरु द्वारा ''तत्त्वमसि'' उपदेश के श्रवण, मनन से अद्वितीय आत्मज्ञान हो जाता है कि मुझ अखण्ड ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, तब मन भी नहीं है ऐसा भान होते ही मन का भ्रम बन्धन एवं उसे दूर करने के लिए मुक्ति ज्ञान की चाह भी समाप्त हो जाती है ।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो, विभूव्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम् ।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः, चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्

सद्‌गुरु कृपा से जब मन विषयों से मुख मोड़ स्वरूप की ओर लौटता है तब उसे ख्याल आता है कि तरंग जल से भिन्न नहीं, जल ही है । उसी प्रकार मेरी सत्ता आत्मा से भिन्न नहीं मैं आत्मा ही हूँ । तब यही अनुभव होता है जीव को कि मैं निर्विकल्प निराकार हूँ । मैं सर्व इन्द्रियों में सर्व स्थानों में रह कर सबको प्रकाशित करता हुआ समभाव में रहता हूँ । मुझे मुक्ति की इच्छा नहीं, क्योंकि मेरे अधिष्ठान आत्मा स्वरूप में बन्धन ही नहीं है । मैं तो कल्याण स्वरूप मंगलकारी सच्चिदानन्द स्वरूप, नित्य, मुक्त, नित्यानन्द, आत्मा हूँ ।

वास्तव में तो मोक्ष आत्मा का नित्य सिद्ध स्वभाव है । जैसे सूर्य में प्रकाश, अग्नि में उष्णता स्वाभाविक नित्य है, इसी प्रकार आत्मा में मुक्ति नित्य ही है । मुक्ति प्राप्त करने की वस्तु नहीं, जानने की जरूरत है । मृग को कस्तूरी प्राप्त करने की वस्तु नहीं, उसे केवल जानने की ही जरूरत है । आत्म अज्ञान के कारण ही, जीव को मैं आत्मा मुक्त हूँ, यह पता नहीं चलता है और अपने दृश्य देह संघात् में आत्म बुद्धि कर बन्धन का अनुभव करता है । आत्म-अज्ञान के कारण ही मन आत्मा पर अनात्मा का, नित्यपर अनित्यता का, सत पर असत् का एवं अविनाशी पर विनाशी का भ्रम भय खड़ा कर दुःखी होता है ।

जब गुरु कृपा से मन अनात्मा से विमुख हो आत्मा के सम्मुख होता है कि मैं दृश्य देह संघात् नहीं हूँ, मैं तो केवल सर्व दृश्यों का प्रकाशक, साक्षी, असंग, निर्विकार, सच्चिदानन्द आत्मा हूँ । तब यह जीव समझता है कि मेरे

स्वरूप में न कभी बन्ध था, न मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता ही है । मुक्ति किसी अन्य देश, काल, लोक एवं साधन से मिलनेवाली परिच्छिन्न वस्तु नहीं है वह तो आत्मा का प्राप्त स्वरूप है । इसलिए ज्ञान से प्राप्त की प्राप्ति कहा है ।

वस्तु सिद्धि विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः- वि.चू.

शुद्ध मन द्वारा आत्मज्ञान आत्मबोध जाग्रत हो जाना ही आत्म साक्षात्कार, आत्मदर्शन या मुक्ति है । आत्मा की अपरोक्षानुभूति द्वारा **''मैं और यह समस्त दृश्य जगत् एक ब्रह्म ही है, ऐसा विचार द्वारा अनुभव करना ही आत्मज्ञान है ।** मुक्ति सर्वदा है, नित्य है किन्तु अशुद्ध मन के कारण वह ''अप्राप्तस्य प्राप्ति'' जैसी प्रतीती होती रहती है एवं शुद्ध मन से मुक्ति 'प्राप्तस्य प्राप्ति' मालूम पड़ती है जैसे गर्भवती स्त्री को १० माह बाद जो सन्तान प्राप्त होती है वह प्राप्त की ही प्राप्ति है क्योंकि वह सन्तान प्रथम माह से ही प्राप्त था जो गर्भ में था वही प्राप्त होता है । दसवाँ तू की तरह प्राप्त की प्राप्ति होती है ।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे सो क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।

मन ही बन्धन का भ्रम खड़ा करता है एवं मन ही मुक्ति की चाह कर मुक्त होता है । जैसे आकाश में रंग नहीं, सीमा नहीं, फिर भी रंग धुन्धला एवं पृथ्वी आकाश का मिलन दूरस्थ दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार आत्मा में बन्धन नहीं, फिर भी अज्ञान के कारण बन्धन कर्तृत्व-भोक्तृत्व जन्म-मृत्यु की भ्रान्ति होती है ।

चित्तत्य शुद्धये कर्म न तु वस्तुपलब्धये । - ११ : वि.चूड़ा

समस्त निष्काम कर्म अन्तःकरण शुद्धि के साधन हैं, किन्तु आत्मानुभूति तो सद्गुरु के द्वारा महावाक्यों का तात्पर्य सहित विचार करने से ही होती है । अनात्मा से आत्मा को पृथक् जान लेना ही मुक्ति का साधन है । इस सोऽहम् धारणा के सिवा ज्ञान करोड़ों कर्म द्वारा मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है ।

सकाम यज्ञ, तप, दान, पूजा, धर्म, भक्ति उपासना आदि सभी साधन ज्ञानाधिकारी बनाने के तो हैं किन्तु साध्य नहीं है ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डक १/२/१२

सीमितकर्मों से आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । सीमित साधनों द्वारा पुण्य फल प्राप्त कर लोग स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि लोकों के भोगों को कुछ सीमित समय तक प्राप्त करते हैं । किन्तु पुण्य समाप्ति पर उन्हें पुनः वहाँ से मृत्यु लोक में गिरना पड़ता है ।

'मृत्योः स मृत्युं गच्छति यः इह नानेव पश्यति' – कठ. उप २/१/११

उपासक एवं उपास्य, भगवान् एवं भक्त, स्वामी, तथा सेवक, ईश्वर तथा जीव की तरह भेद रूप में कोई अनन्त, युगों, कल्पों तक भी साधक साधन करता रहे किन्तु वह जन्म-मरण के पाश से कभी भी छूट नहीं सकेगा ।

आत्मा मुझसे भिन्न नहीं है तथा दृश्य भी नहीं है फिर उसे इन्द्रियों द्वारा अनुभव भी नहीं किया जा सकता है, निराकार अप्रमेय होने से । उसे तो अभिन्न रूप में ही अनुभव किया जा सकता है । अलंकार स्वर्णवत् । जो पदार्थ भिन्न, दृश्य एवं इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य हो सकता है वही साधन द्वारा प्राप्त हो सकता है । जैसे संसार के पदार्थ । किन्तु परमात्मा अप्राप्त नहीं होने से प्राप्तव्य नहीं, निराकार होने से इन्द्रियों का विषय नहीं, मन द्वारा चिन्तन का विषय नहीं, बुद्धि द्वारा प्रमाणित भी नहीं हो सकती । इसलिए परमात्मा जड़ पदार्थों की तरह साधन साध्य विषय नहीं, बल्कि स्वतः सिद्ध नित्य प्राप्त सबका आत्मा है ।

देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न वस्तु ही साधन द्वारा उसी देश, उसी काल, तथा उसी उपादान से प्राप्त होती है । अन्य देश, अन्य काल तथा अन्य रूप में प्राप्त पदार्थ अन्तवान्, परिच्छिन्न ही होगा । अनन्त एवं अपरिच्छिन्न विभू नहीं होगा । परमात्मा अखण्ड होने से सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप में विद्यमान् है । अतः मुमुक्षु, कर्ता, साधक, भक्त, योगी सभी का परमात्मा अपना ही स्वरूप है । साधन से प्राप्त पदार्थ आकार एवं नाम वाला ही होता

है अन्यथा वह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त भी नहीं हो सकेगा । जो नाम एवं आकार वाला पदार्थ होगा, वह प्राप्त कर्ता से भिन्न एवं जड़ होने से नाशवान् ही होगा । इसीलिए अनादि से आज तक हमने अनन्त नाम, रूप पदार्थ प्राप्त किए किन्तु मन शान्त नहीं हुआ । क्योंकि वह पदार्थ नाशवान् होने से मन पुनः असन्तुष्ट अतृप्त ही रह जाता है । मन को जब नित्य वस्तु आत्मानुभूति होती है तभी वह परमानन्द को प्राप्त कर परम शान्ति का अनुभव करता है ।

मुमुक्षु साधक सत्संग द्वारा जड़-चेतन, आत्मा-अनात्मा, द्रष्टा-दृश्य, क्षर-अक्षर, स्वयं प्रकाश - पर प्रकाश्य, इष्ट-अनिष्ट, सुख-आनन्द, नित्य-अनित्य का भेद, बुद्धि द्वारा जाने । फिर अनित्य, क्षर, विनाशी, विकारी, जड़, दृश्य, पर प्रकाशक अनिष्ट एवं अनात्म पदार्थों से वैराग्य कर, नित्य सत्य, ज्ञान, आनन्द, स्वयं प्रकाश, साक्षी, आत्मा का ही अनुभव करने की इच्छा करता है ।

परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। - मुण्डक उप., १/२/१२

अनित्य कर्म द्वारा प्राप्त फल, लोक, भोग, आयुष आदि नाशवान् होने से, मुमुक्षु को कर्म एवं उनसे प्राप्त लोक, भोग, सिद्धि आदि को बन्धन रूप जान उनसे वैराग्य कर लेना चाहिए । फिर नित्य प्राप्त वस्तु आत्मा को जानने हेतु किसी सद्गुरु के पास पहुँचकर उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रेम समर्पण भाव रखना चाहिए । और प्रार्थना करना चाहिए कि हे समस्त दुःख भंजन हारी अखण्डानन्द प्रदायक सद्गुरु देव ! आप मुझे संसार बन्धन से मुक्त कराने की कृपा कीजिए । मैंने अनादि से संसार बन्धन से छूटने के आज तक जितने भी साधन किए उनसे मेरा दुःख दूर नहीं हुआ बल्कि उत्तरोत्तर दुःख बढ़ता ही गया । अब मैं सब ओर से आपकी शरण में हूँ ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।२/७

हे प्रभो ! कायरता रूप दोष से तिरस्कृत स्वभाव वाला और जन्म-मृत्यु, धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य, बन्ध-मोक्ष के विषय में मोहित अन्तःकरण वाला मैं आप से पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करने वाला ज्ञान है, वह मेरे लिये बताइये । मैं आपका शिष्य हूँ अतः मुझे आत्मा-अनात्मा, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जड़-चेतन, दृश्य-द्रष्टा तत्त्व का सरल सुगम युक्तियों से बोध कराने की कृपा करें, जिससे मैं अहंता-ममता रूप केन्सर रोग से मुक्त हो सकूँ ।

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !!
मृत्योर्माऽमृतम गमय !!!

जब मैं था तब हरि नहीं

जब अशुद्ध, अहंकारी मैं मिट जावेगा, तब जो शुद्ध मैं बचेगा वह 'साक्षी' है । जब 'साक्षी' है तब मैं नहीं हूँ । मैं मिट जाने से 'साक्षी' प्रकट होता है मैं के रहने तक साक्षी प्रकट नहीं हो पाता । साक्षी तो वह है, जो यह भी जानता है कि मैं साक्षी हूँ । इस मन की वृत्ति को जो जानता है कि 'मैं साक्षी हूँ' वह देखने वाला, जाननेवाला ही वास्तविक साक्षी है । मैं को भी जो जानता है वह साक्षी है । जब तक मैं हूँ तब तक साक्षी का पता नहीं लगता । अस्तु मुझे तो मिटना ही पड़ेगा । मैंने अगर कहा कि मैं साक्षी हूँ तो साक्षी अभी पैदा नहीं हुआ । क्योंकि साक्षी तो वह है जो यह भी देख रहा है कि मैं साक्षी हूँ । साक्षी (आत्मा, ब्रह्म) भीतर उपस्थित है किन्तु मैं की परत के नीचे दबा हुआ है । जैसे सरोवर में पानी मौजूद है, किन्तु पत्तों से छिपा हुआ है । पृथ्वी में पानी विद्यमान है किन्तु मिट्टी की परतों में छिपा पड़ा है । साक्षी जो है, वह पानी की धारा है, जो मैं की परतों में छिपा हुआ है । थोड़ा मैं भाव को हटा कर देखें तो साक्षी झांकने लगेगा ।

याद रखें ! मैं कभी परमात्मा से नहीं मिल सकता । मैं ही परमात्मा से मिलन में बाधा है । साक्षी के सामने मैं भी खो जावेगा । जब मैं नहीं रहेगा तभी उससे मिलन होगा । यही हमें कठिनाई हो रही है कि मैं कैसे मिटे ? लेकिन यह मैं को मैंने ही बनाया है, मिथ्या नाम, रूप शरीर सम्बन्धों से अहंता-ममता कर । सिर्फ ख्याल है कि मैं हूँ । जैसे स्वप्न में हर अवस्था का ख्याल मात्र ही है कि यह मैं हूँ किन्तु जाग्रत में आने पर यह निश्चय होता है

कि वह कुछ भी नहीं था, जैसा स्वप्न में जाना, देखा था । स्वप्न का मैं जाग्रत में तथा जाग्रत का मैं स्वप्न में मिट जाता है तथा जाग्रत एवं स्वप्न का मैं सुषुप्ति में पूर्ण अभाव रूप हो जाता है । तब जो इस अभाव का प्रकाशक रह जाता है, वही साक्षी है, वही तुम हो । जहाँ तक यह बनावटी सापेक्षिक मैं है, वह मैं नहीं वह साक्षी नहीं । मैं समस्त स्मृतियों का जोड़ है । जैसे मोटर, साइकिल, रथ, कुर्सी, मकान मात्र सामानों का जोड़ है । यदि यह सब सामान पूर्जे खोल दिए जावें तब वहाँ कोई भी उपाधिवान् मोटर, रथ, मकानादि की सत्ता भी नहीं रहेगी । जब तक यह जोड़ सत्य मालूम पड़ता रहेगा, तब तक इस जोड़ के पीछे जो खड़ा है, वह लोहा, लकड़ी, स्वर्ण, मिट्टी का पता नहीं चलेगा । इसी प्रकार स्मृतियों के पीछे, धन, पुत्र, पति, पत्नी, पदों के पीछे जो निरुपाधिक साक्षी–आत्म सत्ता खड़ी है उसका होश नहीं आ सकेगा । उसका होश लाने के लिए बेहोशी से पकड़े समस्त अहंकार, उपाधियों की परत को कुरेदकर, छीलकर, काटकर निकालना होगा । विचार अग्नि में जलाकर भस्मीभूत करना होगा । इतना पीछे हटना होगा,जहाँ मैं यह, वह, कहने को भी न बच रहेगा, तब जो रहेगा वही साक्षी रहेगा ।

परमात्मा हमसे दूर नहीं, अन्य नहीं किन्तु हमने जो मिथ्या पदार्थों के साथ मैं को जोड़ रखा है, वह उसके नीचे दबा हुआ है । जैसे बीज पत्थर के नीचे दबा पड़ा रहेगा तब तक अपनी विराटता का अनुभव नहीं कर सकेगा । पक्षी अंडे में जब तक दबा रहेगा वह तब तक खुले आकाश का अनुभव नहीं कर सकेगा । बीज मरता है, तब पौधा उत्पन्न होता है । परमात्मा मैं के नीचे दबा पड़ा है । मैं का पत्थर उसे दबाये हुए है । जब अहंकार नहीं रहेगा, तब जो बचेगा वही साक्षी होगा, वही परमात्मा होगा, वही आत्मा होगा । देहाभिमान के रहते आप कभी साक्षी नहीं बन सकेंगे । मैं की मृत्यु में साक्षी का जन्म है । साक्षी को कभी पता नहीं चलेगा कि मैं साक्षी हूँ एवं जब तक यह पता चल रहा है, यह कहा जा रहा है कि मैं साक्षी हूँ, तब तक साक्षी प्रकट नहीं हुआ है । नकली मैं ही जो कल तक देह का अहंकार कर रहा था वही आज साक्षी का अहंकार कर रहा है । मैं तो साक्षी हो ही नहीं सकता ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमत्ययम् ।।

– ७/२५ गीता

भक्त लोग मेरे दर्शन करने के लिये नाना तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियों की ओर दौड़ते रहते हैं । वे लोग मूर्तिकार के मन कल्पित मूर्ति के सम्मुख नतमस्तक हो पत्र, पुष्प, फल, जल, मिष्टान्न आदि नैवेद्य रखते हैं । किन्तु विवेकशून्य अज्ञानी लोग मेरे अजन्मा, अविनाशी, अरूपी आत्म स्वरूप को व्यक्ति रूप मानकर राम नवमी, कृष्ण जन्माष्टमी, शिवरात्री आदि तिथियों पर जन्मोत्सव पालन करते हैं ।

हे आत्मन् ! अज्ञानी लोग नाम, रूपक माया उपाधि के पीछे स्थित मुझ सच्चिदानन्द परमात्मा को अपने इन चर्म चक्षुओं द्वारा कभी नहीं देख सकेंगे । मेरे वास्तविक स्वरूप को तो कोई भाग्यशाली भक्त ही सद्गुरु की कृपा से तत्त्वमसि महावाक्य के उपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान चक्षु से अपने देह मन्दिर के भीतर ही मन बुद्धि के साक्षी रूप में अर्थात् सोऽहं रूप में जान पाता है । जैसे उपरोक्त बुर्खावाली महिला सभी को स्पष्टरूप से देखती रहती है उस बुर्खे के अन्दर छिपे उस महिला के वास्तविक रूप को कोई भी मनुष्य नहीं देख पाता है ।

यह मैं हमारा वास्तविक मैं नहीं है । इस 'मैं' के पीछे वास्तविक 'मैं' है । लेकिन जब तक हमारा नकली 'मैं' नहीं मिटेगा, पीछे खड़ा वास्तविक 'मैं' प्रकट नहीं हो सकेगा उस ओर ध्यान नहीं जा सकेगा ।

इसीलिए ध्यान, समाधि, मिथ्या दृश्य में, से दृष्टि हटाकर सत्य 'मैं' की ओर ले जाने के लिए है । जो परिचित 'मैं' है, जैसे मैने माना, जाना, देखा, सुना, सोचा, विचारा वह 'मैं' नहीं हूँ । बल्कि वह 'मैं' हूँ जो देखने के बाद दिखाई पड़ने से रह गया, जानने के बाद जानने से रह गया । नेति-नेति की जो सीमा है, उस स्थान पर जो खड़ा है, वह मैं हूँ । जो मिटने योग्य है, वही मिट जाता है एवं जो बचने योग्य है, वही बच जाता है । जो बच रहा है, वह मिट नहीं सकता । वही मिटता है जो 'मैं' था ही नहीं । ध्यान समाधि अभय में ले जाती है जो मिटेगा नहीं ।

ध्यान रहे । अहंकारी 'मैं' कभी साक्षी नहीं हो सकता । और अहंकारी 'मैं' कभी परमात्मा से नहीं मिल सकता, इसलिए परमात्मा से मिलने की व्यर्थ चेष्टा, इच्छा, आशा मत करना । यह मत सोचना कि मैं यह नाम, रूप, जाति वाला व्यक्ति परमात्मा से मिल जाऊँगा । क्योंकि जब तक यह मैं आदमी, औरत है । तब तक परमात्मा से नहीं मिल सकेगा । यह नाम रूप देहाभिमानी तो मिट्टी से ही मिल सकेगा ।

परमात्मा को न हिन्दु, न मुस्लिम, न जैन, न बौद्ध, न ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न ब्रह्मचारी, न गृहस्थ, न संन्यासी, न गुरू, न शिष्य, कभी मिल सकेगें । क्योंकि परमात्मा न हिन्दु, न ब्राह्मण, न ब्रह्मचारी, न संन्यासी है । यह सब प्रंपच तो माया उपाधि से हैं, परमात्मा तो माया उपाधि के पीछे निराकार, अशरीरी सत्ता मात्र अगोचर चैतन्य मात्र है ।

हमें अपने भीतर उसे खोज लेना है, जो कभी मिटनेवाला नहीं है । लेकिन हम उसे तभी खोज सकेंगे, जो इसमें मिटने वाला है उसे पहचानते हुए, उसे छोड़ते हुए पीछे चलते चले । यदि हमारी मिटनेवाले, बदलने वाले के साथ तादात्म्य आयडेंटिटी है और समझ बैठे कि यह मैं नाम, रूप, जाति, भक्त, ध्यानी, ज्ञानी हूँ तो फिर हमें सत्य का पता ही नहीं चलेगा ।

मैं पति, मैं पत्नी, मैं पिता, मैं माता, मैं पुत्र, मैं पुत्री, मैं धनी, मैं निर्धन, मैं रोगी, मैं अधिकारी यह सभी भाव मेरे संग्रह किए हुए हैं । इसे मैं चिन्तन कर मिटा सकता हूँ कि यह मैं कुछ नहीं तो सब मिट जावेंगे । किन्तु सूरज, चांद, कुआं, मकान, मोटर, व्यक्ति सड़के, दिवार, सीढ़ी सब वे हमारे ध्यान से मिटेंगे नहीं । वे आँख खोलने पर ज्यों के त्यों दिखाई पड़ेंगे । क्योंकि वे हमारे द्वारा निर्मित किए हुए नहीं है, इसलिए हम उन्हें भावना द्वारा मिटा नहीं सकेंगे । किन्तु हमारे मन के संकल्प से जो मैं खड़ा किया है, उसे हमें मन से अस्वीकार 'नाऽहम्' कर मिटा सकते हैं । 'मैं' का विपरीत भाव कर मिटा सकता है । यही गुरु की दीक्षा, संन्यास, द्विज एवं ब्राह्मण बना देता है ।

काँटा पैर में गड़ गया हो तो दूसरे काँटे से निकाला जा सकता है । परन्तु काँटा झूठा ही लगा हो, तो झूठा ही काँटा उसे निकाल पाता है । भूत,

प्रेत, चुड़ैल, डाईन का लगना जैसा झूठा है, उसी प्रकार उसको निकाल भगाने के मंत्र, ताबीज भी झूठे ही होते हैं ।

यहाँ रोग ही झूठा है तो इलाज भी झूठा ही चल रहा है । झूठे बन्धन की, झूठा जीव ही निवृत्ति चाहता है । तब झूठे गुरु झूठे वेद, शास्त्र रूप औषधि द्वारा झूठे जीव का झूठा बन्धन काट देता है । धर्म की समस्त प्रक्रियाएँ झूठी प्रक्रिया है । क्योंकि अधर्म की झूठी बीमारी लगी है । समस्त मंत्र, साधना, योगादि झूठी प्रक्रिया है । झूठी प्रक्रिया इसलिए है कि जिस बन्धन को मिटाना चाहते हैं, वह बन्ध्या पुत्रवत् बन्धन है ही नहीं ।

न बन्धं न मुक्तिः

जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह भी झूठा है । उस 'मैं' को गिराने के लिए झूठे वेद, शास्त्र, मंत्रादि साधना को अपनाया जाता है । यदि यह समझ आ जावे कि जो बोल रहा, दीख रहा, माना जा रहा है, कर रहा है यह 'मैं' झूठा है, तब उस नकली मैं को मिटाने हेतु कोई उपाय करने की भी जरूरत नहीं रह जाती । लेकिन झूठे को झूठा समझने के लिए भी साधना, श्रवण, मननादि की जरूरत पड़ती है । इसीलिए तो मिथ्या मैं को जानने के बाद कहा जाता है कि वहाँ न बन्ध है, न मुक्ति, न शिष्य है, न गुरु । किसी की किंचित् भी सत्ता नहीं । जैसे निद्राकाल में जो स्वप्न संसार सत्य लगता है, जाग्रत काल में वह किंचित् भी नहीं । यदि साधक को यह पहले ही घोषणा कर दी जावे कि यह जगत्, बन्धन, 'कुछ नहीं' है तो वह सत्य 'मैं' तक पहुँच ही नहीं सकेगा एवं फिर जो मिथ्या मैं दिख रहा है उसे ही सत्य मान अहंकार करते हुए दुःख पाता रहेगा । अतः पहले विचार द्वारा मिथ्या मैं को तो नष्ट करना ही पड़ेगा । तभी सत्य मैं पर दृष्टि जा सकेगी । बादल बिना हटे सूर्य दर्शन सम्भव नहीं हो सकेगा ।

जब सारा सम्मोहन टूट जायेगा, तब आपको पता चल जावेगा कि मैं ब्रह्म ही हूँ । लेकिन आपने जो यह मिथ्या सम्मोहन पैदा कर रखा है कि मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैं इसका पिता, पति, माँ, पत्नी, बेटा, बेटी इत्यादि । मैं इस सम्प्रदाय, इस जाति पंथ का इस समाज, इस धर्म का हूँ । यह समस्त

उपाधियों को आपने अपने स्वरूप अज्ञान से अर्थात् वास्तविक 'मैं' के अज्ञान से अर्जित कर ली है ।

इस सम्मोहन को दूर करने के लिए 'नाऽहम्' शस्त्र का उपयोग करें कि मैं ना शरीर, ना मैं पिता, ना मैं माता, ना मैं पति, ना मैं पत्नी हूँ । जब ऐसी घड़ी आ जावे कि तब मैं कहने को कुछ भी न बचेगा । आप रिक्त हो जावे तब आपको पता चलेगा कि मैं ब्रह्म हूँ । यह आपको सोचना नहीं पड़ेगा, यह स्वरूप अपने आप प्रकट हो जावेगा । जब समस्त भ्रान्तियों की परत 'नाऽहं देहो' शस्त्र द्वारा हट जावेगी । रास्ता तो वही है घर से दूर जाने का एवं घर लौटने का केवल दिशा बदलना है । मैं ब्रह्म हूँ, यह होने के लिए प्रथम वह सबको छोड़ना होगा जो मैं नहीं हूँ ।

असतो मा सद्गमय !
तमसो मा ज्योतिर्गमय !
मृत्युर्मा अमृतं गमय !!!

अज्ञानता से पकड़े, परधर्मों के अभिमान को खोना पड़ेगा । क्योंकि परधर्म भय को प्रदान करते हैं, स्वधर्म में रहना ही मोक्ष है । '**स्वधर्मे निधनं श्रेयःपरधर्मों भयावहः**'गीता : ३/३५ इतना खोना पड़ेगा कि कुछ भी मेरा कहने को शेष न बचे । मैं ध्यान कर रहा हूँ, मैं योग कर रहा हूँ, मैं समाधि कर रहा हूँ, मैं साधना कर रहा हूँ इसमें भी 'मैं' मजबूत होता जाता है । कुछ भी करने का प्रयास हो रहा है, तो फिर वहाँ कर्ता मौजूद है, साक्षी उपस्थित नहीं है ।

जिस दिन मेरा सब कट जाता है, तब तत्क्षण वह मिल जाता है । पर मिले कैसे ? साधना की असफलता पर ही वह मिलता है । जब साधक साधन करते करते कुछ नहीं पाता है, तब निराश होकर बैठ जाता है । साधन करने की जब तक दौड़ मची है, तब तक शान्ति कहाँ ? रुक बैठने वाले के हृदय में ही शान्ति पैदा हो पाती है । जैसे गोतम बुद्ध के जीवन में घटना घटी थी । कर्म, भक्ति, योग, त्याग आदि साधन इसीलिए कराये जाते हैं कि वह सब कुछ करके देखले कि करने से कुछ नहीं होता, तब वह गुरु शरणागति को स्वीकार करता है एवं सद्गुरु उसे उस आत्मा का साक्षात्कार 'तत्त्वमसि'

उपदेश द्वारा सहज में करा देते हैं कि जो सब साधनों के पहले मध्य एवं अन्त में उपस्थित है वही सत्य है, वही तू है ।

जब तक दूसरा बाकी है करने, जानने एवं देखने को तब तक मन जीवित है । समाधि में जाना है, तो दूसरे को मिटाना होगा । द्वैत की मृत्यु के लिए मन को मिटाना होगा । द्वैत से अपनी वृत्ति को हटाना होगा । दूसरे के रहने से अपना स्वरूपानन्द प्रकट नहीं हो सकेगा । सब दर्शन मन के सपने हैं, चाहे जाग्रत के हो या स्वप्न के । ध्यान में आनेवाले दृश्य भी जगत् ही है। जब तक दर्शन हो रहा है, तब तक समझना मन मौजूद है और अभी आप द्वैत के चक्कर से बाहर नहीं हो पाए हैं । कुछ भी दिखाई पड़ता हो, दृश्य दर्शन से आपको मुक्त हो जाना है । तभी उसका पता लगेगा जो द्रष्टा है, जिसको दर्शन हो रहा है, और वह तुम स्वयं हो ।

राम, कृष्ण, महावीर, दुर्गा, गणेश, हनुमान को देखने से आपके धार्मिक होने का, अध्यात्म का कोई सम्बन्ध नहीं है । देखना है उसे जो सबको देख रहा है । दृश्य को नहीं देखना है बल्कि देखना है द्रष्टा को । महत्व दृश्य का नहीं, महत्व द्रष्टा का है । ध्यान साधना की सफलता इस बात से है कि दृश्य से चित्त हटकर द्रष्टा पर पहुँच जाय ।

गुरु पर भी न अटकना । यदि गुरु ही तुम्हारे मन में फँसे रहेंगे, उनकी ही हमेशा याद आती रहेगी, उनके ही लिए रोते रहोगे, उनके मिलन से ही अपना आनन्द एवं अपने को सौभाग्यवान् समझते रहे एवं वियोग में दुःखी हो रोते रहे तो तुम अपनी याद कब कर पाओगे ? अपने पर दृष्टि कब कर पाओगे ? अपने को कब आनन्द स्वरूप समझ सकोगे ? **जब तक तुम्हें अपने सुख के लिए किसी दूसरे की प्रतिक्षा करना पड़ रही है, दरवाजा खटखटाना पड़ता है तब तक तुम्हारा आनन्द पराया है, उधार है ।** जो दिखाई पड़ रहा है अपने से पृथक्, वह संसार ही है ।

गो गोचर जहँ लगी मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।।

किन्तु जो देख रहा है, वह सत्य है । दृश्य बदल रहा है, किन्तु द्रष्टा हर अवस्था में एक ही रहता है । जिसने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि,

मूर्च्छा, ध्यान को जाना, वह एक है । वह तुम हो । जो बदल रहा है, वह दृश्य तुम नहीं हो ।

'जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।। - १७ कैवल्य उप.

सत्य वह है, जो देख रहा है । सत्य वह नहीं जो दिखाई पड़ रहा है । द्रष्टा सत्य है और दर्शन दृश्य सब झूठा है । इसीलिए मैं नहीं कहता कि आप किन्हीं देवी-देवताओं की चिन्ता में मन को फँसावे या किसी काली माता की, दुर्गा माता की ध्यान जपादि करे । न मन में राम को लाओ, न कृष्ण को, न शंकर को, न हनुमान को, न महावीर को, न जीसस को । न गुरु के और न किसी और के भी मूर्ति मन में बनाओ । न हाथ जोड़ प्रार्थना करो, न नाम जप करो । इनसे कुछ भी न आज तक किसी का भला हुआ न आगे होगा । इनसे तुम्हारी शान्ति व्यापार, स्वास्थ, विद्या का कोई मतलब नहीं है ।

फिल्म चलती है परदे पर हम भूल ही जाते हैं कि जो फिल्म पर्दे पर चल रही है, वह कुछ भी नहीं है । वहाँ प्रकाश के अलावा कुछ नहीं है । ऐसा जिस दिन बोध हो जावेगा, उस दिन चित्र की दुनियाँ सपना हो जावेगी । इसी प्रकार जिस दिन हमें देखनेवाले द्रष्टा का पता लग जावेगा उस दिन दुनियाँ मिथ्या 'जगत् सब सपना' हो जावेगा । सपना यदि सच्चा हो गया तो आप झूठे हो जावेंगे । सच दो नहीं हो सकते । सत्य एक है । यदि आप सत हैं तो फिर वह जो दिखाई पड़ रहा है आपको वह असत् है । यदि जो दिखाई पड़ रहा है, आपकी मन कल्पित राम, कृष्णादि की प्रतिमा सत्य रूप है तो फिर आप झूठे हो गए । दो में से एक चीज सत्य हो सकेगी या तो द्रष्टा या दृश्य । जब दृश्य सत्य हो जाता है, तो द्रष्टा झूठा हो जाता है एवं जब द्रष्टा पर दृष्टि लौट आती है तो दृश्य झूठा हो जाता है । जब जगत् ही सपना है तो फिर जगत के सभी दृश्य झूठे हैं । काली, दुर्गा, गणेश, राम-कृष्ण, पिता-माता, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक सभी एक साथ मिथ्या नाटक के पात्र मात्र है ।

जो डूबा सो उबरा

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।
मैं बोरी डूबन डरी, रही किनारे बैठ ।।

प्राण भले अभी चले जावें किन्तु सत्य न छूट जावे ।

शीष कटाये जो मिले तो भी सस्ता जान ।

स्वयं को दिए बिना उसे पाने का कोई उपाय नहीं । इसीलिए तो लोग परमात्मा में होकर भी परमात्मा से वंचित् हैं । क्योंकि वे उसे पाने के लिए स्वयं को देने का, मूल्य चुकाने का साहस नहीं कर पाते हैं ।

लेकिन स्वयं में ऐसा मूल्यवान् है ही क्या जिसे तुम बचाने हेतु अमूल्य हीरे को गंवा रहे हो । तुम्हारा जो नहीं, तुम जो नहीं, उसे बचाने में इतनी होशियारी कर रहे हो एवं जो मूल्यवान् तुम हो उसे गौण कर रहे हो, उसे भुला रहे हो । लेकिन हम इस प्रकार अपने होने के महत्व को जानते ही नहीं है । इसीलिए नाचीज, मूल्यहीन शरीर में अहं बुद्धि कर मर रहे हैं । अगर इसे गंवाना पड़े तो भी क्या गंवाओगे ? कोई छीन भी ले तो क्या छीनेगा तुमसे । जो तुम्हारा नहीं है एवं तुमसे मृत्यु द्वारा छीना ही जा चुका है, उसे कब तक रोक सकोगे ?

जिन्होंने सत्य के लिए अपने को गंवाया है बस उन्होंने ही परमात्मा को प्राप्त किया है । स्वयं को भेंट चढ़ाए बिना कोई परमात्मा नहीं हो सकता । अर्थहीन है यह हमारे मिथ्या शरीर का अहंकार, इसमें सार्थक तत्त्व तो मात्र परमात्मा ही है जिसके कारण यह अर्थहीन शरीर भी अज्ञानी को सार्थक एवं

परमात्मा निरर्थक लग रहा है । जो अपने को बचाते रहे डुबाने से वे अपने को गंवाते रहे, खाली आए खाली गए । अन्धे पैदा हुए, अन्धे ही जीवित रहे और अन्धे ही मर चले गये ।

लोग मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, तीर्थ जाते हैं खाली एवं खाली ही लौट आते हैं । कोई उनसे आकर इतना भी नहीं पूछता कि जब तुम गए थे, तब कैसे थे एवं लौट आने पर कैसे हो ? रोग, भूख, गरीबी, के पहले एवं स्वास्थ्य, तृप्ति, अमीरी के पूर्व तथा उत्तर का भेद सभी को मालूम पड़ जाता है । किन्तु मन्दिर, मस्जिद में गए, मूर्ति के आगे सर झुका हाथ उठाए, दो चार वाक्य बोले, मस्जिद गए पाँच दस उठक बैठक कवायत की, कुछ वाक्य बोले एवं लौट आते हैं खाली के खाली । बरसों से कर रहे हैं, कभी कोई विचारों में क्रान्ति नहीं । तो मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा जानेवाले एवं न जानेवाले में तथा गीता, भागवत्, कुरान, ग्रन्थ साहेब, बाईबिल आदि पढ़नेवाले एवं न पढ़नेवालों में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई देता ।

जो लोग मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा, पूजा, पाठ, मंत्र, उपवास, ध्यान में ही तृप्त हो चुप बैठ गए हैं उन्हें परमात्मा का अनुभव नहीं हो सकता, वे मूर्दे हो चुके हैं । जिनके प्राण परमात्मा को पाने के लिए व्याकुल नहीं, वे जिन्दा भी मुर्दे ही हैं । उनकी आँखों में मूर्ति, पत्थर, चित्र, धनुष, मुरली, त्रिशूल के पत्थर पड़ गये हैं, उनकी आँखें फूट गई हैं । अब वे इन जड़ पथरीली आँखों से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकेंगे ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। गीता : ७/२५

जिन्होंने अपने अहं को गलाया है उन्होंने ही अपने को परमात्मा में मिलाया है । मृत्यु तो आनी ही है, देह तो नष्ट होना ही है । जीवन का भरोसा नहीं, किन्तु मृत्यु तो निश्चित ही है । तुम भयभीत होते रहोगे, मृत्यु से छिपते, भागते रहोगे, किन्तु जितने भी श्वाँस ले रहे हो मृत्यु समीप होती जा रही है । जीवन छोटा होता जा रहा है । मृत्यु को आज तक कोई रोक न सका । मृत्यु तो उसी क्षण बंधी आ गई जिस क्षण जन्म की शहनाई बजाई थी । जन्म-मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । एक के साथ ही दूसरा है । एक रस्सी या लकड़ी के दो छोर की तरह है जन्म-मृत्यु ।

यह तुम्हारा देह को ही सर्वस्व मानने का भाव तो छिन ही जानेवाला है । अच्छा इसी बात मैं है कि इस छिन जाने के पहले ही हम उस कभी नहीं मिटने, छिननेवाले आत्मा को देह का मूल्य देकर, देह का उपयोग करके, प्राप्त कर लें । देह छिन जावे, इसके पहले ही क्यों न हम परमात्मा के चरणों में चढ़ा दें ? यदि इस छिन जानेवाले नश्वर शरीर को परमात्मा के चरणों में चढ़ा दिया तो फिर कुछ ऐसी वस्तु पा लोगे जो कभी छिनने वाला नहीं है ।

जो मृत्यु से डरे हैं वे अन्धकार में अधोगति में पड़े रहेंगे । उनके लिए परमात्मा के द्वार नहीं खुल सकेंगे । मृत्यु जब निश्चित है, देह नष्ट होने ही वाला है तो फिर वह सात दिन में मरे, सात वर्ष में मरे या सात सौ साल में मरे क्या फर्क पड़ता है ।

जो घर फूंके आपना, चले हमारे साथ

कबीर कहता है सस्ते में काम नहीं चलेगा । मूल्यवान् वस्तु के लिए ऊँचा दाम देना पड़ेगा । जगत् में प्राण ही ज्यादा ऊँचा है । परमात्मा को पाने हेतु जीवन का मूल्य चुकाना होगा, जीवन हारना होगा, जीवन वार देना होगा । बिना ऊँची कुर्बानी के ऊँची वस्तु नहीं मिलेगी । देह क्या है राख का ढेर । राख के पिंण्ड को ढो रहे हो । इससे ज्यादा शरीर एवं उसका समस्त सौन्दर्य, शक्ति कुछ नहीं है, केवल राख की गठरी ।

तुम्हारे जीवन में उसी दिन महत्व पूर्ण घटना घटेगी, जिस दिन तुम इस जीवन को दे डालोगे । नहीं तो जीवन निरर्थक होता जा रहा है ।

तेल घटे बाती बुझे, सोओगे दिन राती ।

जीवन में परमात्मा से ज्यादा क्या बड़ी बात हो सकती है । जिसके साथ जीवन समर्पित हो सके उसके साथ असली जीवन शुरू होता है । जीवन को भी वही भेंट चढ़ा पाता है, जो यह जानता है कि जीवन तो नष्ट हो ही रहा है एवं जो बचेगा वही सदा रहनेवाला है । और जो नहीं है, उसे बचाने से भी कुछ बचनेवाला, हाथ आनेवाला नहीं है । राजा ययाति के सबसे छोटे बेटे ने यही जीवन का रहस्य समझ आयु बिना भोगे ही बाप की मृत्यु को बचाने हेतु यम को स्वयं ने दे दिया ।

तुम्हारे भीतर जो है वह पहले भी था, आज भी है, और आगे भी रहेगा । उसे कोई मिटा नहीं सकता, छीन नहीं सकता । जो बाहर से आया है, माता-पिता से आया है, समाज से मिला है । वह मरने के समय सब अपना-अपना हिस्सा छीन ही लेंगे और तुम खाली खड़े चिल्लाते देखते ही रह जाओगे । जो आकाश ने दिया वह आकाश ले लेगा, जो वायु ने दिया, वह प्राण वायु ले लेगी, जो तेज ने दिया वह ऊर्जा उष्णता (तेज) ले लेगा, जो जल का है वह जल ले लेगा एवं जो पृथ्वी का दिया हुआ था वह पृथ्वी अपने में समा लेगी । देखते देखते समस्त अहंकार का केन्द्र विलीन हो जाएगा । फिर तुम किस नाम, जाति, शरीर, आश्रम, सम्बन्ध का अहंकार कर सकोगे ? कि यह धर्म, जाति, शरीर मेरा है ? तुम्हारी चेतना बस वही भर रह जावेगी, उसे कोई नहीं छीन सकेगा, वही तुम्हारी सम्पदा है, वही तुम्हारा अस्तित्व है ।

जहाँ तुमने परमात्मा से कुछ पाने की आकांक्षा बना रखी है, वहाँ तक तुमने अपने को पूर्ण समर्पित नहीं किया । जब सब आकांक्षाओं को उनके चरणों में रख दोगे, तब फिर तुम अपने को बचाने के लिए भी नहीं बच सकोगे । फिर तुम पृथक् कहाँ बचे ? बूंद गिर गई सागर में, सागर ही हो गई ।

जल बिच कुंभ, कुंभ बिच जल है, भीतर बाहर पानी ।
फूटा घट जल जल ही समान, समझे कोई ज्ञानी ।।

यदि तुम पृथक् रहकर परमात्मा का संसारी पदार्थों की तरह आनन्द लेना चाहते हो, अनुभव करना चाहते हो या देखना चाहते हो तो तुम्हारा यह मिलनेवाला, आनेवाले सुख पुनः नष्ट हो जावेगा । आया है, वह चला जावेगा, तुम इसमें अभी एकरस नहीं हुए, डूबे नहीं, तुममें एवं उसमें अभी दूरी है । तुम्हें यह अपने से पृथक् दूर नजर आता-जाता दिखाई पड़ रहा है, दृश्य की तरह और तुम द्रष्टा हो । और जब द्रष्टा-दृश्य का ज्ञाता-ज्ञेय भेद टूट जाता है, उस निर्विकल्पता में ही वह जो है सदा से वह प्रकट हो जाता है ।

जब मैं तथा तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं ।

चढ़ाओ जो तुम्हारे पास है गुरु चरणों में । और तुम उसे पालोगे-जो तुम्हारे पास सदियों से था, जिसका तुम्हें पता नहीं था और जिसे तुम पाना चाहते थे, लेकिन नहीं पा सके थे ।

परमात्मा को पा लेना इतना घटिया मत बनाओ कि मंत्र दस मिनट पढ़ लिया, पाठ कर लिया, माला हाथ में पकड़ ली, राम-नाम की चादर ओढ़ ली, अब हो गया कुछ करने की जरूरत नहीं रही । गले में रुद्राक्ष माला डाल लिया, जटा, दाढ़ी, मूंछ बढ़ा ली, रंगा बैठे कपड़ा, लगा दिया तिलक, बाँध लिया कंठी, डोरा, ताबीज, फटा लिए कान, छिदा ली मूत्रेन्द्रिय । पंखे ब्लेड पर मंत्र लिख पंखे का स्विच खोल दिया, टेपरेकार्ड कैसिट, सीडी प्लेअर, चलादिये वे करते रहेंगे रामायण, गीता, हनुमान चालिसा, गायत्रीमंत्र, महामृत्युन्जय का पाठ आदि । अब २४ घंटे, तुम संसार नर्क में खड़े रहो मंत्र, जाप, पाठ जड़ मशीनो तथा पंखे द्वारा होगा और तुम्हारे पाप कट पुण्य मिलता जावेगा । तुम गरमी में धुनी लगा बैठे हो अग्नि के बीच में, सर्दी में खड़े या पड़े हो दिगम्बर, वर्षा सर पर झेल रहे हो । एक टाइम भोजन या फलाहार कर रहे हो । ऐसे कहीं परमात्मा रास्ते में पत्थर की तरह पड़ा है जो मिल जावेगा, इन शास्त्र विरुद्ध मन माने मुर्खता के हठयोग से ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः । १५/११ गीता

आत्मानन्द वहीं है, जहाँ आत्मानन्द का पता करने वाला, भोक्ता बननेवाला भी नहीं रहता, जो अद्वैत है, एक दो से भिन्न है । जहाँ तुम्हें यह होश रह जावे कि मैंने चढ़ा दिया, वहाँ तुमने कुछ भी नहीं चढ़ाया क्योंकि चढ़ाने वाला अभी शेष रह गया है । उसे यह होश है कि मैंने सबको ठोकर मार दी है । वह कुछ भी नहीं छोड़ सका है, क्योंकि छोड़नेवाला अभी सुरक्षित चला आ रहा है । पूरा मिटा नहीं है । यहाँ पूरा मिटना ही अमृत्व को पाना है । परमात्मा पर सम्पूर्ण न्योछावर कर देने पर जो मिटनेवाला है वही चढ़ता है एवं जो बचनेवाला है, वही होकर तुम बचते हो ।

परमात्मा तुम्हारे मन, बुद्धि की पकड़ में आनेवाला नहीं है । वह कोई तुम्हारे हाथ की रेखा की तरह मुट्ठी में बंद होनेवाला भी नहीं है । जब परमात्मा प्रकट होता है तब सब मान्यता, धारणा, सम्प्रदाय, ग्रन्थ, तर्क, उखड़ जाते हैं । तुम्हारे द्वारा बनाए गए भावना एवं धारणाओं के भवन गिर जाते हैं ।असत शास्त्र ऐसे डूबने लगते हैं जैसे कागज की नाव । साकार मूर्ति मन से ऐसे पिघलने लगती है जैसे गर्मी पाकर बर्फ पिघल पानी हो रहा है ।

परमात्मा व्यक्ति नहीं शक्ति

भोले लोगों का शोषण करना है तो परमात्मा को व्यक्ति आकार देना जरूरी है । परमात्मा को व्यक्ति की तरह माने बिना उसके मन्दिर, मूर्ति, पूजा, स्तुति, नैवेद्य, यज्ञ, हवन, उत्सव, आरती, गिरजे, मस्जिद, गुरुद्वारा फिर कैसे हो सकेंगे ? फिर यह बीच के दलाल, धर्म के ठेकेदार, पुरोहित, मौलवी, काजी, पादरी बिदा हो जावेंगे । इनका स्थान नहीं रह सकेगा । इनका अन्धा धन्धा तो परमात्मा को व्यक्ति रूप मानने पर ही चल सकेगा, तभी यह मन मानी कर सकेंगे । भोलें लोगों को ईश्वर के नाम भयभीत करा मन मानी ठगी करा सकेंगे । ईश्वर व्यक्ति है तो इन सब माध्यमों की जरूरत है । यदि परमात्मा व्यक्ति नहीं तो इनमें से किसी एक की भी जरूरत नहीं । केवल एक सद्गुरु की जरूरत है जो तुम्हें यह विश्वास दिला सकें, अनुभव करा सके कि जिसे तुम शान्ति, आनन्द, परमात्मा के नाम से खोज रहे हो, वह तुम ही हो, **तत्त्वमसि** ।

धर्म के नाम पर, ग्राम, नगर, शहर से लेकर तीर्थ, मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारों तक जितना शोषण हो रहा है एवं हुआ है, उतना कभी नहीं, कहीं नहीं, किसी से नहीं हुआ । वे धर्म के ठेकेदार वहाँ की बात करते हैं, जहाँ वे स्वयं पहुँचे नहीं हैं । उसको मिलाने, दिखाने, दिलाने की बात वे दृढ़ता से करते हैं जो उन्हें स्वयं मिला नहीं, जिसे उन्होंने देखा या पाया नहीं है । ये सम्प्रदायी धर्म के ठेकेदार भोले जीवों का शोषण करने में बड़े कुशल कारीगर होते हैं । नरक, स्वर्ग, वैकुण्ठ, पुण्य-पाप, मुक्ति की बात के झूठे

ग्रन्थ पन्थ बना शोषण करते रहते हैं । दूसरों को मुक्ति दिलाने की आशा दिलाने वाले स्वयं नरक में जा सड़ते रहते हैं ।

जिन्होंने परमात्मा को जाना है, उन्होंने उसे व्यक्ति नहीं शक्ति, अनुभाव्य नहीं अनुभव कहा है । सत–चित–आनन्द–अद्वैत कहा है । परमात्मा को क्या पाना ? परमात्मा तो पाया हुआ ही है । वह तो मिला हुआ ही है । वह तो तुम्हारे ही रूप में तुम्हारे देह के अन्दर विराजमान् है । वही तो सभी क्रियाओं के पीछे साक्षी की तराजू बन मध्यस्थ हो बैठा है । उससे तुम कभी छूटे नहीं दूर हुए नहीं, उससे कभी कोई जीव बिछुड़ा नहीं । **जिससे कभी बिछुड़ न सको जो तुमसे कभी दूर न हो सके, जो तुमसे छिन न सके उसी का नाम तो परमात्मा है । चाह कर भी जिसे कोई खो न सके, भाग कर भी जिससे कोई एक इंच दूर हो न सके उसी का नाम परमात्मा है ।** मछली को तो मछुआ सागर से बाहर ले जा सकता है, जाल में फंसाकर । लेकिन व्यक्ति परमात्मा के सागर से कभी बाहर नहीं हो सकता । इस शरीर में श्वाँस, धड़कन, सब उसीकी है, उसके बिना आँख, कान, त्वचा, घ्राण, जिह्वा, वाणी, प्राण आदि कुछ नहीं है । लहर एवं बर्फ का जन्म, जीवन तथा लय एकमात्र जल ही है, अन्यथा नहीं । इसी प्रकार जीव का जीवन एवं विलय ब्रह्म सागर ही है ।

जिन्होंने परमात्मा को पाया है, जाना है उनसे यदि तुम पूछोगे कि परमात्मा कब, कहाँ, कैसे मिलेगा ? तो वे अनुभवी संत कहेंगे तुम पहले यह बताओ कि तुमने परमात्मा को कब, कहाँ एवं कैसे छोड़ा, खोया है ? तो फिर मैं पाने का रास्ता बता दूँ ।

कहाँ के पागलपन में पड़े हुए हो । परमात्मा पाया हुआ ही है । इतना सद्गुरु की कृपा से पहचानना भर है । परमात्मा यानी आत्म परिचय । परमात्मा याने आत्म साक्षात्कार । परमात्मा याने साक्षी भाव । जैसे कोई दर्पण में अपना चेहरा देखे तो क्या वह उसे कहेगा कि मैंने अपने को आज पा लिया । दर्पण न था तब भी मैं वैसा ही था । दर्पण नहीं रहेगा तब भी मैं वैसा ही रहूँगा । दर्पण के हजार टुकड़े हो जावे तब भी मैं वैसा ही रहूँगा । चेहरा तो अखंड ही रहेगा । संत बुल्लेशाह अपने गुरु इनायत शाहजी से ब्रह्म को पाने का

उपाय पूछते हैं, तब गुरुदेव यही कहते हैं **''ओ बुल्ले रब्ब दा की पैना ? इदरों का चुकके उदरो लावना ।''**' ।

ब्रह्म को कहीं से उखाड़ कहीं जमाना, गाड़ना, लाना नहीं है। बस दर्पण द्वारा चेहरा देखना है यहीं उखाड़ यही लगाना है । यहाँ-वहाँ का झगड़ा परमात्मा के लिये नहीं । पता नहीं यहाँ-वहाँ में कितनी दूरी हो एवं जहाँ दूरी होगी वहाँ देरी होगी एवं जहाँ दूरी एवं देरी है, वह संसार है, वह अनित्य है, वह परिच्छिन्न नाशवान् है, वह परमात्मा नहीं हो सकता । इसीलिए परमात्मा के अनुभवी महापुरुषों ने कहा यहाँ और अभी और तुम्हीं हो वह मंजिल, अब कहाँ जाना एवं किसे पाना है ?

सद्गुरु परमात्मा को वस्तु, व्यक्ति या स्थान के रूप में बाहर नहीं बताते हैं । उसे दूर सोचने का भाव ही गलत है, पाने का साधन ही गलत है । मार्ग चुनाव करना ही गलत है । मार्ग तो दूरस्थ वस्तु के समीप पहुँचाने के लिए है । परमात्मा वह है जो तुम, अभी, यहाँ ही हो । फिर मार्ग कैसा साधन कैसा ? **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''** – श्वेताश्वतर उप.६/१५ । न तो उसे मंदिर में ढूंढों एवं पूजो, न मस्जिद में पुकारो, न चर्च, न गुरुद्वारा में, न तीर्थों में उसे खोजो । परमात्मा के नाम पर सभी खोज, प्रार्थना, क्रिया व्यर्थ है । अपने भीतर चलो, बाहर से मुख मोड़ो । अंतर चक्षु खोलो । परमात्मा को पाना व्यक्ति के लिए ऐसा ही है जैसे पुष्पमाला के पुष्पों को सूत्र का पाना, मछली को जल का पाना, बर्फ को जल का पाना, अलंकारों को स्वर्ण का पाना होता है । इन्हें क्या करना है ? बस केवल अपनें अहंकार को गलाना है एवं अपने स्वरूप में वही उसी क्षण प्रकट हो जाना है । बस अहंकार की चट्टान को चूर-चूर करना होगा, अपने अहंकार को गलाना होगा, **'जो डूबा सो ऊबरा'** ।

अहंकार का अस्वीकार में जीवन है, स्वीकार तो उसे मृत्यु दिलाता है ।

परमात्मा न हिन्दु, न मुस्लिम, न ब्रह्मचारी, न संन्यासी, न जैन, न बौद्ध, न आर्य बनने से मिलेगा । न ब्राह्मण बनकर मिल सकेगा । परमात्मा

होने के लिए यह कोई भी एक धार्मिकता का पत्थर अपने चैतन्य बीज पर नहीं चाहिए । बस केवल एक आदमी होना ही पर्याप्त है । फिर तो सद्गुरु जीव से शिवत्व का साक्षात्कार करा देगा । धर्म के नाम पर लोग लाशें रखे हुए बैठे हैं । लाशें सड़ रही हैं । मानवता, देश प्रांत में बदबु फैला रही है । अस्तु वहाँ से उठो एवं आत्म स्वरूप में जागो ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । कठ.उप-१/३/१४

अपाणि पादो

जिस परमात्मा के दर्शन के लिए साधक, जिज्ञासु, भक्त अभिलाषी बने, पूजा, मंत्र, माला, पाठ, मन्दिर, तीर्थ, यज्ञ के मार्ग को अपनाए हुए है, वह सब उन्हें निराशा ही दिलाने के मार्ग है । क्योंकि परमात्मा को खोजने वालों के लिए वेद भगवान् की आज्ञा है –

''नान्यः पन्था''

जिसका कोई शरीर नहीं है, उसे तुम कैसे देखोगे ? जिसका मुख नहीं, उसे कैसे नैवेद्य रखोगे ? जिसके कान नहीं है, उसके समक्ष कैसे प्रार्थना करोगे ? जिसके पैर नहीं, उसकी प्रतीक्षा कब तक करते रहोगे ? जिसके हाथ नहीं, उससे कब तक आशिर्वाद की आशा करोगे ? जो सर्वत्र है, उसके लिए आसन या मन्दिर कैसा ? जो निराकार, निरअवयव है, उसे अलंकार, वस्त्र, धूप, दीप कैसे अर्पित करोगे ? परमात्मा किसी एक देश, स्थान एवं रूप में रहनेवाला व्यक्ति नहीं है । उसको पाने के लिए अपने को जानने के अलावा कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

– श्वेताश्वतर.उप.–३/८

जिसका अपना शरीर नहीं, परन्तु सभी शरीरों में वह शक्ति रूप से छिपा हुआ है, जिसकी आँख नहीं, लेकिन सभी आँखों के पीछे वही सबको सब समय देख रहा है । उसके कान नहीं होने पर भी सभी कानों से वह सुनता है । उसका मुख न होने पर भी सभी मुखों से ग्रहण करता है । पैर न

होने पर भी सभी पैरों से चलने की शक्ति देता है एवं हाथ न होने पर भी वह सभी क्रिया कराता है ।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।

श्वेता. उप-३/२९

जगन्नाथ, परमात्मा, राम निराकार है । इसीलिए मूर्ति माध्यम से उन्हें अमूर्त रूप दिया है । देखो, राम, कृष्ण अवतार की तरह उनकी मनुष्य जैसी सुंदर आकर्षक आकृति मूर्ति, चित्र, प्रतिमा भी नहीं क्योंकि वे अजन्मा, नित्य, निराकार चैतन्यात्म सत्ता है । अतः हमारे पास जो इन्द्रियाँ है वे परमात्मा को प्राप्त करने या देखने के लिए नहीं बल्कि जगत् को प्राप्त करने के लिए, जगत् से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हैं । इन्द्रियाँ बाहर से सम्बन्ध जोड़ती हैं । परमात्मा वह है, जो सबके पार, सबके पीछे, सबका प्रकाशक, सबके भीतर विराजमान् है इन्द्रिय, मन, बुद्धि का प्रकाशक बन कर । हमारी इन्द्रियाँ व मन, बुद्धि उसे नहीं जान सकती ।

मति न लखे, जो मति को लखे

जिसका कोई शरीर नहीं फिर भी जो है । जिसका कोई रूप नहीं फिर भी जो है । जिसका कोई स्थान नहीं फिर भी जो है । जिसका कोई काल नहीं, फिर भी जो है । अर्थात् सब देश, काल तथा वस्तु रूपों में वह विद्यमान होने पर भी, वह व्यक्तिगत रूप से हमारी तरह अवतारों की तरह, तीर्थंकरों, पैगम्बरों की तरह नाम-रूप धारी शरीर नहीं है । फिर भी वह है । सब नाम, रूप, आकार, मिटने पर भी सत्ता रूप वह एकरस बना रहता है । उसके सम्बन्ध में केवल इशारा ही किया जा सकता है कि वह तुम हो 'तत्त्वमसि' । क्योंकि जो सर्वरूप है, वह तुम भी हो क्योंकि तुम उससे पृथक नहीं हो। जो नित्य है वह तुम्हारी श्वाँस भी है । जो सर्व देश में है, वह यहाँ भी है । इस तरह उसके लिए केवल इशारा ही किया जा सकता है कि उसे पाने के लिए अपने को जानने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

जो हमें दिखाई पड़ता है वह रूप, आकार, शरीर मिटनेवाला है । जो समस्त आकारों में छुपा बैठा है, जो आकार को थामे हुए है, वह अस्ति,

भाति, प्रिय ब्रह्म है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता । कुछ ऐसी चीजें हैं जो होती नहीं, फिर भी दिखती हैं । इन्द्रधनुष, मरुस्थल का जल, क्षितिज पर पृथ्वी-आकाश मिलन, दूर से देखने पर ट्रेन लाइन का मिलन, जल में पड़ी सीधी लकड़ी का टेढ़ापन, जल में अपना ही उल्टा खड़ा रूप दीखना इत्यादि । तथा कुछ ऐसी भी चीज है जो होती है किन्तु दिखाई नहीं देती । जैसे वायु, बिजली, सुगन्ध, चुम्बकीय शक्ति, सुख-दुःख, स्वाद, दर्द, पीड़ा, किन्तु अनुभव किया जा सकता है । इन दोनों से एक विलक्षण वस्तु है, आत्मा जो न आँखों से दीखती है, न मन द्वारा जानी जाती है, जिसे देखा या अनुभव भी नहीं किया जा सकता है एवं जिसे इन्कार भी नहीं किया जा सकता है ।

मैं आपको, आप मुझे देखते हैं, पर जो मुझे आप दिखाई पड़ते हैं, वह तुम नहीं हो । जिसे आप श्रद्धा से पुष्पमाला समर्पित कर प्रणाम करते हैं या अश्रद्धा से अपमानित कर गाली देते हैं, निन्दा करते हैं, मार डालने की सोचते हैं, वह मैं नहीं हूँ । निश्चित ही जो आप हैं या मैं हूँ वह आँख की पकड़ में नहीं आ पाते हैं । आँख की पकड़ के बाहर ही छूट जाते हैं । आपके शरीर के आँख, कान, मुख, चमड़ी, नाक, हाथ, पैर, सब मुझे दिखते हैं किन्तु आप मुझे दिखाई नहीं पड़ते हैं । जैसा आप अपने को भीतर से जानते हैं वैसा मैं आपको बाहर से नहीं जान पाता हूँ । आपको बाहर से जानने का कोई उपाय भी नहीं है । हम अपने को अन्दर से जैसा जानते हैं ऐसा हम दूसरों के शरीर को देख उसके भीतर कुछ है या नहीं दिखाई तो नहीं पड़ता, है । फिर भी हम उसे मान लेते हैं । जिसे कल तक, कुछ घंटो, मिनटो पहले जाना माना देखा था, जब वह मुर्दा हो पड़ जाता है, सब कुछ वही दिख रहा है जो एक क्षण पहले तक था, फिर भी अब वह सब कुछ दिखकर भी कुछ नहीं बचा, कुछ नहीं रहा, बस राख के ढेर हड्डी के जोड़ मात्र हैं । जो इन्द्रियों की पकड़ में आता था, वह अभी भी मौजूद है लेकिन इन्द्रियों की पकड़ में जो नहीं आता था, उससे इस मृत शरीर का सम्बन्ध टूट गया इसलिए अब यह सब कुछ वैसा ही रहने पर भी कुछ भी नहीं रह गया ।

जिसके हाथ, पैर, मुख, नाक, कान, आँख नहीं उसका चिन्तन भी नहीं हो सकता । चिन्तन उस वस्तु का ही हो सकता है, जो हमारे इन्द्रियों की

पकड़ में आ जाती है । इन्द्रियाँ जहाँ तक देख पाती हैं वहाँ तक ही चिन्तन की सीमा है । अपनी आँख ने जो देखा है मन उसी का चिन्तन कर सकता है, जिसे आँख ने कभी देखा नहीं, उसका मन चिन्तन नहीं कर सकेगा । हमारे पास पाँच ही इन्द्रियाँ हैं, हम उनके पाँचों विषयों का ही चिन्तन, स्मरण, ध्यान विचार कर सकते हैं । यदि किसी अन्य पृथ्वी पर ६,१० या २० इन्द्रियों का मानव होगा तो हम उसके अनुभव में आनेवाले विषयों का चिन्तन नहीं कर सकेंगे । हम तो केवल पाँच ही विषयों का चिन्तन कर सकेंगे । जो एक, दो, तीन, चार इन्द्रियों के प्राणी है, वह अपने इन्द्रिय का अनुगामी है, इन्द्रिय के अनुरूप ही विषयों का चिन्तन कर सकेंगे । अन्धा रूप का, बहरा शब्द का, चिन्तन कभी नहीं कर सकेगा, जिसके पास जितनी इन्द्रियाँ है, वह अपनी दुनियाँ को भी उतना ही एक, दो, चार, पाँच विषय वाला मानता रहेगा । अमीबा, बैक्टीरिया के पास केवल शरीर है, अन्य इन्द्रिय नहीं, तो वे दुनियाँ को उतना ही मानेंगे जो उनसे टकरा जाता है, अन्य छूट जाता है, क्योंकि शरीर के अलावा कोई इन्द्रिय नहीं है ।

मन द्वारा परमात्मा का चिन्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियों द्वारा जितना बाहर विषय ग्रहण होता है, उतने का ही मन से चिन्तन हो सकता है । और इन्द्रियाँ कभी भी परमात्मा को ग्रहण नहीं कर पाएंगी, तब मन उसका चिन्तन कैसे करेगा ? परमात्मा न शब्द है, न स्पर्श, न रूप, न रस, न गन्ध है । इसलिए आँख उसे नहीं देख पाती, कान उसे नहीं सुन पाते, जिह्वा उसका स्वाद नहीं ले पाती, हाथ उसे कभी नहीं छू पाते, पैर वहाँ तक कभी चलकर पहुँच नहीं पाते हैं, क्योंकि वह परमात्मा अशरीरी है, अरूपी है । निर्गुण, निराकार, निरावयव है । वह सभी इन्द्रियों के पीछे खड़ा है तब वह इन्द्रियों को कैसे मिल सकेगा । वह जो इन्द्रियों के पार है, मन के पीछे है, उसका चिन्तन मन से नहीं हो सकता । मनन, चिन्तन, ध्यान उसका असम्भव है । जाग्रत की देखी, सुनी, अनुभव की वस्तु का ही स्वप्न या ध्यान हो सकता है, परमात्मा का नहीं । परमात्मा स्व है वह अन्य या पर दर्शनीय, ग्रहणीय वस्तु या व्यक्ति नहीं है। इसीलिए उसे अन्य की तरह जानने का कोई साधन नहीं है ।

बिनु पद चलहि सुनहि बिनु काना, कर बिन कर्म करहि विधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी बिन वाणी वक्ता बड़ जोगी ।।
तन बिन परस नयन बिनु देखे ग्रहहि घ्राण बिन बास असेषा ।
एही सब भाति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाय नहीं वरणी ।।

बालकाण्ड. ११७/३०४

जिसके हाथ, पैर, आँख, कान, मुख नहीं, उसका चिन्तन किया नहीं जा सकता । जो समस्त अनुभवों का भी प्रकाशक, अनुभोक्ता, शक्ति स्वरूप सभी देहों में समान रूप से विद्यमान् है, वह ब्रह्म मैं ही हूँ । वह अतीन्द्रिय, अचिन्तनीय, पर ब्रह्म मैं ही हूँ । इसे भीतर से मैं रूप में ही जाना जा सकता है । यह 'रूप' बाहर कभी भी किसी के द्वारा नहीं जाना जा सकेगा । जो यह कहता है कि मैंने उसे देखा है, उसे महामूर्ख ही जानो । लेकिन क्या आपने कभी अपने होने में सन्देह किया कि मैं हूँ या नहीं । प्रकाश व रूप का पता लगता है आँख से, ध्वनि व शब्द का पता लगता है कान से, स्वाद व रस का पता लगता है जिह्वा से, किन्तु आपको अपना पता किस इन्द्रिय से चलता है ? आप हैं, ऐसा अनुभव आपको किस इन्द्रिय से होता है ? फिर भी ऐसा अनुभव स्वतः सभी को होता है कि मैं हूँ । जो इन्कार करता है कि मैं अपने को नहीं जानता । उसके इन्कार में भी उसकी उपस्थिति अनिवार्य रूप में हैं । आप अपने को जानते हैं, बिना इन्द्रिय के, बिना किसी गवाह के, बिना किसी साक्षी के । यह आपका अन्तर्बोध है । इन्द्रियों से उसकी उपस्थिति नहीं जानी जाती । आप अपने जाति, पिता, माता, सम्पत्ति के लिए सबकी गवाह दिला सकते हैं, किन्तु इस शरीर में मैं के होने की, अपने होने की गवाही किसी अन्य से नहीं दिला सकते । क्योंकि आप शरीर नहीं है, स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश आत्मा है । आपको किसी अन्य साधन द्वारा नहीं जाना जा सकेगा ।

यदि मेरे शरीर के समस्त इन्द्रियाँ बेहोश कर काट दिये जावे अथवा बेहोश कर दिये जावे तो उनके विषयों का अनुभव मुझे नहीं हो सकेगा, किन्तु उनके न होने से मेरी सत्ता का अभाव नहीं हो सकेगा । मेरी जिह्वा काट दी जावे, आँख फोड़ दी जावे, कान फोड़ दिए जावे तो मेरी चैतन्यता, मेरे होने

के बोध में, मेरी सत्ता की विद्यमानता में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा । अन्तर केवल बाह्य विषय जगत् के ग्रहण न होने का ही रहेगा । मेरा विषय जगत् छोटा हो जावेगा, मैं छोटा नहीं हो जाऊँगा । मेरे होने का बोध न मुझे कान से मिला है, न आँख से, न जीभ से, न त्वचा से । तब इन इन्द्रियों के न होने पर भी मेरे बोध में क्या फर्क पड़ेगा ? कुछ नहीं, मैं ज्यों का त्यों एक रस ही रहूँगा । इन्द्रियों से जिसका बोध नहीं हुआ, फिर भी जिसका है रूप सत्तारूप अनुभव हो रहा है । यही आत्मबोध है । प्रकाश है तो आपको देख सकूँगा, किन्तु अन्धकार में भी बिना आँख के एक को तो जानता रहूँगा कि मैं हूँ एवं अब 'यह' रूप कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है ।

सब रूपों से परे मैं सबको जाननेवाला हूँ, लेकिन मुझ चित् स्वरूप को जाननेवाला अन्य कोई चैतन्यात्मा नहीं है । रूप को तो मैं जानता ही हूँ, रूप के भी परे जो है, उसको भी मैं रूप से जानता हूँ । (शिवोऽहम्, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि ।) लेकिन मुझे जाननेवाला कोई नहीं है । जो कहता है मैंने उस परमात्मा को जान लिया है, वह परमात्मा को बिल्कुल नहीं जानता है, क्योंकि परमात्मा हमारी आत्मा है । जैसे हम अपनी आत्मा को दृश्य रूप में नहीं जान सकते । वैसी ही बात परमात्मा के लिए है । जिन दृश्य चीजों को जाना जा सकता है, वह ईश्वर नहीं है । जो भी जाना जा सकता है, वह संसार ही है, जो भी सोचा जा सकता है वह संसार ही है, जो भी अनुभव किया जा सकता है, वह संसार ही है, जहाँ तक पहुँचा जा सकता है, वह संसार ही है । जो जानने से पार छूट जाता है, वही परमात्मा है, वही आत्मा है और वही तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

मैं देखता हूँ आपको, वृक्षों को, पशु-पक्षी को, आकाश, सूर्य, चाँद-सितारों को, नदी, पर्वत, ग्रामों को लेकिन मैं स्वयं को उसी प्रकार नहीं देख सकता । जिन आँखों से समस्त दृश्य यह रूप देखा जाता है, उसी आँख को 'यह' रूप नहीं देख सकती । जिस कैमरे से सभी दृश्य उस फिल्म में छिप जाते हैं, उसी तरह कैमरे का चित्र उससे नहीं खींचा जा सकेगा । इसी तरह जो मैं सबको जाननेवाला हूँ, उसी तरह अपने को देखने का कोई उपाय नहीं है । स्वयं का अनुभव मैं रूप में ही होता है । किन्तु अन्य रूपों की तरह

विषयों की तरह यह रूप, दृश्य रूप में प्रतीति नहीं होती, दर्शन नहीं होता और हो भी नहीं सकता । क्योंकि दर्शन उसी का होता है जो हमसे दूरी पर हो, पराया हो, अलग हो । मैं खुद को ही कैसे दूर करके देखूँ ? दर्पण में जो सम्मुख दूर दिखाई पड़ता है, वह मैं नहीं हूँ, मेरे शरीर का प्रतिबिम्ब है । द्रष्टा अगर मैं अपना बनूँ तो मुझे दो रूपों में अपने को तोड़ना होगा । आधा हिस्सा जो दृश्य बने एवं आधा हिस्सा जो उस आधे दृश्य का द्रष्टा बने । मैं तो तब भी द्रष्टा ही रहूँगा एवं जो आधा हिस्सा दृश्य बन जावेगा, वह हिस्सा मैं नहीं हो सकूँगा । मैं कुछ भी करूँ द्रष्टा ही रहूँगा । जैसे यह शरीर में जो चेतना छिपी है, यह अनिवार्य रूप से द्रष्टा है, जाननेवाली है । यह दृश्य किसी प्रकार भी नहीं बन सकती । ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् में जो चेतना छिपी हुई है, वह भी अनिवार्य रूप से द्रष्टा है, दृश्य नहीं हो सकती । यह हम जो कहते हैं, परमात्मा का दर्शन, आत्मा का दर्शन यह हमारी भूल की भाषा है । इसका मतलब हम परमात्मा के भी द्रष्टा होना चाहते हैं । जब कि परमात्मा ही मात्र सबका द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षी है । हम परमात्मा के दर्शन की जिज्ञासा करते हैं तो इसका यह मतलब हुआ कि परमात्मा भी तुम्हारे सम्मुख इन्द्रिय विषय वस्तु रूप उपस्थित हो जावे । ऐसा कभी नहीं हो सकता । परमात्मा आत्यान्तिक अनिवार्य रूप से समस्त भीतर बाहर जगत् का द्रष्टा है ।

परमात्मा को जाना तो नहीं जा सकता है किन्तु उसमें खोया जा सकता है, मिटा जा सकता है । बूंद सागर में खो सकती है अपनी सत्ता को मिटा सकती है, किन्तु समुद्र को जान नहीं सकती । परमात्मा को पदार्थ की तरह नहीं जान सकते, उसे अपने होने की तरह अभिन्न रूप ही जान सकते हैं ।

परमात्मा को चिल्लाने, पुकारने, दौड़ने से नहीं पा सकोगे, न वह आ सकेगा । क्योंकि वह हमसे न दूर है, न अन्य है । वह तो हमारे रूप में है किन्तु हमें पता नहीं चल रहा है । परमात्मा के बिना यह जीव एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकेगा । यदि परमात्मा से तुम्हारी एक इंच भी दूरी है तो तुम परमात्मा को कभी नहीं जान सकोगे । परमात्मा में अपने को पूरा मिटाना होगा, अपनी सत्ता को भुलाना होगा, सोऽहम् चिन्तन द्वारा । ब्रह्म खोजा नहीं

जा सकता, ब्रह्म भाव में शिवोऽहम् भाव में जीया जा सकता है । बर्फ की चट्टान पानी पर बही जा रही है जल से मिलना है उसे । चिल्लाती, पुकारती, खोजती जा रही है । यह जल को कभी नहीं खोज सकेगी । इसे पिघलना होगा, जल के साक्षात्कार हेतु, बर्फ के लिए उसका पिघलना अनिवार्य है । जल को पुकारने से कुछ नहीं होगा । जल यही है, अभी है और वह (बर्फ) ही है, किन्तु बर्फ अपने को पिघालता नहीं है, इसीलिए देरी एवं दूरी है ।

इसी प्रकार जीव ब्रह्म को पुकारता, खोजता यहाँ-वहाँ भटक रहा है, किन्तु अपने अहंकारों को वह छोड़ता नहीं, देह भाव को गलाता नहीं, तब वह जन्म-जन्म भी पुकारता खोजता रहेगा, उसे कभी भी प्राप्त परमात्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा । यदि हम परमात्मा को पास लाना चाहते हैं तो हमारे चिल्लाने, पुकारने से काम नहीं चलेगा, हमें अपने को मिटाना होगा, देह भाव, जीव भाव, कर्ता भाव मिटाना होगा । साक्षी भाव जाग्रत करना होगा । देह भाव, जीव भाव पिघलते ही पाओगे कि परमात्मा में ही तुम हो, तुम ही परमात्मा हो, तुम में ही परमात्मा है । फिर पाओगे जिस ब्रह्म की श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास महिमा गाते हैं, वह अगोचर, अतीन्द्रिय, निराकार परमात्मा 'मैं' ही हूँ ।

सरिता चली सागर की ओर

यह एक प्राकृतिक नियम है कि जो वस्तु जहाँ से उत्पन्न होती है, वहीं पर वह पुनः लौट जाती है । बर्तन मिट्टी में, अलंकार स्वर्ण में, अग्नि तेज में, बीज पृथ्वी में, नदियाँ समुद्र में लीन होकर ही रहते हैं । जिनका जो उद्गम स्थान होता है, वह उसी ओर जायेगी । वह अपने मूल-भूत स्वरूप को पुनः प्राप्त करना चाहेगी । उसी की गोद में जाकर शान्त होती है । उससे पहले नहीं ।

इसी तरह यह जीव भी ब्रह्मांश होने से अपने मूल ब्रह्म स्वरूप को जब तक प्राप्त नहीं करेगा, अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को नहीं पहचान लेगा, तब तक यह कहीं भी शांत होने वाला नहीं है । जब किसी सद्गुरु की कृपा से इस जीव को यह ज्ञान हो जावेगा कि जिसे ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, मुक्त, आनन्द आदि नामों से कहा जाता है, वही तेरा वास्तविक स्वरूप है । तेरे अलावा यहाँ और कुछ नहीं है । सब अवस्था एवं नाम रूपों में तू ही एकमात्र है । फिर इसके मन में जो कमी, कामना, इच्छा, शिकायतें, बैचेनियाँ तथा दुःखादि समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं । क्योंकि कामना सदा अपने में किसी प्रकार के अभाव के कारण उत्पन्न होती है । लेकिन जब जीव अपने को ही सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा रूप से अनुभव कर लेता है तब वहाँ अभाव, कामना, वासना इच्छा को स्थान भी नहीं रहता है ।

हमने अपने पिता-माता तथा सम्बन्धी जनों से यह बात सुनली है या कहीं पुस्तक में पढ़ली है कि कोई सर्व शक्तिमान् परमात्मा हमसे पृथक् अन्य

अदृश्य लोक में है जो सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार कार्य करता है एवं अपराधियों को दण्ड देता है । अतः उसे प्रसन्न करने हेतु, अपराधों के लिए क्षमायाचना करना चाहिए । आपने दुःखों की निवृत्ति एवं कामनाओं की पूर्ति हेतु पूजा, अर्चना, भक्ति, व्रत, उपवासादि कष्टप्रद साधनों के द्वारा उसे प्रसन्न करना चाहिए ।

परन्तु वह परमात्मा का क्या स्वरूप है ? कहाँ रहता है ? कहाँ मिलेगा ? उसे प्राप्त करने का सरल मार्ग क्या है ? साधक, जिज्ञासु भक्त इन समस्त दुःखों से घबराया हुआ गुरुओं की शरण में जाता है एवं अपनी भ्रान्ति का समाधान चाहता है । तब जैसा उन्हें गुरु मिलता है, उसी नाम रूप की साधना में जीवन समर्पित करने लग जाता है । परन्तु परमात्मा साधनों से नहीं मिल सकेगा ।

लोगों के देखा-देखी अन्ध विश्वासी मन्दिर जाकर घण्टी बजा रहे हैं, गाल बजा रहे हैं, जीभ नचा रहे हैं, आरती कर रहे हैं, नाच-कूद-गा रहे हैं या कोई योगाभ्यास प्राणायाम, कुण्डलनी जागरण की साधना एकान्त देश में कर रहें हैं कोई याग, यज्ञ कर रहे हैं, कोई व्रत-उपवास, स्नान से मोक्ष मान बैठे हैं, तो कोई कल्पित मूर्ति, चक्र, ज्योति आदि का ध्यान कर रहे हैं । यह सब साधन मन को एकाग्र करने, पवित्र करने में तो सहायक हैं, किन्तु साध्य नहीं है । यदि साधक इन साधनों को ही साध्य मान बैठे तो बस यहीं बैठे रहोगे मंजिल से दूर । मंजिल तक नहीं पहुँच सकोगे और वह मंजिल भी तुमसे दूर बाहर कभी कहीं नहीं मिलेगी, वह मंजिल तुम हो । न पास है न दूर है । बाहर खोजनेवाला जीवन भर ही नहीं, बल्कि जन्म-जन्मान्तरों तक भटकता ही रहेगा ।

अतः परमात्मा के सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक होगा कि वह क्या है एवं हमें सरलता से कैसे प्राप्त हो सकता है ? परमात्मा के खोजने से पहले तुम हो । परमात्मा महत्वपूर्ण नहीं, यदि वह तुमसे पृथक् दृश्यरूप है तो । परमात्मा का ख्याल तो हमें बाद में आता है । ध्यान समाधि तो बाद में है । पहले हम हैं ।

'सोऽहम्' का जाप, 'शिवोऽहम्' का जाप भी मत करो, केवल 'कोऽहम्' का विचार करो तो फिर सब के अन्त में जो रह जावे वह सोऽहम् स्वतः सिद्ध हो जावेगा ।

जानने में हमेशा दूसरा आता है, जो अपने से थोड़ा या ज्यादा दूर हो । परमात्मा आत्मा अपना स्वरूप है, स्वयं है, इसीलिए वह मृग की कस्तूरी खोज वत् कभी बाहर नहीं मिल सकेगा । वह परमात्मा कोई वस्तु नहीं जो हमारे द्वारा जानी जावे । वह ज्ञान स्वरूप है । भला जिससे सब जाना जाता है, उसे कौन जान सकेगा ?

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञाते र्विज्ञातारं विजानीथाः । एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्.... ।।

– बृहदा. उप.३/४/२

जिस दृष्टि से हम सब कुछ देख सकते हैं और देख रहे हैं, उस दृष्टि को कौन देखे, किससे देखे और कैसे देखे ?

एक ही अखण्ड, पूर्ण, व्यापक, सर्वरूप भेद रहित ज्ञान मात्र सत्ता है ।

एक अखण्ड ज्ञान सीतावर

लेकिन अन्तःकरण के धर्मों को अपना स्वरूप मान लेने से स्वयं ही अन्तःकरण की ओर से ज्ञाता एवं दृश्य रूप से वही ज्ञेय हो जाता है। यह ज्ञाता मानना ही अज्ञान है, क्योंकि ज्ञेय कुछ है ही नहीं । एक अखण्ड, भेदरहित ज्ञान था, किन्तु ज्ञाता नहीं था । क्योंकि ज्ञेय बिना ज्ञाता नहीं हो सकता । और ज्ञेय है ही नहीं । ज्ञेय ही भ्रान्ति है । इन मिथ्या स्वप्नवत् स्थूल जगत् का ज्ञातापना भी मिथ्या है, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि में यह रहता ही नहीं है ।

अन्तःकरण में अनन्त पूर्व जन्मों की वासना के संस्कार बीज रूप से पड़े हैं । वे जिस जन्म में फलित होते हैं, उसे ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रकाशित करता है । एवं अन्तःकरण उपाधि से ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञाता, द्रष्टा की भ्रान्ति उत्पन्न हुई है । यही चिद्-जड़ ग्रन्थि है । अज्ञानवश अन्योऽन्य अध्यास हो रहा है, जिसके कारण यह जड़ देह संघात् के धर्मों कर्ता-भोक्ता,

दुःखी-सुखी, चंचल-शांत रूप का मैं रूप से भान हो रहा है । जबकि मैं इन समस्त जड़ देह संघात् से भिन्न हूँ । यह जड़-चेतन ग्रन्थि आत्म स्वरूप को जाने बिना किसी अन्य साधन से नहीं खुल पाती हैं ।

आत्मा ज्ञाता एवं विषय रूप से नित्य विद्यमान् है, किन्तु जैसे सूर्य से उत्पन्न बादल, सूर्य से ही प्रतीत होनेवाले बादल, सूर्य को ही ढके हुए प्रतीत होते हैं । जबकि सूर्य को बादल नहीं ढकते हैं, वह हमारी आँख पर ही आवरण करते हैं, जिसके फलस्वरूप नित्य प्रकाश रूप सूर्य हमें दृष्टिगोचर नहीं होता है । इसी प्रकार नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा अन्तःकरण उपाधि से ज्ञाता एवं विषय उपाधि से ज्ञेय रूप में विद्यमान् रहते हुए भी मैं रूप से अनुभव में नहीं आता है । आत्मा सर्व प्रकाशक कभी किसी से ढका नहीं, किन्तु विषयासक्ति में ही जीव उलझा रहने से विषय एवं अपने प्रकाशक आत्मा को जान ही नहीं पाता है । परमात्मा की कृपा नित्य हो रही है, श्वाँस-श्वाँस के रूप में हो रही है । उसकी प्राप्ति के अनुभव में हमारी ओर से ही कमी है, जो हम विषयों में दृश्यों में ही सुख एवं सत्य बुद्धि किए रहते हैं । सर्व प्रकाशक स्वयं आत्मा की ओर कभी अहम् भाव ही नहीं करते । सूर्य का प्रकाश सर्वत्र हो किन्तु हमारे घर के दरवाजे, खिड़कियाँ बन्द हो तो कैसे प्रकाश या धूप अन्दर हो सके ? तुम विवेक की आँख ही न खोलो तो वह कैसे दिखाई दे ? यदि अपने आपका विवेक हो जावे तो फिर वह न दूर है, न अन्य है, फिर तो वहीं एकमात्र आत्मा है, वही मैं हूँ । वह तो ऐसा सूरज है, ऐसी पूर्णिमा है, ऐसी अग्नि है, जो एक बार उदय होकर, प्रकट होकर कभी अस्त नहीं होता कभी शान्त नहीं होता । हम सबके अन्दर यही अहम्-अहम् रूप से स्फुरित हो रहा है । यही सब दृश्य है, जगत् है, सर्वस्व है । अतः इस अहम् का यथार्थ ज्ञान ही परमात्मा की प्राप्ति है यही आत्म साक्षात्कार है । इस आत्मा को छोड़कर अन्य कोई परमात्मा नहीं एवं इस आत्म विचार को छोड़ अन्य कोई साधन नहीं ।

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" श्वेता.उप. ६/१५

स्वप्न द्रष्टा आत्मा

चाहे स्मृति में पदार्थ, स्थान, व्यक्ति आवे चाहे समाधि, ध्यान, स्वप्न में कुछ दिखाई पड़े, वह अनुभव किए का ही स्मरण (प्रतिभिज्ञा ज्ञान) होता है । क्योंकि वहाँ कोई स्थूल बाह्य विषय इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं । अतः मानना होगा कि कभी न कभी किसी जाग्रतावस्था में घट, पट, पदार्थ का अनुभव किया हुआ वह दृश्य पदार्थ अवश्य होगा । क्योंकि बिना साक्षात् अनुभव किए का स्मृति रूप प्रतीति नहीं हो सकती, यह नियम है ।

अर्थात् स्वप्न एवं स्मृति काल में प्रतीत होने वाले दृश्य पदार्थ, स्थान वास्तविक न होकर केवल मनोमय हैं ।

इसी बात को आप इस प्रकार समझें कि स्वप्न में सोया हुआ संन्यसी भिखारी रूप में इधर-उधर हाथ फैलाए भीख मांगता फिरता अपने को देख रहा है, किन्तु वह स्वप्न द्रष्टा-संन्यासी स्वप्न में भिक्षार्थ भटकने वाले भीखारी को मैं रूप देखता हुआ भी अपने को जाग्रत हो जाने पर उससे पृथक् ही जानता है । या स्वप्न में राजा-दरद्रि हो जाने पर भी जाग्रत अवस्था में अपने में वैसा अनुभव नहीं करता है, बल्कि उस अवस्था से भिन्न ही जानता है । इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में प्रतीत होनेवाले देह संघात् से भी तुम आत्मा द्रष्टा होने के कारण दृश्य देह से पृथक् ही हो । क्योंकि तुम जो उन समस्त दृश्यों के द्रष्टा हो ।

विमतो देहादिः न आत्मा, दृश्यत्वात्, स्वप्न दृश्य देहादिवत् ।

यदि बुद्धि जाग्रत अवस्था में विषयाकार न होती और बुद्धि में देखे

पदार्थ की आकार वृत्ति अंकित न होती तो, स्वप्न या स्मरण काल में उन आकारों की प्रतीति भी नहीं होती । क्योंकि वहाँ वृत्ति स्मृति में रूपाभास के अलावा बाह्य विषय तो होते नहीं । और जो न देखा गया हो, उसकी याद, स्मरण, ध्यान स्फुरित कभी नहीं होता । जैसे तांबा, चाँदी, स्वर्ण या अन्य धातु को साँचे में डालने पर तदाकार हो जाता है, वैसे ही नाम रूप पदार्थ को व्याप्त करने वाली बुद्धि निश्चय ही तद्रूपाकार हो जाती है । वही स्वप्न या स्मरण काल में पुनः प्रतिबिम्बित होने लगती है । अथवा दृश्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाला प्रकाश भी उन-उन प्रकाश्य विषयों चित्रों के आकार में ढल जाता है । जैसे सिनेमा में प्रकाश ही फिल्मकार हो दिखाई देता है । वैसे ही समस्त दृश्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाली बुद्धि भी तद् वस्तु के आकार वाली होती देखी जाती है ।

पानी बगीचे की क्यारियों में जा उन गोल चतुष्कोण, त्रिकोण, लंबादि आकृति के आकार में फैल जाता है । वैसे ही यह बुद्धि (अन्तःकरण वृत्ति) इन्द्रियों के माध्यम से निकल तत्-तत् शब्द, स्पर्श, रूप विषयाकार में परिणत हो जाती है । विषयाकार में परिणत हुई बुद्धि को आत्म चैतन्य ही प्रकाशित करता है । आत्मा सर्वत्र समान व्यापक है , वह बुद्धि एवं विषय देश में भी एकरस, निर्विकार है । बुद्धि परिच्छिन्न है, वह विषय देश में नहीं है । इसलिए इन्द्रिय द्वार से निकल कर विषय देश में जाती है एवं विषय को व्याप्त कर विषय आकार में फैल जाती है । विषय का स्फूरण बुद्धि के अधीन है, किन्तु विषयज्ञान का स्फूरण मुझ आत्मा से ही होता है ।

जैसे स्वप्न में बुद्धि ही क्रिया-कारक-(साधन) फल का रूप धारण करती है, उसी प्रकार यहाँ जाग्रतावस्था में भी बुद्धि ही क्रिया-कारक-फल के रूप में देखी जाती है । और उसी के द्वारा बाह्य पदार्थ की सत्ता का ज्ञान होता है । द्रष्टा, दृश्य, दर्शन रूप त्रिपुटी (क्रिया-कारक-फल) से आत्मा विलक्षण है । बुद्धि हेय और उपादेय (ग्राह्य, त्याग) रूप होने के कारण अनात्म रूप है । किन्तु आत्मा इनका त्याग और स्वीकार देखने वाला है, क्योंकि वह बुद्धि आदि पदार्थों का अधिष्ठान है । न उसे त्यागा जाता है और न उसे ग्रहण किया जाता है । वह आत्मा सबका अपना आपा है ।

नाहं देहो जन्म मृत्यु कुतो मे, नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे
नाहं चेतः शोक मोहौ कुतो मे, नाहं कर्ता बन्ध–मोक्षौ कुतो मे ।।

– ६ : सर्वसार उप.

यह स्थूल, सूक्ष्म देह संघात् दृश्य मैं नहीं हूँ । ऐसा जिसे विवेक हो गया है, तब उस आत्मदर्शी ब्रह्मज्ञानी को आत्म साक्षात्कार करने के निमित्त प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा । मैं षड् उर्मि से रहित निर्विकार आत्मा हूँ । भूख–प्यास प्राण को, सुख–दुःख मन को, जन्म–मृत्यु देह को है, मैं इन सबका साक्षी सदा ब्रह्म रूप ही हूँ, ऐसा मुमुक्षुओं को सर्वदा विचार करना चाहिए ।

अविचारा कृतोबन्धो विचारान्मोक्ष भवति ।
तस्मात् सदा विचारयेत । – २, पैङ्गल उप.

यदि किसी मुमुक्षु ने असंगात्मा को देह संघात् से भिन्न अनुभव कर लिया, तब उसे अपने कल्याण हेतु अन्य कोई धर्मानुष्ठान, कर्मानुष्ठान करना उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे नदी पार पहुँचा व्यक्ति उस तट पर पहुँचकर भी नौका द्वारा पार जाने की इच्छा करे । अभिप्राय यह है कि आत्म ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति कृतार्थ हो जाता है । तदंतर उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रह जाता । क्योंकि उसने अपने श्रेय को प्राप्त कर लिया है । यदि आत्म ज्ञान हो जाने पर भी त्याग और ग्रहण बुद्धि रहती है, तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ ही समझना चाहिए ।

आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है । उसे स्मरण करना नहीं पड़ता कि मैं आत्मा हूँ । अन्य को ही भूला जा सकता है । किन्तु स्वयं से स्वयं को नहीं भूला जा सकता है । इसलिए आत्मा का आत्मा को स्मरण भी कर्तव्य नहीं है । यदि कहें कि मन आत्मा का स्मरण करता है तो यह कहना भी गलत होगा क्योंकि मन जड़ है, वह चैतन्यात्मा का स्मरण नहीं कर सकता । मन आत्मा का स्मरण करता है, यह कथन भी अज्ञानी का ही है । अतः मैं वस्तु कभी न भूल ही पाती है न स्मरण हो सकेगी ।

यदि परमात्मा, आत्मा को ज्ञेय (जानने वाला वस्तु) मानी जावे तो वह दृश्य होने से प्रमेय होगी एवं प्रमेय होने से अनात्मा, जड़ एवं नाशवान् ही

होगी । जो भी ज्ञेय होता है, वह अविद्या कल्पित दृश्य एवं जड़ ही होता है । कर्ता, कर्म और फल रूप त्रिपुटी मुझ में न होने से मैं बाहर और भीतर सहित अजन्मा आत्मा ही हूँ ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते । –६/३ : गीता

ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व तक ही समस्त उपायों का अनुष्ठान कर्तव्य रहता है । ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर ज्ञानी को किसी भी उपाय के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि अद्वितीय आत्मा ही 'कर्ता' है, वही 'कर्म' है, वही 'फल' है । अज्ञानी को लोक व्यवहार में जैसी कर्ता–कर्म तथा फल की भिन्नता प्रतीत होती है, वैसी ज्ञानी को अपने साक्षी, प्रत्यगात्मा में प्रतीत नहीं होती । ज्ञानी की दृष्टि में जड़–चेतनात्मक, दृश्य–अदृश्य, भीतर–बाहर सब एकमात्र स्वयं ब्रह्म ही है । ज्ञानी को द्वैत का सर्वथा अभाव प्रतीत होने के कारण निजात्मा में जगत् के स्थूल पदार्थों में अहं–मम (मैं–मेरा) भाव नहीं होता । ऐसे ज्ञानी के लिए कोई कर्तव्य नहीं है । क्योंकि अविद्या से देहादि संघात् में अहं–मम जो होता था, वह विद्या द्वारा अविद्या का नाश हो जाने से अविद्या जन्य अहं–मम भी नष्ट हो जाता है ।

आत्मा क्रिया का अंग, क्रिया रूप और क्रिया का फल नहीं है तथा जो ममता, अहंकार से रहित श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, मन, बुद्धि का विषय नहीं है । ऐसे उस आत्मा को जो भाग्यशाली पुरुष सद्गुरु की कृपा से श्रद्धा पूर्वक मैं रूप जान लेता है, वही वस्तुतः आत्मदर्शी है । अज्ञानी को ज्ञानी के जीवन में क्रिया, कर्म, फल दिखाई पड़ने पर भी ज्ञानी की दृष्टि में स्वयं अकर्म आत्मा ही है । इस प्रकार जिसने अपने असंग, निष्क्रिय अखण्ड, निर्विकार, अद्वय, आत्मा को जान लिया, वह कृत–कृत्य हो चुका है । अब उसे अन्य कर्म करने की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है । जो आत्मा को कर्ता–भोक्ता, प्रमाता, समझता है, वह आत्मवित् नहीं है । आत्मज्ञानी उसे कहते है जो अपने स्वरूप को अकर्ता–अभोक्ता रूप जानता है । अज्ञानी अनात्म देहादि संघात में आत्मभाव कर अकर्ता–अभोक्ता आत्मा को कर्ता–भोक्ता मानता है । आत्मज्ञानी को निरन्तर आत्म स्वरूप का अनुभव होता रहता है, इस कारण उसे किसी भी विषय में अहंकार–ममाता नहीं हो पाती । जैसे स्वप्न से

जाग्रत पुरुष को स्वप्न जनित समस्त व्यवहार में अहंता-ममता उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि वहाँ एक स्वप्न साक्षी के अलावा अन्य कुछ नहीं होता ।

हे आत्मन् ! यदि तुमने अपने शुद्ध, निष्क्रिय, साक्षी, आत्म स्वरूप को समस्त देहादि संघात् से भिन्न असंग रूप जान लिया है, तो तुम शान्त होकर चुप रहो । तुम्हारे द्वारा अज्ञान काल में अपने आत्म कल्याण हेतु देहाभिमान करके जो कर्म किए जाते थे, ज्ञानोदय के बाद उन कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मैं अकर्ता-अभोक्ता ब्रह्म हूँ इस ज्ञान से ही कृत-कृत्य हो चुके हो । अनाधिकृत (जिसका अधिकार नहीं) ऐसे कर्मों के करते रहने से कोई फल नहीं होता ।

आत्मा को देह से भिन्न माननेवाला अज्ञानी पारलौकिक यज्ञादि कर्मों के अधिकारी माने जाते हैं ।

सभी प्रकार की दीनता, कामना का जिसके लिए नाश हो गया, उस वीर मुमुक्षु पुरुष को ईश्वरत्व कर्मानुष्ठान से क्या प्रयोजन ? अर्थात् वह निष्काम आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम हो जाता है । ब्रह्मात्म ऐक्य ज्ञान (सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि) हो जाने पर कुछ भी प्रार्थनीय नहीं रहता ।

जिस भाग्यशाली ज्ञानी पुरुष की परब्रह्म में आत्म बुद्धि मैं भाव 'अहं ब्रह्मास्मि' भावोदय हो गया है, उस पुरुष के लिए आत्म स्वरूप निश्चय के अलावा कोई अन्य कर्तव्य नहीं है । '**तस्य कार्यं न विद्यते**' ।

जो आत्मज्ञानी पुरुष है उनके लिए सब मैं आत्म हूँ, यह भाव उदय हो जाने से उनके लिए कोई शत्रु नहीं रहता । जैसे सूर्य के लिए अन्धकार, अग्नि के लिए शीतलता, अमृत के लिए मृत्यु असम्भव कार्य है । इसी प्रकार आत्मज्ञानी के लिए कोई व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में शत्रु रूप में नहीं रहता । श्रेय मार्ग की प्राप्ति में मुमुक्षु के लिए शत्रुभाव रूप प्रतिबन्धक रहने तक मुक्ति लाभ नहीं हो पाता है । शत्रु भाव हटते ही आत्मानुभूति होने से वह ''सद्यो मुक्ति'' को तत्काल साथ-साथ प्राप्त हो जाता है ।

जो आत्मा मनोहीन, इन्द्रियहीन, प्राण हीन, देह हीन है, वह किसी भी क्रिया को कैसे कर सकता है ?

आत्म ज्ञानी महापुरुष के अंतःकरण में जो ब्रह्माकार वृत्ति है, वह संसार रूप महापाप की मूलभूत अविद्या का उसी प्रकार अज्ञानी के अंतःकरण से नाश कर देती है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश रात्रि के घने अंधकार को नष्ट कर देता है । आत्म वेत्ता संत, अज्ञानी मुमुक्षु के लिए उत्तम सेवनीय तीर्थराज प्रयाग, त्रिवेणी संगम रूप पवित्र करने वाला, सुगम, प्रत्यक्ष फल देनेवाला गंगामृत है । उसके साथ एकत्वकर जिज्ञासु उस ब्रह्माकार वृत्ति में अवगाहन कर, स्नान कर नित्यात्म स्वरूप ही हो जाता है । ब्रह्मात्म चिंतन होने वाले आत्मज्ञानी में मुमुक्षु उसी प्रकार परमशांति का अनुभव करता है, जैसे नदियाँ सागर में सब एक हो जाती हैं । उस त्रिवेणी संगम रूप ब्रह्मात्मैक्य चिंतन महातीर्थ में स्नान करनेवाले को किसी अन्य तीर्थ की अपेक्षा नहीं रहनी ।

वेद जो अपने अध्ययन, ब्रह्म यज्ञ पाठ, अनुष्ठान आदि से अनुष्ठान कर्ताओं को पवीत्र करते हैं । तथा सम्पूर्ण पवीत्र तीर्थ जो लोगों के पापों का क्षय करते हैं, भक्तों को पावन बनाते हैं, नाम, जप तथा यज्ञादि अन्य सभी साधनों का जो फल होता है, ब्रह्मात्मैक्य निष्ठावान् ज्ञानी महापुरुष में वे सब साधन एकता को प्राप्त हो जाते हैं । उस मानस (सोऽहम्) तीर्थ में सभी को स्नान करना चाहिए जिसे स्नान कर मनुष्य अमर हो जाता है ।

मुद मंगलमय संत समाजु । जो जग जंगम तीरथ राजु ।।

आत्म ज्ञानी संत जगत् में चलते फिरते चैतन्य तीर्थराज प्रयाग है । जहाँ मल, विक्षेप, आवरण त्रीदोष की हानि होती है ।

हे आत्मन् ! पंच ज्ञानेन्द्रिय के शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय जड़ हैं । वे परस्पर प्रकाशक नहीं कि स्वयं प्रकाश भी नहीं । अर्थात् शब्द से स्पर्श, स्पर्श से शब्द इस प्रकार परस्पर एक दूसरे से भी प्रकाशित नहीं होते हैं और शब्दादि विषयों का दर्शन स्वतः भी नहीं होता है । अतः यह सिद्ध होता है कि इन सब जड़, दृश्य विषय, इन्द्रियों का प्रकाशक चैतन्य कोई अन्य ही है । जिस प्रकार बाह्य पंच विषय शब्द, स्पर्शादि किसी अन्य के दृश्य है, उसी प्रकार यह स्थूल शरीर भी किसी अन्य सूक्ष्म चेतना द्वारा प्रकाशित होने से दृश्य, जड़, पर प्रकाश्य एवं नाशवान् ही है ।

इसी प्रकार स्थूल शरीर के प्रकाशक सूक्ष्म शरीर को भी पर प्रकाश्य परिच्छिन्न, दृश्य, विकारी, अनात्मा ही जानना चाहिए । अहंकार, ममता, इच्छा, यत्न, कर्तव्य-भोक्तृत्वादि विकार और सुख-दुःख मोह द्वेष-राग ये सब 'मेरे' (मम) शब्द मनोवृत्ति रूप है । स्थूल शरीर एवं पंच विषयों की तरह ये सब भी स्वयं प्रकाश या परस्पर प्रकाशक नहीं है । अभिप्राय यह है- स्थूल देह के समान सूक्ष्म देहात्मक अहंकारादि भी परप्रकाश्य हैं । उन सभी का ग्राहक (द्रष्टा), उन समस्त अहंकार, काम, क्रोध, इच्छा, सुख-दुःख, ज्ञान, अज्ञान, चंचल-शांत, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष से पृथक् ही है । अर्थात् आत्म देव क्षर शरीर, अक्षर-जीव से भिन्न '**क्षराक्षरतीत**' ही है । (गीता, १५/१६-१९)

द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षराश्चक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्चते ।। १६

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। १७

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। १८

यो मामेवसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्व भावेन भारत ।। १९

इस संसार में क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ, क्षर एवं अक्षर नाशवान् एवं अविनाशी, जड़ एवं चेतन ये दो प्रकार के पुरुष हैं, इसमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् हैं और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ।

इन दोनों से उत्तम साक्षी पुरुष तो अन्य ही हैं । जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबको धारण-पोषण करता है जिसे परमात्मा नाम से कहा गया है ।

क्योंकि नाशवान् जड़ वर्ग क्षेत्र से तो साक्षी मैं आत्मा सर्वथा अतीत हूँ और आत्मज्ञान न हाने तक किसी अन्य साधन से ब्रह्मात्म ज्ञान न होने तक अविनाशी कहा जाने वाले जीवात्मा से भी उत्तम हूँ । इसलिए लोक एवं वेद में मुझ साक्षी आत्मा को इन दो कल्पित पुरुषों की अपेक्षा पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्धि हुई है ।

हे आत्मन् ! जो ज्ञानी पुरुष अपने सर्वसाक्षी स्वरूप आत्मा में मैं बुद्धि करता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरंतर मुझ वासुदेव परमेश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है ।

''य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या इशते । आत्मा ह्वेषां स भवति ।'' – बृह. उप., १.४.१०

वेद में कहे गये उस पुरुषोत्तम ब्रह्म को जो आज भी सद्गुरुओं से तीन शरीर, तीन अवस्था, पंचकोश से परे स्वयं प्रकाश आत्मा को इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) वह ज्ञानी पुरुष यह परमात्मा से एकत्व अनुभव करने के कारण सर्व हो जाता है । क्योंकि यहाँ एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ द्वैत-सा नहीं है । इस प्रकार सोऽहम्, शिवोऽहम्, निश्चय करने वाले ज्ञानी पुरुष के पराभव (हानि) में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह पुष्प माला में सूत्रवत् उन सबकी आत्मा ही हो जाता है ऐसी अवस्था में कोई भी अपनी आत्मा की हानि या हत्या, निंदा, चोरी कैसे कर सकेगा ? कभी नहीं इसलिए ज्ञानी पुरुष निर्मल होने से निर्भय होता है ।

हे आत्मन् ! ऐसा न समझें कि ब्रह्मविद्या के फल स्वरूप यह ज्ञानी ब्रह्मत्व, मुक्तित्व, आनन्दत्व, सर्वत्व को प्राप्त होता है । ब्रह्म विद्या किसी वस्तु के धर्मों का लोप या प्रादुर्भाव करने वाली कभी नहीं देखी गयी । किन्तु वह अविद्याकृत आरोपित असर्वत्व, अमुक्तत्व, अब्रह्मत्व भ्रम को ब्रह्म से, साक्षी से आत्मा से निवृत्त करने के लिए है । ब्रह्म विद्या परमात्मा के पैदा करने के लिए या अविद्या ब्रह्म को निवृत्त करने में समर्थ नहीं है ।

बुद्धि, मन, चित्त, अहंकारादि वृत्तियों का साक्षी (द्रष्टा) होने के कारण आत्मा का नित्यमुक्तत्व प्रमाणित हो जाता है । यह आत्मा सम्पूर्ण देहाधारियों के अंतःकरणों का साक्षी बनकर, घट-पटादिकों को व्याप्त किए हुए आकाश के समान व्याप्त कर के अखण्ड रूप से अवस्थित है । अतः इस चैतन्य, साक्षी, आत्मा से भिन्न कोई अन्य जीव ज्ञाता, द्रष्टा नहीं है । तथा न उससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर ही द्रष्टा ज्ञाता है । चैतन्य जीव एवं ईश्वर दोनों का अधिष्ठान एक ही ब्रह्मात्मा है ।

घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशं स्यात यथा पुरा ।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते ।।

घटे नष्टे तथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।

– आत्मपोनिषत् : २२/२३

केवल अविद्या दो रूपों से प्रतीत हो रहा है, जैसे एक आकाश घट, मठ इन दो उपाधियों के कारण घटाकाश, मठाकाश इन दो नामों वाला कहलाता है । वास्तविक रूप से आत्मा अखंड, अद्वय ही है, उसकी भिन्नता में कोई प्रमाण नहीं है । जैसे घर-घर, गाँव-गाँव, मशीनादि भिन्न-भिन्न होने पर भी सबमें व्याप्त पृथ्वी,लौह,वायु, आकाश, बिजली तो एक ही रहती है ।

जिस प्रकार विषयों के सम्बन्ध से अंतःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वार से निकल कर उन-उन विषयों के आकार को जाग्रत अवस्था में धारण करती है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था या स्मृति के समय विषय का अभाव रहने पर भी मन की वृत्ति विषयाकार हुईसी दिखाई देती है । वे समस्त बाह्य-भीतर वृत्तियाँ मुझ साक्षी आत्मा के द्वारा ही दृश्य रहती है । इसलिए उन सभी दृश्य वस्तु एवं वृत्तियों को अपने आत्मा से भिन्न ही जानना चाहिए ।

जिस प्रकार स्वभावतः शुद्ध, निर्मल आकाश बादल, आंधी, चांद, तारों सूर्यों से युक्त प्रतीत होता है, उन सभी के न दिखाई पड़ने पर भी आकाश में कोई विकार नहीं रहता । अर्थात् आकाश अधिष्ठान सदैव विकार रहित ही है । उसी प्रकार आत्मा में अज्ञानी को जो द्वंद्व विकार प्रतीत होते हैं, सद्गुरु द्वारा महावाक्य श्रवण, मनन से समस्त द्वैत का निषेध कर देने से 'नेति-नेति' के साक्षी को ब्रह्म रूप से अनुभव हो जाने पर किसी प्रकार का द्वैत, विकार प्रतीत नहीं होता । स्वभावतः दृक् आत्मा एक, शुद्ध, कूटस्थ है ।

अंतःकरण क्या है ?

ये समस्त संसार पाँच विषयों का समूह है, जिसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध के नाम से हम ग्रहण करते हैं । बाह्य दृश्य जगत् इन्हीं पाँचों के रूप में पाया जाता है । इस प्रमेय दृश्य जगत् को ग्रहण करने के लिए जीव के पास पाँच मुख्य द्वार हैं । जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण के नाम से जाने जाते हैं ।

इसी प्रकार इन बाह्य विषयों को पहचानने, ग्रहण, त्याग, सोचने, समझने, अनुभव करने के लिए इन सभी इन्द्रियों के पीछे जो एक मात्र यंत्र काम करता है, उसे अन्तःकरण कहते हैं । अन्तःकरण का तात्पर्य है, 'अन्दर का करण' । इसके मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार यह चार विभाग हैं । सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान, शांति-अशांति इन अवस्थाओं का ज्ञान बाह्य किसी भी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है । इन अवस्थाओं का ज्ञान भीतर ही होता है । जिन्हें बाहर प्रत्यक्ष रूप में न तो विषयों की तरह देखा जा सकता है और न जिन्हें परोक्ष रूप दूर कहीं बताया जा सकता है, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप की तरह । किन्तु जो भूख-प्यास, सुख-दुःख की तरह अपरोक्ष है, उसका बोध इस अन्तःकरण द्वारा ही सभी को होता है ।

रूप दर्शन के लिए जैसे हमें शीशे का जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार परमात्मा दर्शन के लिए निर्मल अन्तःकरण रूप शीशे की जरूरत पड़ती है । यह शीशा पाँचों भूतों के सात्त्विक अंश से बना है । जैसे सूर्य का प्रकाश

सर्वत्र होने पर भी दीवार पर टंगे दर्पण पर ज्यादा झलकता है, इसी प्रकार देह में सर्वत्र परमात्मा होने पर भी अन्तःकरण में विशेष रूप से झलकते हैं ।

घर में या बाहर सूर्य का प्रकाश ही उस-उस आकार में ढल कर हमें दृश्य वस्तु या व्यक्ति रूप में प्रतीत होता है । अथवा सिनेमा चित्र में एक विद्युत् प्रकाश ही चित्र रूप में ढल कर उन्हें प्रतीत होता है । इसी प्रकार यह निर्गुण, निराकार चैतन्य स्वरूप आत्मा भी हमारे चित्त में जो-जो संस्कार,वासनाएँ हैं, उन्हीं के आकार में ढल कर उन्हें प्रकाशित करता रहता है । सुषुप्ति अवस्था में आप स्वयं निराकार रूप में विद्यमान् रहते हैं । क्योंकि वहाँ यह संस्कार वासना वाला अन्तःकरण आनन्द में लीन हुआ रहता है । अंतर्मुखी अन्तःकरण पर बाह्य दृश्य जगत् का प्रतिबिंब नहीं पड़ता है । जैसे दर्पण को उलट देने से बाह्य रूप प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं ।

जैसे प्रकाश का चल चित्रों के रूप में प्रकाशित होना मिथ्या सौपाधिक भ्रम है प्रकाश में वे सब पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार परमात्मा में भी कोई आकार संस्कार नहीं है । किन्तु अन्तःकरण के संयोग से उस-उस संस्कार रूप में आत्मा भ्रम से प्रतीत होता है । जैसे स्फटिक मणि रंग वाले प्रकाश के संयोग से वैसे-वैसे रंगवाली भ्रम से प्रतीत होती है । जबकि स्फटिक मणि निर्मल ही होती है ।

यदि अन्तःकरण न हो तो यह जगत् भी प्रतीत नहीं होता, जैसे सुषुप्ति में अन्तःकरण अन्तर्मुखी होने से आनन्द के सिवा अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता । जब यह जगत् न होता तो इसका ज्ञाता जीव भी नहीं होता । जीव न होता तो कर्म नहीं होता एवं कर्म न होता तो पुण्य-पाप, स्वर्ग, नरक, दिलाने वाला ईश्वर भी नहीं होता । अन्तःकरण के अभाव में न जीव है, न जगत् है, न ईश्वर है, न कुछ द्वैत है । जैसे प्रजा नहीं तो राजा नहीं तो फिर राज्य भी नहीं रहेगा ।

एक ही जहर, औषध रूप एवं मृत्यु रूप हो जाती है, उपयोग एवं दुरूपयोग द्वारा । इसी प्रकार यह अन्तःकरण के दुरूपयोग से बंधन एवं सदुपयोग द्वारा मुक्ति का अनुभव हो सकता है । कर्ताभाव से व्यक्ति दुःख भोगता है एवं साक्षी भाव से सुख भोग करता है ।

बाह्य जगत् का सभी अनुभव अन्तःकरण बिना नहीं होता है । इसी प्रकार इस अन्तःकरण द्वारा जो भी अनुभव होता है, वह बिना आत्मा के नहीं होता है । अन्तःकरण स्वयं सत्ता हीन परतंत्र है । अन्तःकरण का बनाया द्वैत है, वास्तव में कोई द्वैत नहीं है । द्वैत मानना ही अज्ञान है । आत्मा निष्क्रिय, असंग, अद्वय है । अन्तःकरण में राग-द्वेष भेद बुद्धि है यदि इनके साथ जीव अध्यास न करे तो जीवन्मुक्त रहे, किन्तु अनात्म देह संघात् में आत्म अध्यास से बंधन को प्राप्त होता है । अन्तःकरण उपाधि आत्मा पर एक पर्दा-सा बन जाती है ।

कुत्ता किसी शीशे में अपना ही प्रतिबिंब देखकर उसे दूसरा कुत्ता मान भौंकता है एवं दुःखी होता है । इसी प्रकार अन्तःकरण के अनुभवों को अपने से भिन्न सच्चा मान जीव उनमें राग-द्वेष कर जन्म-मरण में भटकता रहता है । यदि यह अन्तःकरण न होता तो चैतन्य आत्मा जड़ मुर्दा की तरह ही रह जाता । प्रारब्ध के सुख-दुःख भोगने के लिए व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने के लिए अन्तःकरण का होना अनिवार्य है । सुषुप्ति में अन्तःकरण नहीं होने से किसी भी प्रकार का भीतरी एवं बाहरी बोध एवं व्यवहार नहीं होता है ।

आत्मा सूर्यवत् है एवं जीव अन्तःकरण में झलकता चंद्रमा प्रकाशवत् आभास मात्र है । यह जीव वास्तविक आत्मा नहीं है, किन्तु चैतन्य वत् प्रतीत होता है । अज्ञान यह है कि जीव इसी मिथ्या आभास को अपना वास्तविक स्वरूप समझने लग जाता है । यह आभास जीव पर आश्रित एवं जड़ है । यह जीव ही जगत् के विषयों को जानता एवं भोगता है । इस जीव का चैतन्य वत् ज्ञाता होना उसी प्रकार भ्रम है, जैसे चंद्रमा का प्रकाश न होकर भी रात्रि रोशनी रूप में प्रतीत है । चंद्रमा अपना प्रकाश नहीं रखता है, वह तो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है । इसी तरह का यह अन्तःकरण भी है और इसमें उठने वाली अहम् अथवा चिदाभास ही जीव रूप से काम करता है । सब सुख-दुःख इसी को होते हैं । अनुकूलता, प्रतिकूलता आदि इसी आभास को प्रतीत होते हैं । और अपनी वासना के अनुसार चौरासी लाख योनियों में भटकता है ।

यह अन्तःकरण आत्मा से भिन्न नहीं है । इस आत्मा को ही मन, बुद्धि, चित्त अहंकारादि नाम से पुकारा जाता है । आत्मा को छोड़कर ये मन, बुद्धि आदि उससे कोई अलग वस्तुएँ नहीं है । आत्मा ही भ्रान्ति से कभी मन कभी बुद्धि तो कभी चित्त एवं अहंकार रूप से प्रतीत होता है । इनमें कोई अंतर नहीं । जैसे एक ही वायु शरीर में प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि नामों से पुकारा जाता है अथवा एक व्यक्ति पुजारी, ज्योतिषी, वैद्य, मुनीम, भिक्षुक आदि नामों से पुकारा जाता है । इसी प्रकार आत्मा के उस स्पंदन को हम मन कहते हैं जब संकल्प विकल्प करता है, बुद्धि उसको कहते हैं जो सोच-विचार कर निर्णय लेती है । इसी प्रकार चित्त वह है जो वासनाओं का पूंज है और इस आत्मा को ही उन-उन वासनाओं के रूप में प्रस्तुत करता है । अहंकार वह है जो उनमें अभिमान करके दुःखी-सुखी होने वाला या पापात्मा, पुण्यात्मा आदि बन बैठता है । लेकिन यह चारों हैं अज्ञान के ही कार्य और चारों रूपों में आत्मा का उस उस तरह से ग्रहण है । यह चारों अन्तःकरण की वृत्तियाँ अध्यस्त हैं एवं इनका अधिष्ठान एक आत्मा ही सत्य है ।

मन क्या है ?

‘इन्द्रियाणाम् मनश्चास्मि’ : गीता /१०/२२

श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियों में मुख्य मन मैं ही हूँ । तरंग जैसे जल से भिन्न नहीं, जल को छोड़ कभी कहीं जाती नहीं । इसी प्रकार मुझ आत्मा की मन लहर है, जो कभी मुझे छोड़ कहीं नहीं जाती है ।

अनेक लोक मन की शांति के उपाय बताते हैं । वे यह मानकर चलते हैं कि मन नाम की कोई स्थायी, ठोस आकार वाली वस्तु है, जो अशांति पैदा करती है । ऐसे लोगों को प्राणायाम, जप, ध्यान, उपासना, माला, पूजा आदि उपाय बताये जाते हैं । उपरोक्त साधनों से मन कुछ काल के लिए शांत हो जाता है किन्तु ये उपाय जीवन में आने वाली कठिनाईयों के सामने प्रभाव शाली नहीं रहते, बल्कि अशांति के ही कारण हो जाते हैं । समय नहीं है तब भी इन्हें नियम निभाने हेतु करना पड़ता है । यदि न कर सके तो और पाप का भय, देवता अप्रसन्न होने का भय, कर्म पूर्ण न होने का भय या विपरीत फल प्राप्त होने का भय बना रहता है ।

अतः हम सर्व प्रथम समस्या पर विचार करें फिर उसका समाधान करने का सही उपाय करें ।

‘‘बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछताय ।’’

अब यह विचारे कि मन नाम की वस्तु क्या है ? मन को शान्त करने का उपाय प्रथम न खोजे । यदि मन को खोजने जावेंगे तो मन खो जावेगा । जैसे हमें मन्द अन्धकार में पड़ी रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है । उसे मारने,

हटाने के अनेक प्रयत्न करें तो भी वह सभी प्रयास हमारे भय को दूर नहीं कर सकेंगे । प्रकाश कर देखेंगे तो फिर सर्प की सत्ता ही नहीं मिलेगी । वह अपने अधिष्ठान रस्सी से भिन्न कुछ भी नहीं पाया जावेगा । इसी प्रकार मन का अन्वेषण करने पर कि मन क्या है ? तो मन गुम हो जाता है केवल अधिष्ठान आत्मा ही शेष रह जाती है । यह विचार मार्ग समस्या को समझने पर जोर देता है, समाधान पर नहीं । समस्या समझ आ गई तो समाधान स्वतः हो जावेगा । जैसे प्रकाश होने से पता लग जाता है कि जिस सर्प को मैं घातक, विराट्, समझता था, वह मात्र रस्सी है, तो उसका भय, दण्ड, पत्थर, तलवार, बन्दूक की खोज एवं उसको मारने का समस्त परिश्रम समाप्त हो जाता है, इतनी सरलता है इस विचार मार्ग में, किन्तु मन्द बुद्धि के लोगों को यह मार्ग कठिन लगता है ।

अब यह देखें कि ''यह मन क्या है'' जिसका हमें अनुभव हो रहा है । यह सत्य है या मिथ्या अथवा असत् ?

पारमार्थिक सत्य (Absolute Reality) वह सत्ता है, जिसका अस्तित्व भूत, वर्तमान तथा भविष्य में भी एक समान बना रहे ।

त्रिकालेऽपि तिष्ठति इति सत्

प्रातिभासिक सत्ता वह प्रतीति है जिसका नाम ही नाम हो, किन्तु आकार प्रतीत कभी न हो, जिसका त्रिकाल में अभाव रहता है, जैसे खरगोश के सींग, गन्धर्व नगर, बन्ध्या पुत्र, आकाश कुसुम (पुष्प) ।

मन पारमार्थिक सत्य नहीं है, क्योंकि वह सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि में प्राप्त नहीं होता । किन्तु जाग्रत, स्वप्न, में अनेक चिंता, शोक, काम, लोभ, मोह आदि वृत्तियों के रूप में मन की प्रतीति होती है, इस कारण उसे असत् भी नहीं कह सकते । असत् वस्तु की कभी प्रतीति ही नहीं होती है । जिसका हमें अनुभव हो रहा है, उस मन को असत् भी नहीं कह सकते । तब मन सत एवं असत् भी नहीं हो इसे क्या कहा जाना चाहिए । वेदान्त में सत असत् से विलक्षण वस्तु को 'मिथ्या' कहा जाता है । जैसे संसार, भवबन्धन सब माया है । मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं वरन् जिसकी प्रतीति तो हो किन्तु उसका असली रूप कुछ और ही हो । कुछ का कुछ दीखना मिथ्या दर्शन कहलाता

है । जैसे रस्सी स्थान पर सर्प एवं आत्मा के स्थान पर मन का भासमान होना मिथ्या दर्शन कहलाता है ।

अधिष्ठान के अज्ञान से भासनेवाली अध्यस्त प्रतीति अधिष्ठान ज्ञान से ही निवृत्त होती है । अधिष्ठान के ज्ञान के अलावा करोड़ों प्रयत्न से वह निवृत्त नहीं होती है । फिर प्रतीत होनेवाली अध्यस्त की सत्ता अपने अधिष्ठान से भिन्न भी नहीं होती है । जैसे रस्सी अधिष्ठान के अज्ञान से प्रतीत होने वाले सर्प का आकार रस्सी अधिष्ठान से भिन्न कोई अस्तित्व ही नहीं होता है ।

इसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से मन की भ्रान्ति हो रही है । वास्तव में मन नाम की कोई वस्तु नहीं है वरन् अध्यस्त मन का अधिष्ठान आत्मा है । जो अज्ञान दोष के कारण आत्मा मैं रूप में प्रतीत नहीं हो रहा है एवं मन के रूप में प्रतीत हो रहा है ।

वृत्तियों के असंख्यों प्रकार के प्रवाह को ही मन कहते हैं । जाग्रत से स्वप्नान्त तक यह क्षण क्षण में बदलती वृत्तियाँ मन कहलाती है । चाहे पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंधाकार रूप वृत्ति हो, चाहे अहंकार जन्म, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, सर्दी, गर्मी, भूख, प्यासादि हो यह सब वृत्तियाँ है ।

अब वृत्ति में दो विभाग हैं एक विषय जो इदम् रूप से भासित होता है तथा दूसरा जो उस विषय का प्रकाशक 'अहंवृत्ति' है । 'यह घट है', यह वृत्ति तब उठ सकेगी, जब घड़े को जानने वाला वहाँ कोई हो । इस घट ज्ञान को हम कहते हैं कि 'मैं घट को जानता हूँ' यह पूर्ण वृत्ति हुई । इसमें 'यह घट' और घट को जानने वाला 'मैं' । इस प्रकार अनेक विषय हैं जिसको जानने वाला 'अहं' मैं एक है । विचार करने से ज्ञात हुआ असंख्य वृत्ति एवं अहंवृत्ति । एक दृश्य तथा दूसरा द्रष्टा । दृश्य अनेक होने पर भी उसका द्रष्टा अहं वृत्ति एक ही है । अनेक इदम् वृत्ति का प्रकाशक 'अहं' वृत्ति एक ही है । 'मैं हूँ' यह 'अहं वृत्ति' है तथा 'यह घड़ा है' यह 'इदम्' वृत्ति है । वृत्तियों में 'इदम्' का अर्थ बदलता रहता है कि यह घड़ा है, यह घड़ी है, यह चप्पल है या जूता है । किन्तु अहं का अर्थ नहीं बदलता है । वह सबका प्रकाशक समान ही रहता है कि मैं घड़े को जानता हूँ, मैं घड़ी को जानता हूँ, मैं चप्पल को जानता हूँ, मैं जूते को जानता हूँ ।

अब और थोड़ा गहराई से विचार करें तो पता चलता है कि जिन्हें प्रथम असंख्य रूप कहा था उन्हें फिर दो रूप में विभाजित किया पर वास्तव में दो भी नहीं एक ही है, ''अहं वृत्ति'' । समस्त 'इदम् वृत्ति' एक अहं वृत्ति पर ही आश्रित है । जब तक 'मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान हमें नहीं होता, तब तक किसी भी विषय का 'इदमाकार वृत्ति' 'यह है' रूपका ज्ञानोदय नहीं होता है । सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा में अहं वृत्ति नहीं होने से 'इदम वृत्ति' भी नहीं होती है, निद्रा से जागने पर, होश में आने पर, सर्व प्रथम 'मैं हूँ' यह ज्ञान हमें होता है और उसके बाद ही घट, पट, चप्पल, जूता, दाल, भात, माँ, पत्नी का ज्ञान होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मैं हूँ' इस अहं वृत्ति को ही मन कहते हैं । अतः मन को शान्त अथवा नष्ट करने के लिए हमें अहं वृत्ति को समझना आवश्यक है । अहं वृत्ति के रहते 'इदम्' वृत्ति का नाश संभव नहीं है ।

अज्ञानावस्था में व्यक्ति देह, प्राण, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्मों में आत्म बुद्धि कर कहता है, मैं पुरुष, स्त्री, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, गोरा, काला, लम्बा, नाटा, रोगी-निरोगी, निर्बल-बलवान्, गुजराती, मारवाड़ी, उड़िया, बंगाली, पंजाबी, सिन्धी मानता है तथा भूखा-प्यासा, अन्धा-लंगड़ा, बहरा, दुःखी, सुखी, कामी, क्रोधी, धर्मों में तादात्म्य बुद्धि कर अपने को उपरोक्त धर्मी जानता रहता है ।

उपरोक्त असंख्य वृत्तियों का उदय अपने स्वरूप अज्ञान से है । स्वयं को शरीर, प्राण, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि मानना और उनके कर्मों का कर्तृत्व भोगतृत्व अपने पर आरोपित कर लेना कि मैं मनुष्य हूँ, मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, यह मान लेना ही अहंकार कहलाता है । इस अहंकार का उदय कहाँ से होता है ? इस प्रकार चिन्तन करने वाले विवेकी साधक का अहंकार नष्ट हो जाता है कि मैं तो देह एवं कर्ता-भोक्ता जीव नहीं हूँ बल्कि सबका साक्षी, द्रष्टा अधिष्ठान, आत्मा हूँ । इसे ही आत्मज्ञान कहते हैं ।

मन कहाँ है ?

एक अखण्ड चेतन आत्मसत्ता के अतिरिक्त मन, बुद्धि, आदि कुछ द्वैत नहीं है । न मन है, न विषय है, उनका न कोई ज्ञाता है, न भोक्ता है । जैसे स्वप्न में वहाँ साक्षी के अलावा कुछ नहीं है । वहाँ साक्षी ही मन, विषय ज्ञाता एवं भोक्ता आदि रूप में भासित हो रहा है । इसी तरह इस जाग्रत जगत् में साक्षी ही सब रूपों में फैला हुआ है । इसीलिए कहा है – **''जगत् सब सपना''**, **''ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या''** ।

विचार करके बताइये कि जब आप अलंकार को देखते हैं तब क्या वहाँ छूने में स्वर्ण के अलावा कुछ हाथ आता है ? साड़ी को देखते समय आपके हाथ एवं दृष्टि का स्पर्श सूत्र के अलावा किसी अन्य का कर पाता है ? आप किसी भी वस्तु को कहीं से उठावें, छूएँ, उंगली रखें केवल उसके अधिष्ठान उपादान वस्तु को ही स्पर्श करते हैं । अलंकार, साड़ी, कपड़ा, घटादि तो नाम, रूप व्यवहार हेतु वाणी का विकार है । मात्र उन आकृति का अधिष्ठान उपादान कारण स्वर्ण, सूत्र, मिट्टी आदि ही सत्य है । देखते तो मिट्टी को, किन्तु घट कहते हैं । देखते तो स्वर्ण को किन्तु अलंकार कहते हैं । देखते तो सूत्र को किन्तु पेंट, शर्ट, साड़ी, आदि कहते हैं । इसी प्रकार इस मन के रूप में तथा इसकी कल्पनाओं के रूप में भी एक ब्रह्म ही है । किन्तु जगत् कहते हैं, मन बुद्धि कहते हैं ।

बर्तनों में मिट्टी की तरह यहाँ भी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारों के रूप में एक ब्रह्म ही है । बिना मिट्टी के एक भी आकृति घड़ा, सुराही,

दीपक, ईंट, खप्पर, गणेश, दुर्गा आदि की प्रतीति नहीं हो सकती । समस्त आकृतियों में एकमात्र मिट्टी ही अनुस्यूत है । तभी वे-वे आकृतियाँ देखने में एवं उपयोग में आती हैं । अतः जैसे घट, सुराही आदि बर्तनों में होनेवाले सारे व्यवहार में अधिष्ठान तो वास्तव में मिट्टी ही है । इसी तरह जगत् के सारे व्यवहार भी ब्रह्म से ही होते हैं । शेष सब कुछ मन, बुद्धि आदि नाममात्र है । कल्पना ही है ।

जैसे नेत्र दोष से दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही तुमको अपने स्वरूप अज्ञान दोष से एक अखण्ड व्यापक ब्रह्म सत्ता में मनादि भिन्न प्रतीत होते हैं । लेकिन अधिष्ठान चिन्मात्र ब्रह्म सत्ता में मन अध्यस्त होने से दूसरा कुछ नहीं है । तुम्हारा अपना आप ही है चाहे जिस तरह से भी है ।

मन में ही कल्पना होती है और मन ही उन पदार्थों को जानता एवं दुःख भोग करता है । मुझ में तो मन नहीं है, न मन की कल्पना, न संकल्प-विकल्प है । कल्पना ही मन है, मन ही कल्पना है । कल्पना को छोड़कर मन रहता ही नहीं । जहाँ कल्पना नहीं वहाँ मन भी नहीं यदि है तो एकमात्र ब्रह्म ही है । उसी का मन रूप से एवं उसी का विषय रूप से अन्यथा ग्रहण हो रहा है । यही भ्रान्ति है ।

हमने अपने आप को याने असंग निष्क्रिय आत्म अधिष्ठान को शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, कर्ता-भोक्ता, दुःखी-सुखी, अज्ञानी-ज्ञानी, पापी-पुण्यात्मा आदि मान रखा है । यह सब मन का ही रचा हुआ होता है । इसलिए जीव जो कुछ अपने को मान रहा है वह सब मन का ही रचा हुआ है । लेकिन हम लोग गलती से यही कहते हैं कि मेरा मन है ।

मृगतृष्णा के समान ही इस मन को जगत् दिखता है । और यह मन स्वयं जल पर प्रतीत होने वाली लहर की तरह आत्मा पर भ्रान्ति है । जो अज्ञान से न होकर भी भास रहा है । अथः मन मेरा नहीं अर्थात् मुझ शुद्ध ब्रह्म में मन नहीं है । 'मैं' मन का रचा हुआ हूँ, अर्थात् जो कुछ भी 'मैं' अपने को सजातीय या विजातीय रूप से, द्रष्टा-साक्षी रूप से या कर्ता-भोक्ता रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब मन का ही रचा हुआ है । मन ने ही दृश्य संसार को एवं इस क्षुद्र अहम् को भी रचा है ।

मृग मरीचिका नीर परमात्मा ने नहीं बनाया । वह प्यासे मृग ने बनाया, प्यासे मृग को ही उसकी कल्पना हुई । इसी तरह जगत् इस मन ने ही बनाया है । वास्तव में कुछ बना नहीं । न जगत्, न मन, न कल्पना, न वासना, न विषय ।

मन का स्वरूप यही है कि इस निराकार चिद् आत्म सत्ता को किसी न किसी व्यक्ति, पदार्थ, विषय या उपाधि के आकार दिखा देना है ।

अगर किसी आकार, किसी अर्थ में ग्रहण न हो रहा हो तो शुद्ध ब्रह्म है । अगर आकार या अर्थ में ग्रहण हो रहा है तो वह सब मन है, मन का ही संकल्प है । लेकिन आकार रहे या न रहे चिन्मात्रता, हमारी ज्ञातता तो रहती ही है । वह कहीं चली नहीं जाती । वही नित्य व्यापक ब्रह्म है ।

केवल विषयों को चाहने वाला ही मन नहीं है, ब्रह्म ज्ञान, मुक्ति, परमात्मा चाहनेवाला भी यह मन ही है । इस मन के बिना कोई जिज्ञासा ही नहीं उठ सकती, जैसे सुषुप्ति में । जब यह मन न रहे तो ब्रह्म प्राप्ति अप्राप्ति का भी प्रश्न ही नहीं उठता ।

मैं जो भी भाव, क्रिया, संकल्प-विचार बनाता हूँ, वह मन है । इच्छा- वासना, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुख-दुःख, चंचलता तथा शान्ति सभी मन का व्यवहार है । यह मन आत्मा को देख नहीं सकता, क्योंकि आत्मा कोई वस्तु नहीं है, जिसको मन देख सके, इन्द्रिय ग्रहण कर सके, चरण वहाँ तक पहुँच सके, हाथ उन्हें छू सके । क्योंकि मन, वाणी किसी आकार, गुण, क्रिया, जाति को ही अपना विषय बना सकते हैं । आत्मा जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्ध से रहित है । यह आत्मा निर्गुण, निराकार, अवस्तु रूप है । इसलिए मन का विषय नहीं हो सकता । मन, वाणी की वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती । मन, बुद्धि, वाणी उसे जाने बिना निराश हो लौट आते हैं ।

आत्मा को तो तब प्राप्त किया जा सके, जब वह यहाँ न हो और कहीं अन्य जगह हो । आत्मा तब खोजा जा सके, जब वह तुम्हारे रूप में न हो, बल्कि वह अन्य रूप में हो । आत्मा के लिए जो भी कल्पना की जाती है कि वह ऐसी है, वैसी है, वह सब मन का काल्पनिक रूप है । वृत्ति का बनाया हुआ कोई रूप, कोई धारणा मन ही है, मन से भिन्न नहीं है । और मन जो

कुछ बनाता है, चेतन आत्मा उस-उसका प्रकाशक ही होता है । अन्यथा वे जानने में आ ही नहीं सकते । वे अपने आप बिना चैतन्यात्मा के कुछ भी नहीं जान सकते । मन से कल्पित किसी भी रूप की अपनी सत्ता नहीं है । वे पर-प्रकाश्य होते हैं । इसलिए न स्वयं यह मन है और न यह अपने प्रकाशक आत्मा अर्थात् मुझे विकारी कर सकते हैं । इसीलिए ज्ञानियों को मन के संकल्प विकल्पों से चंचलता से कोई भय नहीं होता है । मन को रोकना एवं आत्मसाक्षात्कार करना ऐसा कार्य है जैसे सूर्य को देखने हेतु दीपक जलाना ।

ज्ञानी जानता है कि मन का गढ़ा हुआ दृश्य जगत् मेरा नहीं है । मुझ प्रकाशक का इससे क्या सम्बन्ध ? यह मन भले ही पाप-पुण्य करता रहे, या दुःखी-सुखी होता रहे, मेरा इसके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं । मुझे उसका कोई फल स्पर्श नहीं कर सकता । मैं इस मन की अवस्था से, मान्यता से धर्मों से क्रिया एवं विकारों से सर्वथा असंग, निर्विकार, अखण्ड, साक्षी आत्मा हूँ ।

मन की अपनी सत्ता नहीं है, यदि वह सत्तावान् होता तो सुषुप्ति-समाधि में भी विद्यमान् रहता, किन्तु वहाँ यह अभाव रूप हो जाता है । वास्तव में आत्मा को ही हम भ्रान्तिवश मन रूप से मान लेते हैं । यद्यपि यह आत्मा ही हमारी वासनाओं के अनुसार उन-उन रूपों से आभासित होता है । फिर उसके साथ किसी अवस्था में राग एवं द्वैष करने लग जाते हैं । बस यहीं से गिरावट शुरू हो जाती है और जीव भाव को जन्म मिलता है, जो सारे अनर्थों का कारण एवं चौरासी लाख योनियों में भटकने की ज़ड़ है । वास्तव में स्वयं आत्मा ही सब कुछ होता है । जैसे सिनेमा में प्रकाश एवं स्वप्न में साक्षी ही सब कुछ होता है, वहाँ दूसरा कुछ नहीं होता है । लेकिन जहाँ तुम कोई कल्पना कर लेते हो, वहीं आत्मा ही उसका ज्ञाता रूप से खड़ा हो जावेगा । आत्मा ही ज्ञेय पदार्थ रूप हो जाता है एवं आत्मा ही उसका भोक्ता रूप मन बन कर खड़ा हो जाता है । आत्मा ही त्रिपुटी रूप होता है और त्रिपुटी से असंग भी रहता है ।

हमारा अन्तःकरण वासनाओं का पुञ्ज है और ये वासना जब इस चेतन आत्मसत्ता से प्रकाशित हो जाती है तो उनको जाननेवाला एक 'मैं'

अहंकार रूप जीव खड़ा हो जाता है और बिना दूसरे के दिखाई पड़ने से भी मिथ्या मैं उदय हो जाता है । अर्थात् वही एक अद्वय सत्ता वासनाओं के कारण प्रतिबिम्बित हो जीव रूप से, मन रूप से, चित रूप से भासने लगती है । इसी को सब कुछ अनुकूल, प्रतिकूल, राग-द्वेष, अपना-पराया, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्ष प्रतीत होता है । बल्कि इसी प्रतिबिम्ब जीव को अपना-आप, अपना होना मैं रूप जानने की भ्रान्ति कर लेते हैं । लेकिन जब आत्मा को मन, चित्त, अहम् रूप में देखा जाता था, तब भी मैं उनसे असंग ब्रह्म रूप ही रहता हूँ । यद्यपि मेरे बिना न अन्तःकरण है न मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, न वासना, न कोई विषय पदार्थ । क्योंकि बिना मेरी ज्ञातता के, अधिष्ठानता के, अनुस्यूतता के कोई भी दृश्य या वासना जानने में नहीं आ सकती है ।

आत्मा का द्रष्टा एवं दृश्य, ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप से भासने से भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता है । आत्मा में द्रष्टा एवं ज्ञाता पना कुछ बाधा नहीं पहुँचाता है, किन्तु जब यह जीव द्रष्टा, ज्ञाता बन ज्ञेय एवं दृश्य पदार्थ में ग्रहण, त्याग, राग-द्वेष बुद्धि कर लेता है, उन विषयों के धर्म अपने में मान लेता है, उन दृश्यों में तादात्म्य कर उनमें मिल जाता है, तब यही दुःखी, सुखी हो रोता, तड़फता है । जबकि वास्तव में यह इन समस्त दृश्यों अहंकारों से असंग इनका प्रकाशक मात्र था । यदि इस प्रकार जीव विवेक द्वारा सबको मिथ्या जानता, अभाव रूप जानता और इन दृश्य पदार्थों, अवस्थाओं के साथ तादात्म्य अध्यास न करता और अपने को असंग, एवं मुक्त ब्रह्म ही जानता रहता तो यह जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर इसे दुःख भी कभी ना भोगना पड़ता । यदि यह जीव अपने को इन सभी वृत्ति, अवस्था का प्रकाशक ही जानता अथवा अपने को ही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, द्रष्टा, दर्शन दृश्य रूप हुआ जानता तो यह मुक्त ब्रह्म ही बना रहता, न कोई गिरावट होती, न कुछ दुःख होता ।

हमारी 'ज्ञातता', हमारा 'जानना' ही सब रूपों में प्रतिबिम्बित हो रहा है । हमारे 'जानने' के बिना न दृश्य, न द्रष्टा । यदि ऐसा जीव जानता होता कि सब रूपों में आत्मा है, यह देह रूप मायिक, मिथ्या, कल्पना

भ्रान्ति मात्र है, तब न मन, न बन्धन, न मुक्ति रहती । मन तो तब होता है जब इन समस्त दृश्यों को सत्य मानता है और इनमें अहम्-मम करता है ।

'जानना' तो एक ही है । जो केवल जानना है वह आत्मा (ब्रह्म) है । जो और-और को जानता है, वह मन है । मन को ही अज्ञान है और मन को ही ज्ञान भी होता है । हमारी ज्ञातता को, हमारे बोधता को, जो ज्ञान स्वरूप ज्ञानघन मिश्री वत् रसघन की तरह है, उसमें न अज्ञान है न किसी ज्ञान की जरूरत है, न बन्धन है न मुक्ति की जरूरत है ।

अतः ये ज्ञान, अज्ञान मन, बुद्धि में ही है और ये दोनों उस ज्ञानता में रस्सी में सर्प की तरह अध्यस्त है । अधिष्ठान आत्मसत्ता समस्त विकारों से अछूता आकाशवत् असंग ही है और यह भी सत्य है कि बिना अधिष्ठान प्रकाशक आत्मा के यह कोई भी दृश्य जगत् अभाव रूप ही है । क्योंकि सब इसी के आधीन है, इसी से सब प्रकाशित होनेवाले हैं, अन्यथा उनकी गन्ध भी न मिलती । अतः यह ज्ञान स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म है । यही हमारा अपना वास्तविक स्वरूप है । अपना आप है । यह ज्ञाता मन भी आत्मा को छोड़कर कुछ नहीं । आत्मा सर्वाधार है आत्मा के बिना सब ही निराधार अभाव रूप है । मन स्वतंत्र रूप से नहीं है ।

मन, बुद्धि तो भक्त-भगवान्, गुरु-शिष्य में समान ही है । नेत्र कर्णवत् समान ही है, अन्तर मानने का है । ज्ञानी गुरू मन, बुद्धि भी विषय जगत् में आते जाते हैं तुम्हारे मन, बुद्धि भी विषय जगत् में आते-जाते हैं । फर्क मानने का है, उन्होंने कुछ और माना है तुमने कुछ और । स्त्री पर दृष्टि सभी की जाती है पर अब यह तुम पर निर्भर करता है कि तुम उसे किस रूप में स्वीकारते हो । जिस बात को गुरु जानता हैं, उस बात को शिष्य नहीं जानता, भगवान् जिस रहस्य को जानते हैं, उस रहस्य को भक्त नहीं जानता, अन्तर जानने का है । अंगों की दृष्टि से भोगों की दृष्टि से, ज्ञानी, अज्ञानी, भक्त-भगवान् में भेद नहीं है । विशेषता इस बात में है कि जिसे अज्ञानी सत्य मान रहा है, ज्ञानी उसे मिथ्या मानता है ।

मन के पार

जो-जो देखा, जाना, सोचा जाता है, वह सब मन ही होता है और वे सब विषय ब्रह्म नहीं है, जो देखने, जानने, सोचने में आ जाते हैं । जो सबका द्रष्टा है, उसे कोई अपनी दृष्टि के द्वारा नहीं देख सकता । जो सबको जाननेवाला है, उसे कोई अपनी बुद्धि से ज्ञेय रूप नहीं जान सकता । लेकिन जिस चेतन सत्ता से यह सब देखा जाना, सोचा जाना, सम्भव होता, वह ब्रह्म है । एवं जो देखा, जाना तथा सोचा जाता है, वह मन ही है ।

संकल्पों के रूप में मन ही आता-जाता, चंचल-शांत, सुखी-दुःखी, कामी, क्रोधी, मूढ़, ज्ञानी होता है । संकल्प वृत्ति ही बनती एवं नष्ट होती है । जो संकल्प के उठने एवं मिटने को जानता है, वृत्ति के भाव अभाव का जो प्रकाशक है, वह तो नित्य है, उसका नाश या अभाव कभी नहीं होता है । जो संकल्प के नष्ट होने को जानता है एवं बना रहता है, वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वही तुम हो ।

संकल्प विकल्प किसी भी प्रकार के क्यों न हो, आत्मा का, साक्षी का, तुम्हारा कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं । फिर अभाव रूप, मिथ्या रूप मन में होनेवाले संकल्प से द्रष्टा, साक्षी का भय कैसा ? हमारा उससे कुछ सम्बन्ध नहीं ।

''मन जहाँ न जा सके, वही ब्रह्मता है'' मन जहाँ-जहाँ पहुँच जावे, सोच सके, देख सके, विचार कर सके वह सब मिथ्या माया असत्य संसार ही है । उदय-अस्त, काम-क्रोध, दुःख-सुख, चंचल-शान्त अवस्था को जानता है, वह असंग निर्विकार साक्षी आत्मा तुम हो, यह जानते रहो ।

मन जो बन्ध्या पुत्रवत् अभावरूप है, वह कभी ब्रह्म में लीन नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म से अन्य कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ है । मन का उत्पन्न हो जाना एवं लीन होना मानना दोनों मन है, अज्ञान से है । जिन्हें मन के पैदा होने का भान है एवं मन की अवस्था देख भय लग रहा था तथा जिन्होंने योग, ध्यान, प्राणायामादि साधना द्वारा इसे लीन किया मानते हैं वे अज्ञानी साधक हैं ।

जागना मन का ही है । यह जाग्रत होना एवं शयन करना न तो आत्मा का है न शरीर का । इस जागने से सोने तक यह सब मनीराम का ही बनाया मिथ्या संसार है । मन जिस का चिन्तन नहीं करता किन्तु जो मन को प्रकाशित करता है वह आत्मा है । आत्मा इन दोनों अवस्थाओं को जाननेवाला है । आत्मा सब अवस्था को प्रकाशित करता रहता है, जनवाता रहता है । और जो उनको जानता है, वह सब मन है । मन की क्रिया से जनवाने वाले प्रकाशक आत्मा में विकार नहीं आता । आत्मा सूर्यवत् निर्विकार है । इसीलिए ज्ञानी सदा निर्भय एवं सबल हो जाता है । मन, वाणी से जो भय आया था वह सब निकल जाता है । निडर हो जाता है ।

आपसे यदि कोई पूछे कि आप कौन है ? और आप कहें कि मैं ब्रह्म हूँ, सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, तो यह सब मन ही है । आप तो वह हैं जो इन सजातीय या विजातीय वृत्ति को भी जानता रहता है । जहाँ पूछने वाला न रहे, वही ब्रह्मता है । जहाँ मैं हूँ का बोध है, वह मन है और जहाँ केवल 'हूँ' रह जावे, ज्ञातता रह जावे वही ब्रह्म है, वही तुम हो । आत्मा स्वयं तो कहता नहीं मैं आत्मा हूँ । जो कहता कि मैं आत्मा हूँ वह आत्मा नहीं है, वह मन ही है । आत्मा को, ब्रह्म को, शिव को, अपने को होने की घोषणा करने की आवश्यकता भी क्या कि मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं शिव हूँ ? उससे भिन्न उससे पूछनेवाला ही कौन है कि तुम कौन हो ? जो उत्तर रूप में उसे बताना पड़े कि 'शिवोऽहम्' अस्तु यह सब कहना, पूछना, सुनना, जानना सब मनोराज्य ही है ।

जब उसके बिना कुछ नहीं हो सकता, तब वही सब कुछ हुआ । इन सबकी सत्ता नहीं है जो दिख रहे हैं । इसलिए जो ज्ञानी हैं वे सब इन्हें

मान्यता नहीं देते । ये आँख, कान, मन न रहे या अपना अपना काम न करे । बल्कि वे यह जानते हैं कि आत्मा (मैं) ही इन सब रूपों में उतर रहा हैं, अथवा 'गुणा गुणेषु वर्तन्त' गुण के द्वारा गुण ही भोग रहे हैं ।

जो किसी की इच्छा नहीं रखता, न कुछ पाने की, न हटाने की, न जानने की, न कोई सन्देह ही रखता है, वही तुम्हारी स्थिति वास्तविक है । वही अद्वयानन्द है । यही उपनिषदों का, ब्रह्म विद्या का तात्पर्य है । 'तत्त्वमसि' जहाँ न कुछ देखने की, न सुनने की, न जानने की, न हटाने की आवश्यकता रहे, वही तुम्हारा स्वरूप है, वही आत्मा है ।

मन की किसी अवस्था को, किसी निर्णय को मान्यता मत दो । आत्मा के बिना जब मन कुछ सामर्थ्य ही नहीं रखता फिर उससे भय कैसा ? यदि किसी ने गाली दी एवं तुमने उसको मान्यता नहीं दी तो वह गाली तुम्हें दुःख नहीं पहुँचा सकेगी ।

जीवन में व्यवहार करते समय कुछ भी उथल-पुथल विक्षेप हो जाता है, तो उससे तुम्हारे स्वरूप में कुछ भी विकार नहीं होता है । यह सब अन्तःकरण उपाधि में होता है । उपाधियाँ अपना-अपना काम करेंगी, रुक नहीं सकती । उपाधि के रहते यह सब होगा । सुषुप्ति में मन उपाधि नहीं होने से वहाँ किसी प्रकार की हलचल विक्षेप नहीं है । इसलिए ज्ञानी आँख, कान, मनादि क्रिया को बन्धन रूप नहीं जानता । यह उपाधियाँ भले रहे व अपना अपना काम भी भले करे, किन्तु इन सब में आरहा तो एक आत्मा ही है । मनकी सत्ता, सामर्थ्य, स्वतंत्रता नहीं है । यह उथल-पुथल नहीं होनी चाहिए सब यही चाहते हैं लेकिन हो जाती है । बड़े-बड़े महात्माओं, ज्ञानी, योगी, साधकों सभी को हो जाती है । लेकिन यह सब मन उपाधि के धर्म हैं । ज्ञानी उन्हें अपने में नहीं मानते, न उन पर ध्यान देते हैं । उपाधियों एवं मन से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि वे सब वास्तव में अभाव रूप हैं । अतः इन सत्ताहीन की सत्ता को न मानना ही न होने को ही दृढ़ ज्ञान कहते हैं । तुम स्वरूपतः नित्य, शान्त, एकरस ही रहते हो ।

मन को कैसे रोकें ?

मन को आप देखते हैं न ? आप मन को जानते हैं न ? तो पहले अपने को मन का द्रष्टा, साक्षी जानें, न कि अपने को दृश्य मन माने। वेदान्त प्रथम साक्षी भाव, द्रष्टा भाव तक आपको लाता है ताकि दृश्य एवं साक्ष्य को छोड़ दे एवं उनके ज्ञाता, द्रष्टा पर आकर रुक जावे । फिर उसे द्रष्टा, साक्षी, मनोभाव, मनोवृत्ति से भी पीछे प्रकाशक रूप से निश्चय कराया जाता है कि तुम द्रष्टा भी नहीं हो क्योंकि दृश्य तो मिथ्या है । एक ब्रह्म सत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इसलिए तुम्हारा द्रष्टाभाव भी असत्य है । साधक द्रष्टा के ऊपर उठ साक्षी भाव को ग्रहण कर बैठता है, किन्तु यह साक्षी भाव भी अन्तिम अवस्था आपकी नहीं है । यह भी द्रष्टा भाव की तरह क्रियाशील है । साक्षी में भी कुछ करना प्रकट होता है । क्योंकि साक्षी भाव भी दृश्यों की अपेक्षा से साक्ष्य की अपेक्षा से खड़ा होता है । दृश्य न रहे तो द्रष्टा एवं साक्ष्य न रहे तो साक्षी भी किसका और कैसे बने ? अतः हमारा स्वरूप तो साक्षी भाव से भी ऊपर है । मैं साक्षी हूँ, इस मनोवृत्ति को भी जो जानता है, वही वास्तविक तुम्हारा स्वरूप है । अतः प्रथम अपने को असंग, साक्षी जानो, अपने को असंग, द्रष्टा जानो ।

तुम अपने को द्रष्टा, साक्षी भाव पर ही मत रोक देना । तुम्हारा वास्तविक स्वरूप द्रष्टा साक्षी से भी ऊपर है, क्योंकि द्रष्टा साक्षी में भी कुछ देखने, जानने की क्रिया है । ब्रह्म केवल 'देखना' है । सूर्य जैसे प्रकाश है कुछ देखना सूर्य का स्वरूप नहीं है । जहाँ केवल दृष्टि, चेतना ही है वहाँ किसी दृश्य को देखना नहीं । दृश्य को देखना तो द्रष्टा, ज्ञाता, साक्षी अन्तःकरण

का कार्य है । जहाँ केवल प्रकाश है वहाँ हाथी, घोड़ा दृश्य नहीं । यह तो देखना व्यक्ति का कार्य है । इसी प्रकार जहाँ दृश्य नहीं केवल देखना है, वहाँ मन नहीं रहता । यह ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख जानकारी तो मन का कार्य है । जैसे सिनेमा के प्रकाश में कोई नाम, रूप, आकृति नहीं है, वह तो फिल्म में है । प्रकाश तो मात्र प्रकाशक है । इसी प्रकार आत्मा तो मात्र देखना है, मात्र ज्ञान दृष्टि है । ज्ञातता में कोई विषय नहीं है । ज्ञाता में ज्ञेय विषय है । द्रष्टा में दृश्य विषय होता है । अस्तु जहाँ मन नहीं है, वहाँ मन को टिकाने, रोकने, स्थित करने का प्रश्न ही नहीं रहता ।

मन को रोकने, टिकाने, शांत करने, स्थित करने की उन्हीं को जरूरत मालूम होती है जो मन को, इच्छा को, वासनाओं को एवं मनकृत क्रियाओं को सच्चा मानता है । इसीलिए उन लोगों को मन कार्यशील होना, दुःख दायी प्रतीत होता है । लेकिन वास्तविक तो यह है कि न मन सच्चा है न मन की कल्पनाएँ सच्ची हैं । यह तो स्वप्न के शेर की तरह, अंधकार में पड़ी रस्सी में दिखाई पड़ने वाले सर्प की तरह, मिथ्या है । वह किसी प्रकार तुम्हारी हानि नहीं कर सकता है । जो दिखाई तो पड़ता है लेकिन होता नहीं है । अतः जब तक इस मिथ्या मन को अभाव रूप निश्चय नहीं किया जाता, तब तक यह न होता हुआ मन भी भयभीत एवं दुःखी करता रहता है । इस प्रकार इसकी वास्तविकता को समझना ही मन को मिटाना है या टिकाना है । अन्यथा मन किसी का टिकता नहीं, क्षण-क्षण में यह बदल-बदल कर विषयों का रसास्वादन करता रहता है ।

मन तो कभी किसी का जड़ पदार्थ वत् अचल नहीं होता । इसका काम ही संकल्प विकल्प करना, आना-जाना है । हाँ, इसे अगर असत् जान लिया, अभाव रूप जान लिया, तो समझो यह टिक गया, रुक गया । वही मन अचल है, जिसको इस मन की अभाव रूपता का अर्थात् इसके न होने के ज्ञान है । उसी का मन टिका हुआ है ।

मन असत् ज्ञात होने के बाद भी रहता है । मन के बिना व्यवहार भी नहीं हो सकता । जैसे जहरीले सर्प के दाँत निकाल लेने के बाद मात्र सर्प फूँफकार करता रहता है किन्तु वह किसी को मार नहीं सकता अथवा मक्का,

मूंग, चना, गेहूँ, ज्वारादि अन्न आग में सेक देने के बाद अन्न देखने मात्र का है, इनसे किसी प्रकार न मृत्यु होगी न उत्पत्ति । जब विवेक द्वारा यह जान लिया है कि यह दृश्य मन में नहीं, यह मन स्वयं मिथ्या है, तब उसकी वासना, उसकी क्रियाएँ, उसका फुरना, उसका अचल या चल होना सभी मिथ्या ही है । वह मुझे किसी प्रकार बंधन में नहीं डाल सकेगा । लेकिन भ्रान्ति से हम मन की अवस्था को, उसके फुरने को सच्चा मान लेते हैं, किन्तु ज्ञानी मन की अवस्था से घबराता नहीं है । फिर जिससे कोई भय नहीं वह भले बना रहे उसे मिटाने की क्या जरूरत ? कुछ नहीं ।

न यह मन है न इसका विषय जगत् । तब इसका त्याग करना भी नहीं है । यदि मन होता तो त्याग सम्भव होता । यदि त्याग करना कर्तव्य लगता है, त्याग करने की भावना है तो फिर यह मन ही है जीव भाव ही है । लेकिन ब्रह्मता में यह भाव है ही नहीं, हो ही नहीं सकता । यहाँ तो जाग्रत होने की जरूरत है कि यह मन है ही नहीं । फिर स्वप्न के सिंह को मार भगाने की जरूरत ही नहीं । वह तो निद्रा दोष से था । नींद टूट गई फिर सिंह ही नहीं । इसी प्रकार अज्ञान दोष से यह मन, जीव, जगत् बंधन दुःखादि भासित होते हैं । ज्ञान द्वारा अज्ञान दोष हटते ही इन सब द्वन्द्वों की प्रतीति भी नहीं रहेगी । फिर न कुछ है न हटाना है ।

जैसे स्वप्न में वह आत्मा ही स्वप्न नगर, स्वप्न पुरुष, स्वप्न भोग एवं स्वप्न का स्वयं ही द्रष्टा, साक्षी होता है, इस प्रकार जब दृश्य हट गया तो किसका साक्षी ? साक्षी पना तो दृश्य की अपेक्षा से था । अतः दृश्य न रहने से तुम में द्रष्टा या साक्षी भाव भी नहीं रहता । देखिये ! किसी भी पदार्थ का नेत्र द्रष्टा है दृश्य का । फिर मन द्रष्टा है नेत्र का और जगत पदार्थ का बुद्धि द्रष्टा है मन का, नेत्र और जगत का। बुद्धि द्रष्टा हैं मन, नेत्र व जगत का आत्मा द्रष्टा है बुद्धि, मन, नेत्र व दृश्य जगत की अब यदि आत्मा द्रष्टा है तो मन इन्द्रिय की अपेक्षा से । अन्यथा सुषुप्ति में आत्मा न द्रष्टा है न साक्षी, क्योंकि वहाँ कुछ भी दृश्य नहीं है । हाँ, यह दृश्य न भी हो तो प्रकाशक का प्रकाश धर्म, आत्मा का 'देखना' धर्म तो रहेगा ही । द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता । यह ज्यों कि त्यों रहती है । वही आत्मा है ।

'न द्रष्टार दृष्टिर विपरल्लोपो' ४/२/२३ बृहदा. उप

यह दृष्टि केवल चेतनसत्ता मात्र आत्मा है । जो नित्य शांत और कूटस्थ है । इसके बिना कुछ हो नहीं सकता, तो कौन उसे हिलावे या रोके ? इसलिए बिना प्रयास यह नित्य टिका हुआ है । इसके चंचल होने की भ्रान्ति है । जल हिलने से प्रतिबिंब हिलने की भ्रांति होती है, न बिंब हिलता है न उसका प्रतिबिंब । दर्पण हिलता है प्रतिबिंब नहीं । इसी प्रकार अन्तःकरण संस्कार प्रभाव से हिलता है, किन्तु उसमें पड़ने वाला प्रतिबिंब जीव नहीं । हमें केवल उसके चंचल होने की भ्रान्ति हो रही है । अतः मन की चंचलता को स्थिर करने का एक मात्र उपाय स्वरूप ज्ञान ही है अन्य कोई मार्ग साधन नहीं है ।

यदि यह कहते रहते हो कि मैं तो असंग, आत्मा हूँ, निष्क्रिय, आत्मा हूँ, साक्षी आत्मा हूँ । मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आत्मा हूँ, तो यह सब मन ही है । आत्मा में कहना सुनना नहीं है । अतः ऐसा भी नहीं कहें अन्यथा दृश्यों को जितना हम इन्कार करेंगे वे सत्तावान् हो हमारे सम्मुख आते रहेंगे । इन सबको सत्ताहीन, अभाव रूप जानें । बिना मिथ्या जाने ये किसी साधन से हट नहीं सकते । अपने से अलग एवं असत् मानकर ही इन्हें हम हटा सकते हैं । है ही नहीं स्वप्न शत्रु तो हटाना ही क्या ? है ही नहीं स्वप्न नगर का चोर तो पकड़ना ही क्या ? फिर तो ये हटे हुए ही हैं ।

जब कोई यह कहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँ, मैं आत्मा हो जाऊँ, मैं ब्रह्म हो जाऊँ तो इसका मतलब यह है कि मैं अभी ब्रह्म नहीं हूँ । यदि ठीक-ठीक स्वरूप ज्ञान हो जावे तो, न तो मुक्ति को ग्रहण करना है और न बंधन को हटाने की जरूरत होगी । क्योंकि स्वरूप में इन की कोई गणना नहीं । इनका कोई स्थान नहीं, स्थिति ही नहीं । वह केवल ज्ञान है, निर्मल बोध मात्र । उसमें न जगत् भाव है न मन भाव है न वासना न चंचलता । चंचलता है तो मन की है, जो स्वयं मिथ्या है । इसलिए मन को लगने-लगाने या टिकने-टिकाने का प्रश्न ही ज्ञानी के लिए नहीं उठता । अज्ञानी के लिए ही मन है, चंचलता है, वासना है, विषय जगत् है एवं मन का चंचल होना दुःख रूप है और उसी के लिए मन का दौड़ना बंधन रूप है । इसलिए

उस अज्ञानी के लिए ध्यान, प्राणायाम, एकाग्रता, त्यागादि साधन कर्तव्य रूप है, ज्ञानी सदा मुक्त है ।

व्यापक पूर्ण का वियोग कभी किसी से नहीं होता । जब एक व्यापक अखंड ब्रह्म के अलावा किंचित् भी अन्य नहीं है, तब संसार उससे पृथक् कहाँ है ? एवं संसार को छोड़ वह व्यापक अखंड भी कहाँ है ? राजा क्या प्रजा को छोड़कर राजा हो सकेगा ? क्या शिष्यों को छोड़कर कोई गुरु हो सकेगा ? जब संसार को लेकर परमात्मा पूर्ण है तो उसे छोड़ने हटाने का प्रश्न ही नहीं उठता । सभी रूप उसी के हैं । प्रत्येक क्रिया भी उसी से है । क्रिया भी उसे छोड़कर नहीं होती । ये इन्द्रियाँ भी, ये मन भी, यह विषय भी उसे छोड़कर कुछ नहीं । जैसे साक्षी को छोड़कर समस्त स्वप्न कुछ नहीं रहता । एकमात्र ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं है । तब सभी आकार, चेष्टा, भावना जो देख रहे हो, कर रहे हो, वह सब उसी एक ब्रह्म रूप से है ।

मैं ही मैं हूँ, अन्य कुछ नहीं, फिर संसार रूप से मैं ही तो हूँ । फिर क्या काटें, और क्या छोड़ें ? जिस तरह भी है, हो रहा है, होगा, वह सब मैं ही हूँ । इस प्रकार अपनी पूर्णता के बोध में ही परम शांति है ।

इन संकल्प विकल्पों, दृश्यों, वासनाओं के आने जाने हम अपने को कुछ का कुछ मानने लग जाते हैं । जब जान लिया कि मुझ से भिन्न कुछ नहीं, मैं ही हूँ सब प्रकार से, तो फिर इन से विरोध न रहा, न भय रहा, न कुछ करना बाकी रहा । भले ही कुछ भी उदय-अस्त प्रतीत होता रहे । मैं आकाशवत् असंग, निर्विकार, निष्क्रिय एक रस आत्मा ही था, हूँ एवं रहूँगा ।

मन एक अमूल्य हीरा है । अज्ञानी इसी से दुःख उठा बंधन को प्राप्त हो रहा है । ज्ञानी इसी से जीवन्मुक्ति का आनन्द एवं मुक्ति का अनुभव कर रहा है । वस्तु सबके पास वही है, इन्द्रियाँ सबके पास समान है, भोग भी समान है किन्तु समझ का अंतर है, वस्तु का नहीं ।

अतः यह मन की चंचलता, विक्षेप एवं बंधन का ही कारण नहीं है । बल्कि यह मन जीवन मुक्ति एवं आनन्द भोगने का भी अति उत्तम साधन है । हीरे की कीमत साग बेचने वाले क्या जानें । उसे तो जोहरी ही जान पाता है ।

हमारी बुद्धि क्या है ?

जैसे किसी दिवार पर सूर्य का सामान्य प्रकाश फैली हुई धूप दिखाई पड़ रही है, वही दिवार पर एक दर्पण (शीशा)लगा हुआ है, जिसमें सूर्य का प्रकाश प्रतिबिंब (Reflection) पड़ रहा है, यह विशेष प्रकाश सूर्य का नहीं बल्कि दर्पण उपाधि से है ।

दर्पण के हिलने से उसका प्रतिबिंब प्रकाश भी इधर-उधर, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे होता हुआ प्रतीत होता है । प्रतिबिंब के सर्व प्रकार होने से भी बिंब सूर्य में किसी प्रकार का परिवर्तन, विकास अथवा अभाव नहीं होता दर्पण ही हिलता है, जल ही हिलता है, किन्तु उसमें पड़ने वाला प्रतिबिंब नहीं हिलता । क्योंकि प्रतिबिंब बिंब सूर्य के धर्म से भिन्न नहीं होता । उपाधि एक ही व्यक्ति दर्पण उपाधि से लम्बा, छोटा, दुर्बल, मोटा, टेड़ा, अनेक-सा दिखाई पड़ता है पर बिम्ब पुरूष ज्यों का त्यों एकरस ही रहता है । दर्पण में ही अंतर हो सकता है । एक जल को हम जैसे आकृति के बर्तन में ढालें वह जल या बर्फ उसी आकार का जमा हुआ स्थिर होता है ।

सूर्य का प्रतिबिंब भी सूर्य न होता हुआ सूर्य जैसा ही प्रतीत होता है । किन्तु प्रतिबिंब के हिलने डुलने से सूर्य का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

इसी प्रकार सामान्य ब्रह्म की ज्ञातता, चेतनता सर्वत्र समान है । बुद्धि में जाकर वह वहाँ प्रतिबिम्बित हो जाती है एवं ज्ञाता बन विषय को प्रकाशित करती है, जानती है अथवा विषय अभाव में नहीं जान पाती है । यह जानना अथवा विषयों को न जानना, इस दृश्य बुद्धि का ही धर्म है, ब्रह्म का नहीं । सूर्य का प्रतिबिंब सूर्य जैसा ही तेज प्रकाश युक्त लगता है । इसी प्रकार ब्रह्म

का प्रतिबिंब बुद्धि भी चेतन जैसी लगती है । किन्तु बुद्धि अप्रकाश रूप जड़ ही है । आत्मा के बिना इसका अस्तित्व ही नहीं है ।

जैसे लोहे का गोला अग्नि में तप्त हो, जलाने का कार्य करता है एवं अग्नि की तरह ही लाल दिखाई पड़ता है । पर यह लालपना, जलाना धर्म अग्नि का है, लोहे के गोले का नहीं । लोह गोला ठन्डा होने पर जला नहीं पाता है । इसी प्रकार बुद्धि जो जानती है, वह जानना धर्म आत्मा का है, आत्मा से ही होता है । बुद्धि आत्मा के बिना कुछ नहीं जान सकती । अतः बुद्धि का होना भी आवश्यक है अन्यथा अन्य-अन्य को जानने का प्रकार ही नहीं बन पाता । और न ही बिना बुद्धि के उस प्रकाश स्वरूप निराकार आत्मा का ही ज्ञान हो सकता था । विषयों का जानना बनेगा ही आभास के द्वारा । पूर्ण ज्ञानघन आत्मा में ज्ञातता तो है किन्तु ज्ञात पना नहीं है । यह बुद्धि आत्मा की प्रकाश्य है प्रकाशक नहीं ।

संस्कारों, वासनाओं अथवा गुणों के प्रभाव से जो-जो भाव उदय-अस्त होते हैं, उनको बुद्धि ही जानती है, आत्मा नहीं । किंतु हम बुद्धि के जानने को अपना जानना मान लेते हैं कि मैं इनको जान रहा हूँ । यह अपने को ज्ञाता रूप मान लेना ही बुद्धि को खड़ा कर देना है । हमारा वास्तविक स्वरूप ज्ञान है, न कि ज्ञाता । ज्ञाता तो बुद्धि का धर्म है, किन्तु हम बुद्धि के साथ अध्यास कर के अपने को भ्रान्ति से ज्ञाता मान लेते हैं । यदि मेरा स्वरूप वास्तव में ही ज्ञाता होता तो सुषुप्ति में भी कुछ न कुछ जानता ही रहता, किन्तु वहाँ मन का दृश्य के अभाव में द्रष्टा, ज्ञाता भी नहीं है ।

अतः जो भी अनुभव ज्ञान अथवा विषय ज्ञान सामने आते हैं, उनको बुद्धि ही जानती है, आत्मा नहीं । और यह बुद्धि आत्मा पर-आश्रित होने से परप्रकाश्य एवं मिथ्या है । इसलिए बुद्धि को होने वाले समस्त विषय ज्ञान भी मिथ्या ही है । जिस आत्मा के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होते हैं और जो इस बुद्धि ज्ञाता का भी आधार व प्रकाशक हैं, वह इन सब से असंग, कूटस्थ, निर्विकार ही रहता है । वह हम हैं । वही हमारा वास्तविक स्वरूप है । वही आत्मा हम हैं । बुद्धि को दीवार पर पड़ रहे प्रतिबिंब की तरह मिथ्या जानों एवं आत्मा को बिंब सूर्य के समान सत्य जानों ।

जानना और न जानना बुद्धि का धर्म है । आत्मा तो स्वतः सिद्ध प्रकाश है जिस से बुद्धि का जानना भी और न जानना भी जाना जाता है । यही हमारा वास्तविक स्वरूप है । जो उदय-अस्त को जानने वाला एक अखंड चैतन्य प्रकाश है, वह कभी अभाव रूप नहीं होता । हम केवल बुद्धि के उदय-अस्त एवं उससे होने वाले ज्ञानों के साक्षी हैं । साक्षी भी इनके होने से ही बने हैं, अन्यथा तो इनका प्रकाशक ज्ञान स्वरूप आत्मा है । वह अपनें आप में न किसी का ज्ञाता है न साक्षी ही है । उसमें कोई धर्म नहीं है । ऐसे सर्व धर्म कर्म शून्य आत्मा का पता भी इन सब दृश्यों के बिना नहीं लग सकता था । ये सब दृश्य तो अपने द्रष्टा, प्रकाशक, आत्मा का पता देने के लिए अपने प्रकाशक की ओर इशारा करने के लिए अपने प्रकाशक आत्मा को ही जानने के लिए हैं । क्योंकि कोई भी प्रकाश्य अपने प्रकाशक के बिना नहीं हो सकता । पुत्र पिता का अपने द्वारा संकेत देने के लिए है क्योंकि पुत्र बिना पिता के, दृश्य बिना द्रष्टा के, ज्ञेय बिना ज्ञाता के एवं प्रकाश्य बिना प्रकाशक के कभी नहीं हो सकता है । लेकिन हम इन दृश्य, ज्ञेय पदार्थों, वासनाओं, वृत्तियों में ही खो गये । और इनके मूल स्त्रोत अपने आप को भूल गये कि मैं असंग सर्व प्रकाशक निष्क्रिय अभोक्ता आत्मा हूँ । कर्ता-भोक्ता, ज्ञाता, द्रष्टा, परिच्छिन्न, चिदाभास जीव है न कि आत्मा । हम इनके प्रकाशक असंग आत्मा हैं ।

बुद्धि और आत्मा का विवेक हमें अपनी असंगता और कूटस्थता का तथा बुद्धि के मिथ्या होने का बोध देता है । और अपने असंगता के बोध से ही अक्षय शांति का लाभ होता है, अन्य किसी उपाय से नहीं ।

तादात्म्यता से दुःख

आत्मा अखंड, एक रस, ज्ञान स्वरूप है किन्तु जब यह जीव देह संघात् उपाधियों के साथ तादात्म्य भाव बना लेता है तभी दुःख होता है । अतः इन उपाधियों के साथ न मिले तो दुःख कभी नहीं हो सकेगा ।

उपाधियाँ स्वप्न की तरह असत् है, किन्तु उपाधियों को धारण करने वाला, उपाधियों का प्रकाशक, स्वप्न का प्रकाशक, स्वप्न साक्षी असत् नहीं है, वह सत ही है । उपाधियाँ रहे या नष्ट हो जावें किन्तु उपाधि वाले को दुःख नहीं हो सकता जब तक कि वह इन उपाधियों के साथ तादात्म्य भाव स्थापित न करें । उन पर के धर्मों को अपना अर्थात् स्वधर्म न माने तो प्रकाशक को कभी प्रकाश्य वस्तु दुःख नहीं पहुँचा सकती । अपने को कर्तापन भोक्तापन से रहित जानकर जो कर्म होगा, वह कभी भी दुःखी नहीं कर सकेगा । मेरा सम्बन्ध कार्यों से नहीं क्योंकि कार्य उपाधियों का धर्म है । जैसे बिजली का धर्म ठन्डा, गर्म, रूप, शब्द, प्रकाश उठाना, खींचना, तोड़ना, जोड़ना, उड़ाना आदि नहीं, यह सब बिजली से चलित यंत्रों का काम है । बिजली कुछ नहीं करती है । इसी प्रकार समस्त क्रिया देह, प्राण, इंद्रिय एवं अंतःकरण द्वारा होती है । निर्गुण, निराकार, पूर्ण आत्मा में स्वतः कोई क्रिया नहीं है । क्रिया उपाधि से ही होती है ।

मैं तो बुद्धि का साक्षी हूँ । साक्षी का किसी भी साक्ष्य से सम्बन्ध नहीं होता । वह तो केवल बिना किसी के पक्षपात किए गवाही दे देता है । अतः मैं बुद्धि के द्वारा जानने अथवा न जानने का भी साक्षी हूँ । इसलिए मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

लेकिन ''मैं कूटस्थ हूँ'', ''मैं साक्षी हूँ'', ''मैं आत्मा हूँ'', इस प्रकार का जप, रटन भी नहीं करना है । यह तो अनुभव वाक्य है 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्' । यह उच्चारण का वाक्य नहीं जैसे भोजन करने पर तृप्ति यह अनुभव है, कहने बताने दिखाने की अवस्था नहीं है ।

प्रारम्भ में दृश्य अनित्य पदार्थ से तादात्म्यता तोड़ने के लिए यह सिखाया जाता है कि तुम संगवान् नहीं असंग हो, कर्ता नहीं अकर्ता हो, मृत नहीं अमृत हो, जन्मा नहीं अजन्मा हो, बद्ध नहीं मुक्त हो । साक्ष्य नहीं साक्षी हो । यह प्रारम्भिक अवस्था तो तुम्हारी सत्य के प्रति रुची पैदा करने के साधन थे । जिज्ञासु इन साधनों को ही साध्य, मार्ग को ही मंजिल मान लेता है । अतः हमें तो अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव होना चाहिए । मैं साक्षी हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, यह सब तो मन का ही संकल्प है, बुद्धि का ही निश्चय है । मैं तो साक्षी भाव का भी साक्षी हूँ । खाली रटने से एवं देहभाव में जकड़े रहने से काम नहीं बनेगा । जैसे सिनेमा के कलाकार चोर, डाकू, शुद्र, वैश्यादि का अभिनय करते हैं किन्तु वास्तव में वे अपने को कलाकार जानते हैं ।

स्वरूप के जानने में न कष्ट है, न कठिनाई न अभ्यास की जरूरत है क्योंकि यह अपना आप है । अपने घर में आना ही सुखद होता है, अन्य के घर में जाना ही कठिन है । उपासना आदि कर्म करना कितना कठिन है कितनी विधि-निषेध भी है । इस प्रकार करो, इस प्रकार बैठो, इतने प्रकार के फूल, फल, पत्ते, घास भोग सामग्री रखो । परंतु अपना आप जो नित्य स्वरूप है एवं मैं रूप से नित्य प्राप्त है, वहाँ कोई विधि निषेध नहीं है । लेकिन हमने परधर्म में तादात्म्य कर लिया है, इसलिए स्वधर्म में टिकना कठिन-सा लग रहा है ।

अंतःकरण उपाधि से विषय तो जानने योग्य है क्योंकि हमसे दूर है एवं स्वरूप तो जानने वाला भी नहीं वह तो ज्ञान मात्र है । जानना न जानना तो बुद्धि का धर्म है । मैं तो बुद्धि के जानने न जानने का भी प्रकाशक हूँ । जहाँ जानने वाली बुद्धि नहीं होती वहाँ मैं निरुपाधिक ब्रह्म प्रकट हो जाता हूँ, झलक जाता हूँ, जैसे सुषुप्ति अवस्था में ।

स्व का जानना नहीं बनता । जानना उसका होता है, जो अपने से दूर हो, भिन्न हो । यह तो इतना समीप है कि अपना आप है, पास से पास अर्थात् स्वयं ही है । दूसरा नहीं । जब आप ही हैं तो फिर जानें क्या और किसको जानें ?

मैं ही ब्रह्म हूँ ऐसा जान कर फिर यही बात अन्य से मत पूछो । ''क्या यही मेरा स्वरूप है'' यदि पूछ रहे हो तो बुद्धि ही आगे आगई जिसे हम काट रहे हैं । किसी अन्य से अपना निर्णय मत कराओ । यदि पूछने लग गये कि मेरा तो यह चिंतन सब समय चलता है कि मैं द्रष्टा, साक्षी ब्रह्म हूँ तो यह भाव भी चला जावेगा । संदेह मत करो अपने आप पर । बस आत्मा होकर रहो । अन्यथा वही बात होगी जो एक ब्राह्मण को देवी कृपा से मणि मिल गई थी फिर लोगों को दिखा-दिखाकर पूछने लगा कि क्या यह असली मणि हो सकती है ? यदि इतनी सरलता से असली मणि मिल जाती तो सभी सुखी धनाढ्य हो जाते हैं । बस ऐसा विचार करते ही असली मणि खो गई एवं नकली कांच मणि को असली जान उठा लिया एवं परिणाम में दरिद्रता से महान दुःख को प्राप्त हुआ ।

समाधि क्या है ?

हानि-लाभ, जय-पराजय, मानापमान, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में बुद्धि का समान हो जाना ही समाधि है । समाधि का अर्थ यह नहीं कि बुद्धि जड़ता को प्राप्त हो जावे । बुद्धि से जो-जो सोचा, माना, विचारा जावे वह पर प्रकाश्य होने से मिथ्या है । आत्मा इनका प्रकाशक होने से प्रकाश्य बुद्धि एवं उसके कार्य से असंग है । तब ऐसा ज्ञानी लाभ-हानि, मान-अपमान, सुख-दुःख, चंचल-शांत बुद्धि के धर्म जान उन समस्त द्वन्द्वों का मात्र साक्षी, प्रकाशक ही अपने को जानता है । इसी को सम या बुद्धि की लय अवस्था मानी जाती है । क्योंकि बुद्धि स्वयं मिथ्या है तो उसका किया भेद भी मिथ्या ही है यही बुद्धि का लय या सम होना है ।

सम बुद्धि का यह अर्थ कदापि न समझें कि वह स्वर्ण को मिट्टी रूप जानें । सम बुद्धि पुरुष ग्राह्य-त्याज्य, गरम-थण्डा, खट्टा-तीखा, कड़वा-मीठा, सफेद-काला, सुगन्ध-दुर्गन्ध का भेद ठीक ठीक जानता हो । यह जो इन्द्रियों के विषय को ठीक नहीं जानता है यह बुद्धि का मुढ़ अवस्था जानो यह समाधि नहीं है । यह तो रूग्ण अवस्था है ।

सम बुद्धि वाला दुःख को सुख रूप एवं सुख को दुःख रूप नहीं जानता । न ऐसा ही है कि यह दुःख रूप शूल मुझे सुख रूप फूल लगे । अथवा ये आँख रूप न देखे, यह कान शब्द न सुने, मन संकल्प विकल्प और बुद्धि निश्चय न करे, ऐसा भी नहीं सोचता है ।

सम कर के जानना तो है पर सम कर के बरतना नहीं है । न जलन शीतल हो सकती है, न शीतलता उष्ण रूप हो सकती है । दोनों के धर्म विपरीत हैं । उन्हें एक नहीं किया जा सकता । इन द्वन्द्व का बुद्धि से सम्बन्ध है बुद्धि को ही अनुभूल प्रतिकूलता प्रतीत होती है, आत्मा का इनसे सम्बन्ध नहीं है । न वह इन सुख–दुःख, चंचल–शांत द्वन्द्व से विचलित होता है ।

मैं असंग हूँ, मैं कूटस्थ हूँ, ऐसे सजातीय वृत्ति का भी वह अहंकार नहीं करता । क्योंकि उत्कृष्टता तथा निकृष्टता दोनों अवस्था भेद बुद्धि कृत है । आत्मा अखंड एकरस है । सहन करना, तितिक्षा आदि साधन ब्रह्मवित् ज्ञानी के लिए नहीं, क्योंकि साधन बुद्धि तक ही है । आत्मा स्वयं सिद्ध नित्य पदार्थ है ।

किसी ब्रह्म ज्ञानी को बड़ा से बड़ा विक्षेप विचलित नहीं कर पाता एवं किसी ब्रह्मवित् को थोड़ा–सा कष्ट भी विचलित कर देता है, यह ब्रह्म ज्ञान का फल नहीं ब्रह्माभ्यास का अंतर है । जैसे कोई दो तोला अफीम खा जाता है, उसे कुछ नहीं होता, कोई जरा–सी खा लेने से मुर्च्छित हो गिर जाता है । यह अभ्यास का फल है । इसी प्रकार दृढ़ अभ्यासी को संसार के कष्ट स्पर्श नहीं कर पाते हैं । अन्यथा अनाभ्यासी को जरा–सी बात सुन घबराहट हो जाती है ।

विषयों में असत्य बुद्धि और उनसे उपरामता कर पुनः ग्रहण करने के लिए व्याकुलता न होना ही समाधि है ।

यदि कोई कहे कि ज्ञान होने के बाद सुंदर–असुंदर भेद क्यों दिखता है ? तो ज्ञान होने से क्या ज्ञानी की आँख फूट जाती है ? जो मिट्टी, सोने में भेद न देखे या सोने को मिट्टी, मिट्टी को स्वर्ण देखे । यह सब वृत्ति का काम है जो भेद देखती है या एक रूप मान लेती है । देखना तो उन–उन इन्द्रियों का काम है । उन्हीं में उनके काम को छोड़ दो, तुम उनके धर्मों को अपना न मानो । अपने को क्रियावाला मत जानों । तुम अपने को असंग साक्षात् ब्रह्म जानों ।

आँख, कानादि इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि की क्रियाओं में जो अहं भाव कर्ता–भोक्ता भाव का त्याग करना वास्तविक यज्ञ है, जो मानव को

पावन बनाता है । यदि इन्द्रियों की क्रिया से अपने को अप्रभावित रहना नहीं सीखा तो कुछ नहीं किया । इंद्रियों की क्रिया करने को नहीं रोकना है, बल्कि उन क्रियाओं को मिथ्या निश्चय कर लेना ही 'नित्य समाधि' है ।

ज्ञानी निंदा-स्तुति में सम रहता है । इसका यह मतलब नहीं कि वह गाली सुनता नहीं या गाली को स्तुति रूप जानता है । बल्कि ज्ञानी यह जानता है कि गाली साकार अनात्म शरीर को ही कोई देखकर दे सकता है मुझ निराकार आत्मा को कोई गाली कैसे दे सकेगा ? निंदा मेरी नहीं है, शरीर की हो रही है ।

ज्ञानी को धीर होना चाहिए । जरा-जरा सी बात से घबरा जावे, डर जावे, वह ज्ञान नहीं । एकाग्रता हो या विक्षेप दोनों का मैं प्रकाशक हूँ, इन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । स्वप्न में सत्संग हो या कोई घोर पाप हो, जागने पर क्या फल ? दोनों ही स्वप्न है । जो जाग्रत अवस्था के अनुकूल या प्रतिकूल अवस्था के व्यवहार को देख कर भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता वही धीर है ।

मन का विसर्जन

मन के रहते शांति कहाँ ? वस्तुतः मन ही अशांति है । मन के द्वारा सम्पादित क्रियाओं द्वारा मन निर्बल नहीं हो सकता, बल्कि मनन, अध्ययन, विचार उसे और सबल बनाने में सहयोग करेंगे । क्योंकि वे सब क्रियाएँ मन के द्वारा ही होती है ।

शांति चाहिए तो मन को खोना पड़ेगा, मन की अनुपस्थिति ही शांति है और वह मन की अनुपस्थिति साक्षी भाव (विटनेसिंग) से ही होगी । प्रत्येक क्रिया के साक्षी रहो । कर्ता रहित कर्म एवं भोक्ता रहित भोग होना ही वास्तविक योग है । **'समत्वं योग उच्यते'** -२/४८ : गीता । आप केवल हर पल साक्षी रहें । देह संघात् की क्रियाओं को ऐसे देखें जैसे आपके समक्ष कोई और ही कर रहा है । आप उसके कर्ता न बनें । सदा साक्षी रहो । जो भी हो साक्षी होकर जीयो । मात्र गवाह होकर रहो । कर्ता भाव ही मन का भोजन है तथा अहंकार ही मन का ईंधन है । मन को दोनों न मिले तो मन निर्मूल हो जावेगा ।

कल्पना से कल्पना कटती है किन्तु कल्पना करने वाला मन नहीं कटता । काटना कल्पना को नहीं बल्कि कल्पना करने वाले मन को काटना है । कुछ भी करें मन कटता नहीं । उत्तरोत्तर सबल ही होता है । क्योंकि सब करना उसी की क्रिया है । हमें जाना है मन के पार । और मन के पार जाना मन को सबल करके नहीं हो सकता । गुरुत्वाकर्षण के पार जाना है तो उसे निर्बल, निर्जीव बनाकर ही जाना होगा । वह होगा न करने से, अक्रियता

से । न करना अर्थात् बस होना कि हम हैं मात्र और कुछ नहीं कर रहे । तभी जागरण आता है । जो कि ध्यान है ।

ध्यान में मन नहीं है, ध्यान अमन है । विचार अच्छे हों या बुरे दोनों अवस्था में मन का जीवित रहना आवश्यक है । और यह मन का बचा रहना ही अशांति है । मन संसार में ले जाने का एवं अमन परमात्मा में, सत्य में ले जाने का वाहन है ।

साधारणतः मनुष्य सोया-सोया ही जीता है । स्वयं की स्मृति ही जागृति है । और स्वयं की विस्मृति की निद्रा है । सजगता से तात्पर्य है बस जागना । पल पल जीयो, साक्षी भाव में । ऐसे जीयो कि कोई स्थिति स्वयं का, साक्षी का विस्मरण न करा सके । उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, ग्रहण-त्याग, शुभ-अशुभ, हानि-लाभ, क्रिया या विश्राम के समय 'स्व' न भूलें । मैं हूँ साक्षी इसकी सतत चेतना, ध्यान बना रहे । फिर धीरे-धीरे मैं मिट जाता है और मात्र हूँ रह जाती है । क्रोध, कामादि विकार आवे तो जानों बस मैं साक्षी हूँ । क्रोधादि विकार मिट जावेंगे । क्योंकि कर्ता भाव ही विषयों के ग्रहण का भोजन है । साक्षी भाव ही मैं कर्ता की मृत्यु है । क्रोध, कामादि केवल निद्रा में ही प्रवेश करती है । विचाार कोई भी उठे, तो जानों मैं हूँ । तो विचार विदा होने लगेंगे, क्योंकि वे बिना कर्ता के सहारे कैसे उठ सकेंगे ? साक्षी के साथ विचारों का जीवन नहीं, वहाँ तो उनकी मृत्यु ही हो जाती है । कर्ता भाव ही में सब का जीवन है । और जब मन से काम, क्रोधादि विकार मिट जावेंगे, तब विदा हो जावेगा अहंकार 'मैं' । फिर जहाँ मैं नहीं वहाँ जो बचा रहेगा वही ब्रह्म है ।

जब प्रत्यंचा पर कोई तीर चढ़ता है और छोड़ा जाता है तो लक्ष्य की ओर बढ़ते-बढते लक्ष्य को बेंध देता है, लक्ष्य की छाती में चुभ जाता है, तब वह प्रत्यंचा से दूर हो जाता है । तीर में एक तरफ बढ़ने की क्षमता है दोनों तरफ नहीं ।

हमारा मन भी एक तीर की तरह है जिस लक्ष्य की ओर जाता है, वहीं अटक जाता है । फिर ध्यान भीतर आत्मा की ओर प्रत्यंचा की ओर नहीं रहता । सुंदर रूप दिखाई पड़ा, मन तीर भागा एवं रूप में घुस गया अब आप

अपने को पूरा भूल गये । अब आप बेहोश हैं । आपको अपना ध्यान न रहा कि मैं जान रहा हूँ, मन रूप में जा फँसा है ।

ध्यान का तीर दो तरफ हो सकता है । अगर आप यह काम कर सके कि कोई सुंदर रूप दिखाई पड़े ध्यान उस पर गया, आपने ध्यान को उस बाह्य पदार्थ व्यक्ति रूप पर जाते देखा और साथ-साथ आप का ध्यान अपने भीतर भी मुड़ जाये जहाँ से यह ध्यान छूटा है । जिस ओर से वह स्रोत एवं जिस लक्ष्य की ओर जा रहा है दोनों बातें हमारे लक्ष्य में आ जावे तो आपको पहली बार समाधि का, साक्षी का पता लगेगा । साधारणतः व्यक्ति एक तरफ जाते हुए जानते हैं कि हमारा ध्यान बाहर वस्तु, दृश्य, रूप में बार-बार जाता है किन्तु हम उस ओर का विचार नहीं कर पाते हैं जहाँ से यह पैदा होकर लक्ष्य की ओर बढ़ता है । जिस स्रोत से, जिस चैतन्य के सागर से निकलता है, उसका हमें कोई भी पता नहीं चलता है ।

ऐसे समझें मैं बोल रहा हूँ तो आपका ध्यान का तीर मेरे शब्दों में लगा है । अब इस श्रवण को ही दोहरा तीर बना लेवें । जब मैं बोल रहा हूँ तो आप केवल वही न सुनें जो मैं बोल रहा हूँ, यदि आप उतना ही ध्यान दे रहे हैं, जो मैं बोल रहा हूँ तो फिर आपका ध्यान का तीर एक तरफ ही बढ़ा । दूसरी ओर का होश नहीं रहा, जहाँ से यह ध्यान पैदा होकर मेरे बोलने के शब्दों तक गया है । अतः आप दोहरा तीर बनायें । आप यह भी स्मरण रखें कि मैं सुन रहा हूँ । बोलने वाला कोई और है जो आपके सामने है लक्ष्य और में इधर सुन रहा हूँ । सुनें एवं सुनने वाले के जो भीतर है, उसका भी ख्याल करलें बोलने की जरूरत नहीं कि मैं सुन रहा हूँ । केवल ख्याल कर लें कि मैं सुन रहा हूँ कोई बोल रहा है तो यह दूसरा बिंदु हो गया ।

यह दूसरा बिंदु पाना कठिन है क्योंकि मन सदा लक्ष्य के चिंतन में ही खोया रहता है । सद्गुरु कृपा से मन दूसरा बिंदु जब पा जाता है तो तीसरा बिंदु जो साक्षी का है वह स्वयं प्रकट हो जाता है । वह तीसरा बिंदु यह है कि एक बोलने वाला 'अ', सुनने वाला 'ब' है फिर आप इन दोनों के जानने वाले तीसरे बिंदु 'स' है, जो कि दोनों को अनुभव करने वाला हैं, बोलने वाले को और सुनने वाले को भी । आप तीसरे हो गये । कभी आप कहते भी

हैं कि यह क्या बोल रहा सुनाई नहीं पड़ता या समझ में नहीं आता । तो आप तीसरे हैं जो सुनने समझने वाले को भी जानते रहते हैं । यह जो तीसरा बिंदु है वही साक्षी है । यही जीवन का त्रिकोण है । त्रिपुटी है । विषय और विषयी को जानने वाला साक्षी है । देह वृक्ष पर दो पक्षी है । एक जो भोगता है वह जीव है और जो एक जानता है, वही तुम हो ।

साक्षी में द्वैत मौजूद है । साक्षी अपने को अलग मानता है और जिसे जान रहा है उसे अपने से पृथक् दूर अन्य मानता है । अगर प्राणों को भूख लगी तो वह साक्षी-भाव वाला ज्ञानी कहता है भूख मुझे नहीं लगी, प्राणों को भूख लगी और मैंने जाना । अज्ञानी अपने को ही भूखा-प्यासा मानता है ।

साक्षी की साधना में 'जानने' एवं 'होने' में द्वैत है । अतः साक्षी की साधना लक्ष्य प्राप्ति में अनिवार्य साधन है किन्तु साध्य नहीं । जो साधक साक्षी पर रुक जायेंगे वे एक तरह के द्वैत भाव में ही खड़े रह जायेंगे । वे जगत् को पुरुष-प्रकृति रूप में तोड़ देंगे, चेतन एवं जड़ । चेतन वह जो जान रहा है, जड़ वह जिसे जाना जा रहा है ।

साक्षी भाव वाला साधक ही एक कदम आगे बढ़ाकर सब कुछ स्वीकार की स्थिति में तथाता को उपलब्ध हो जाता है । साक्षी भाव ही जिसने नहीं जाना, दर्द, सुख, भूख, शरीर, मन, इन्द्रिय से ही जिसने अपने को पृथक् नहीं जाना वह सर्व स्वीकार की स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकेगा । जो अपने को दर्द से भूख से सुख-दुःख से अलग जान लेगा वही दूसरा कदम उठा '**एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म**', '**नेह नानास्ति किंचन**' तत्त्व को उपलब्ध हो सकेगा ।

सर्व स्वीकार बड़ी ऊँची अवस्था है । तथाता का मतलब कोई द्वैत नहीं । न कोई जानने वाला है न कोइे जानने में आने को है । या जो जानने वाला है वही जाननें में भी आ रहा है । वही जान भी रहा है । 'The knower is the known'

अब ऐसा नहीं कि भूख अलग, भोजन अलग एवं जानने वाला अलग । नहीं अब ऐसा कुछ नहीं है । भूख का लगना, भूख का पता चलना भोजन का करना सब होगा और सब एक ही के परियाय वाची नाम है ।

साक्षी ही स्वप्न में जैसे नाना प्रपंच रूप हो जाता है वहां कुछ नानात्व नहीं है । इसी प्रकार यहाँ एक ही चैतन्य मन, बुद्धि, चित, अहंकार, भोक्ता होकर पाँच इन्द्रियों श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण रूप से पाँच रूप में भास रहा है और वही शब्द, स्पर्श, रूप आदि पाँच विषय होकर ग्रहण कर रहा है ।

वह जो है वह है । 'जो है' उसकी परम स्वीकृति उसमें कोई भेद नहीं है । लेकिन साक्षी हुए बिना तथाता आत्मा तक नहीं पहुँच सकता ।

जैसे स्वप्न साक्षी का भाव गहरा हो जावे तो फिर मैं पृथक् कुछ नहीं बचता । तब सब स्वप्न ही वह हो जाता है । इसी प्रकार साक्षी पृथक् नहीं है, वह ही सूर्य, चंद्र, तारे, पवन, वृक्ष, नदी, पहाड़, पशु, पक्षी, पौधा, फूल, फल एवं मिट्टी धातु आदि सर्व जगत् हो रहता है । ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' यह पूर्णता की स्थिति पर पहुँचा हुए सिद्ध पुरुष का ही अनुभव है ।

साक्षी में, मैं व तू का भाव रहता है । 'जस्ट अवेयरनेस' में 'मैं' और 'तू' का भाव भूल गया है । न अच्छा न बुरा, सिर्फ होने का भाव रह गया है ।

तुम साक्षी हो

क्रोध आता है, लोभ आता है, मोह आता है, भय आता है, राग-द्वेष आता है, यह सब गुण बुद्धि के हैं, आने-जाने वाले क्षण भंगुर हैं । इनके होने की शिकायत मत करो, चिंता मत करो, इन्हें हटाने की चेष्टा मत करो, इन्हें आने से मत रोको । क्या तुम्हारे मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष चौविसों घण्टों रहते हैं ? नहीं । कभी - कभी । फिर ये भिक्षुक अतिथि तुम्हारे मालिक नहीं है । २४ घंटे फिर जो रहता है तुम उसकी चिंता करो । जो इनके आने-जाने को देख रहा है । जो निरंतर है, वह सत्य है, वही तुम हो 'तत्त्वमसि' श्वेतकेतो । यह तो पक्षी है मन गृह में एक खिड़की से आये हैं कुछ क्षण अपना नृत्य दिखा निकल जाने वाले हैं । बादल वत् वृष्टि कर चले जाने वाले हैं । तुम आकाशवत् अचल साक्षी हो ।

जो समस्त द्वन्द्वों में सतत है, सबल है, उसकी चिंता करो । जो कभी है, कभी नहीं है, वह तो तरंग मात्र है, उनकी सत्ता ही नहीं है । उस पर ज्यादा ध्यान मत देना । शांति-अशांति, आलस्य-नींद पर मत अटकना, चंचल-शांति के जाल में मत फँसना । ध्यान-जप को साध्य मत बनाना, जो कभी होते हैं, कभी नहीं । जो आता, चला जाता है, निरंतर नहीं रहता है, वह तुम कैसे हो सकते हो ? क्या तुम यह भी कह सकते हो कि मैं कभी रहता हूँ कभी नहीं रहता हूँ ? नहीं । हम तो चौबिसों घंटों अखंड पहरेदार की तरह विद्यमान् ही रहते हैं, नींद एवं जागरण उदय एवं अस्त जिसके सम्मुख होते हैं, वह नित्य प्रकाश नित्य चेतन आत्मा मैं हूँ । तो बस जो सतत है, उसकी ओर ध्यान दो, उसकी चिंता करो, उसकी फिक्र करो । उसका होश धरो । यही ध्यान है, यही साधना है, यही कर्तव्य है, यही मार्ग है मुक्ति का, यही द्वार है मोक्ष का, यही वह ज्ञान है, जो कैवल्य है ।

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानान्ति यथा तथा
भ्रान्ता एवखिलवस्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ।। बराह उप. २/५७

अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को जो लोग जानते नहीं, वे सबके सब भ्रान्त लोग हैं । उन सबको यहाँ कैसी मुक्ति प्राप्त होगी ? कैसा सुख मिलेगा ?

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।। २/१५ : बराह उप.

जिस प्रकार अनेक जन्मों के दृढ़ संस्कारों से अज्ञानी व्यक्ति मैं देह ही हूँ, ऐसा मानता है । उसी प्रकार मैं आत्मा हूँ ऐसा जो निष्ठापूर्वक दृढ़ता से जानलेता है, वह मुक्ति की इच्छा न करते हुए भी मुक्त है ।

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ।।२/१७ : बराह उप.
सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ।। २/१८ : बराह उप.

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप त्रिधामों का साक्षी, सत्यस्वरूप, ज्ञान स्वरूप, आनन्दादि स्वरूप **त्वं** और **अंह** पद के लक्ष्यार्थ और सर्व दोषों से असंग, सर्वव्यापक, ऐसे सच्चिदानन्द आत्मा का दर्शन तो जिसको ज्ञानरूप नेत्र प्राप्त है, वही कर सकता है । मगर दोपहर के प्रचण्ड चमक वाले सूर्य को भी अन्धा नहीं देख सकता, वैसे ही जिसके ज्ञान चक्षु प्राप्त नहीं हुए हैं वैसा अज्ञानी परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकता है ।

नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ।१०/४ जाबालदर्शन उप.
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ।। १०/५ जाबाल दर्शन उप.

मैं देह नहीं हूँ, न मैं प्राण हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ, न मैं मन हूँ, मैं तो एकमात्र सदा साक्षी रूप होने से केवल हूँ । इस प्रकार की बुद्धि को सहज समाधि कहते हैं ।

साक्षी की खोज

जो मन के पीछे है, जो मन का प्रकाशक है, वह मन की किसी भी क्रिया द्वारा नहीं जाना जा सकेगा । मन उसी को जान पाता है, देख पाता है, सोच पाता है, जो मन के आगे होता है । आँख उस सब को तो देख पाती है जो आँख के आगे आ जाता है, किन्तु आँख उसे नहीं देख सकेगी जो आँख के पीछे सदा उपस्थित है, जो आँख का द्रष्टा है, उसे आँख दृश्य की तरह नहीं देख सकती ।

आप माला करें, पूजा करें, ध्यान करें, जप करें, समाधि करें, वह सब मन से ही होता है । हम जो भी करते, देखते, जानते, सोचते, विचारते हैं, वह सब मन से ही होता है । ग्रंथ पढ़ें तो भी मन से होगा, किन्तु हम आत्मा को जानना चाहेंगे तो वह मन के पीछे की घटना है, मन के पीछे की अवस्था है । मन के पीछे की उपस्थिति है, उसे मन के द्वारा सम्मुख नहीं जान सकेंगे । इसके लिए हमें मन के ऊपर जाना होगा । मन की कोई भी क्रिया मन के बाहर नहीं कर सकेगी, वह मन के भीतर रखेगी । साक्षी भाव ही आत्मा में प्रतिष्ठित कर सकता है । बस यही एक ऐसी सत्ता है जो मन का अंग नहीं है ।

स्वप्न अवस्था, जाग्रत में झूठ सिद्ध होती है एवं जाग्रत स्वप्न में झूठा हो जाता है । किन्तु इन दोनों परिवर्तनों का को साक्षी है वह कभी झूठा नहीं है, वह सत्य है और वह तुम हो । बचपन, किशोर, यूवा, प्रौढ़, वृद्धावस्था के परिवर्तनों का जो साक्षी है, वह अचल है । वह न तो अवस्था

के साथ आया न अवस्था बदलने से जाता है। वह उदय–अस्त से रहित ही बना रहता है । मन में सुख–दुःख तो आता–जाता है किन्तु इन अवस्था को जो देखता है, जानता है, वह मन व उसके धर्म के साक्षी–आत्मा तुम हो । जो आपके भीतर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था को जानने वाला है, वह जो साक्षी सतत मौजूद है, वही तुम हो । वह जो देखने वाला, जानने वाला तत्त्व है, वह हमारी समस्त क्रियाओं से अलग है ।

साक्षी आपका स्वभाव है, आपका स्वरूप है । आप साक्षी को नहीं देख सकेंगे । जिसे देखेंगे आप तो उसके साक्षी ही रहेंगे एवं जो दिखाई पड़ेगा, वह दृश्य अनात्मा आप से अलग साक्ष्य हो जावेगा । जिसको आप जानते हैं, उससे आप अलग हो जाते हैं । क्योंकि जो दिखायी पड़ रहा है, वह आप से अलग सामने की तरफ उधर होगा और देखने वाले आप उससे इधर होंगे । जब आप का साक्षी भाव पूर्ण रूप से जाग्रत हो जावेगा तब मन जैसे कोई सत्ता भी दिखाई नहीं पड़ेगी ।

एकाग्रता ध्यान नहीं है । ध्यान का अर्थ है सम्पूर्ण स्वीकृति । एकाग्रता में टकराहट है मन के साथ एकाग्रता में तनाव है । ध्यान है विश्राम । एकाग्रता है क्रिया, क्रिया में अशान्ति ही होती है । एकाग्रता का मतलब है सब जगह छोड़कर एक जगह लगाना । जबरदस्ती रोकना । मन भागना चाहता है आप उसे रोकना चाहते हैं । जहाँ लड़ाई है, वहाँ शांति कहाँ ? वहाँ ध्यान कहाँ ? मन से भूलकर शत्रुता मत करना, लड़ना मत । मन को विश्राम देना होगा ।

मन जैसा है उसमें राजी हो जाना । अगर आप नाराज हैं, दुःखी है, शिकायत है, उसके चिंतन से, तो फिर ध्यान नहीं, विश्राम नहीं है । मन जैसा भी है, उस में राजी हो जावें, चाहे सुखी हो या दुःखी, कामी है या क्रोधी, चंचल है या शांत उससे लड़ाई मत करना । जैसा चाहे करना, करने दो, भागना चाहता है, गाना चाहता है, नाचना चाहता है, सोना चाहता है, आप उसे पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ दें और आप केवल उसे चुपचाप देखते रहें । जो कर्म करना चाहे करने देना । एक घंटे कुछ न बोलना । बाहर भी नहीं, अन्दर भी मत बोलना कि ऐसा तो नहीं करना चाहिए था, किन्तु अब एक घंटे यह जो

भी करेगा वह चुप हो सहना पड़ेगा क्योंकि मुझे एक घंटा बोलना नहीं है, पर यह बात तो मन की ठीक नहीं है, ऐसा भी मन में न सोचना । जीवित ही मुर्दा बन जाना एक घंटा रोज तो फिर आप देखेंगे कि साक्षी प्रकट हो गया । जो हो रहा है, उसे होने देना, उसे होने से रोकना नहीं । जब सब होता रहे और हम बिना कोई चुनाव किए होते रहने दें तो तत्काल तुम उस क्रिया, विचार, अवस्था के साक्षी हो जाते हो । जब तुम कर्ता हो जाते हो तो वहाँ साक्षी खो जाता है । जहाँ कर्ता भाव नहीं जगा, वहाँ तत्काल साक्षी का भाव जग जाता है, प्रकट हो जाता है । साक्षी हो जाना ही ध्यान है । साक्षी कोई क्रिया नहीं है । एकाग्रता तो ध्यान नहीं हो सकता । क्योंकि तुम उसके लिए प्रयत्न करते हो, कर्ता हो जाते हो । तुम्हारे द्वारा किया गया, तुमसे बड़ा नहीं हो सकता । साक्षी हो जाना ध्यान है, इससे ज्यादा ध्यान कुछ नहीं है ।

ध्यान करने की कोशीश मत करना, बल्कि ध्यान को होने देने की अवस्था में सहयोग करना । जैसे नींद लाने की चेष्टा नहीं की जाती है, नींद के उतरने हेतु बिस्तर, पंखा, सर-पैर, दबाना, मालिस आदि क्रिया की जाती है, नींद स्वयं उतरती है । कोई पूछे ध्यान नहीं हो रहा है, मैं रोज चेष्टा कर रहा हूँ, तो इसे ध्यान कभी नहीं होगा । जैसे कोई व्यक्ति नींद लाने हेतु दंड, बैठक, दौड़ करते रहेंगे तो वह कभी भी नहीं सो सकेगा । साक्षी होना ही ध्यान है । किन्तु तुम यह सोच लो कि साक्षी हो जावें, बड़ा आनन्द आवेगा तो फिर तुम साक्षी नहीं हो सकोगे । तुम कर्ता ही रह जाओगे । तुम आनन्द ब्रह्म को जड़ पदार्थ की तरह भोग्य वस्तु बना स्वयं उसके भोक्ता बनना चाह रहे हो, यह तुम्हारी भ्रान्ति है, ब्रह्मानंद भोग्य नहीं है ।

श्वाँस के साक्षी

श्वाँस का ध्यान रखना, ध्यान के लिए प्रथम एवं महत्वपूर्ण चरण है । श्वाँस से ध्यान का द्वार खुल जाता है । कुछ और करने की जरूरत नहीं । अगर कोई साधक पूरे समय या जब भी उसे ख्याल आ जावे श्वाँस के प्रति होश से भर जावे कि यह श्वाँस भीतर जा रही है, यह श्वाँस बाहर आ रही है, तो तत्काल एक दूसरा मार्ग भीतर खुलने लग जाता है । एक श्वाँस चल रही है और एक आप जो जान रहे हैं । होशियारी पूर्वक श्वाँस को देखना ।

जीवन में समस्त महत्वपूर्ण क्रिया, घटना एवं बात के लिए श्वाँस एक अनिवार्य द्वार है। श्वाँस के मार्ग से ही मृत्यु एवं श्वाँस के मार्ग से ही जीवन आता है । श्वाँस के मार्ग से ही ध्यान का जन्म एवं श्वाँस के मार्ग से ही समाधि होती है और श्वाँस के मार्ग से ही परमात्मा का अनुभव आता है । श्वाँस दो तरह से ली जा सकती है । एक अनजान अवस्था में मुर्च्छित अवस्था में तथा एक जाग्रत अवस्था में होश में श्वाँस प्रायः सभी लोग बेहोशी अवस्था में समाप्त कर रहे हैं । श्वाँस चल रही है चोविसों घंटों, जन्म से मृत्यु तक । किन्तु हमने कभी श्वाँस के गमनागमन पर ध्यान ही नहीं दिया । जो जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण निधि है, लेकिन हमने कभी ध्यान नहीं दिया श्वाँस पर । वह बिल्कुल ही अनजानी अवस्था में चुपचाप बह रही है । यदि हम श्वाँस के प्रति होश से भर जावें तो तत्काल ध्यान के आगमन का द्वार खुल जाता है ।

यदि आप श्वाँस मूर्च्छित अवस्था में ले रहे हैं तो आप ध्यान के रास्ते पर उतर नहीं पावेंगे, ध्यान में प्रवेश नहीं कर पायेंगे । होशपूर्वक यदि आप

श्वाँस पर अपनी दृष्टि रखें तो आपके व श्वाँस के मध्य द्वैत स्थापित हो जावेगा कि आप हैं व श्वाँस भी है ।

श्वाँस लंबी गहरी लें पूरी ताकत, पूरा मन इसी क्रिया में लग जावे । थोड़ा बाकी रह जावे तो उसे इस विचार में लगा दें कि मैं कौन हूँ ?

आपका श्वाँस के साथ एक होकर चलना नींद की अवस्था है, बेहोशी अवस्था है, मूर्च्छित अवस्था है । अभी श्वाँस और आप एक हैं । अभी श्वाँस दृश्य के साथ आप द्रष्टा आत्मा की गलत तादात्म्यता हो रही है । अगर कोई मजाक में आपकी नाक दबादे तो आप फौरन चिल्ला पड़ेंगे कि क्या मेरी जान लोगे । मुझे मार डालोगे क्या ?

अज्ञानी और ज्ञानी में एक ही फर्क है । जिसकी मैं और श्वाँस एक ही है, वह अज्ञानी है । अब जिसके लिये मैं और श्वाँस पृथक् हैं, जिसे अपने प्रति द्रष्टा साक्षी का बोध जाग्रत हो चुका है एवं श्वाँस के प्रति दृश्य का बोध जाग्रत हो गया है, वह है ज्ञानी की अवस्था । जिसे सद्गुरु कृपा के यह स्पष्ट बोध हो गया है कि मैं और श्वाँस अलग अलग हैं, ऐसे आत्म निष्ठावान् ज्ञानी की कभी मृत्यु नहीं हो सकती । लेकिन जब तक कोई ऐसा जानता रहेगा कि मैं और श्वाँस एक हैं, तभी तक उसे मृत्यु का भय बना रहेगा एवं उसकी मृत्यु होती रहेगी । जिस दिन वह जान सकेगा कि मैं श्वाँस नहीं हूँ, बल्कि श्वाँस के पीछे खड़ा चैतन्यात्मा हूँ, उस क्षण के बाद उसकी मृत्यु, मृत्यु नहीं, बल्कि उसे अमृत की उपलब्धि हो जावेगी । उसके लिए मृत्यु असम्भव हो जावेगी । श्वाँस टूटेगी वह जानेगा कि मैं हूँ केवल मेरी श्वाँस जा रही है । जैसे सुकरात को जहर पीने के बाद भी अंतिम श्वाँस तक अपने होने का होश था एवं श्वाँस के गिरने का होश बना था । सुकरात ने श्वाँस गति रुकने को अपनी मृत्यु स्वीकार नहीं किया था ।

जिस क्षण यह होश आ जावेगा कि हम श्वाँस से अलग हैं, उसी क्षण से यह भी बोध जाग्रत हो जावेगा कि मैं शरीर से भी अलग हूँ । क्योंकि यह शरीर श्वाँस लेने का भोजन पचाकर मल, मुत्र बनाने का एक यंत्र मात्र हैं । यह होश जाग्रत हुआ कि यह शरीर मैं नहीं, यह मेरा नहीं, तब उसके नाम, रूप, जाति, आश्रम, परिणाम, समस्त क्रिया एवं जन्म-मृत्यु के प्रति भी

अस्वीकार भाव जाग्रत हो जावेगा । यह सब भी मैं नहीं कि मेरे नहीं । मैं केवल साक्षी आत्मा इन सबसे न्यारा हूँ ।

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जो कुछ हमें पिता-माता, परिवार, समाज, जीवन निर्वाह कर्म क्षेत्र एवं सरकारी कर्मचारी पद से मिलने वाली उपाधियाँ मैं नहीं हूँ और वे सब मेरी अवस्था नहीं है, ऐसा निश्चय करने मात्र से जीव जीवन मुक्त हो जाता है । मुक्ति के लिये अर्थात् दुःखों से छूटने एवं अखण्डानन्द अनुभूति के लिये इस निष्ठा के अतिरिक्त अन्य कोई सहज मार्ग नहीं है ।

मनोनिरोध कैसे हो ?

मनोनिरोध के लिए आत्म विचार के अतिरिक्त और कोई वास्तविक श्रेष्ठ उपाय नहीं है । मंत्र, माला, पूजा, पाठ, कीर्तन, भजनादि अनेक साधनों द्वारा मन निरोध किया जावे तो, साधक को मन निरोध हुआ-सा प्रतीत होता है । किन्तु साधन छोड़ने पर मन की चंचलता पुनः बाहर निकलती है । उपरोक्त साधन मनोनिरोध में सहायक तो है, किन्तु मनोनाश नहीं कर सकते ।

प्राणायाम से भी मन का निरोध होता है । प्राण जब तक निगृहीत है, तब तक मन भी स्थिर रहता है एवं जब प्राण बहिर्मुख होते हैं, तब मन भी बहिमुर्ख हो जाता है । जब मन बहिर्गामी होता है, तब वह विषय वासना के वशीभूत होकर इधर-उधर भटकने लगता है । प्राणायाम द्वारा चंचल मन को एकाग्र करने से वह आत्म विचार करने मैं समर्थ हो पाता है ।

मन एवं प्राण दोनों का उद्‌गम स्थान एक ही है । जब मन का लय होता है, तब प्राण भी लय हो जाता है और जब प्राण लयता को प्राप्त हो जाता है, तब मन भी अपनी बहिर्मुखता, चंचलता, प्रवृत्ति को छोड़ अंतर्लीन हो जाता है । केवल गहरी नींद में मन लीन होने पर भी देह रक्षार्थ ईश्वर की कृपा से सामान्य प्राण क्रिया होती रहती है । अन्यथा घर के लोग मृत समझकर उसके देह को नष्ट कर देंगे ।

हाथी अपनी सूंड को इधर-उधर हिलाता रहता है कभी स्थिर नहीं रखता । यदि उसे लोह की जंजीर दे दी जाय तो वह उसी को ग्रहण किए रहेगा । इसी प्रकार सदा चंचल रहने वाले मन को भी किसी एक नाम एवं

रूप में लगा दिया जाय तो वह उसी को ग्रहण किये रहेगा । तब मन में फैलने वाले असंख्य विचार बलहीन हो जावेंगे । मन निर्मल हो जाने पर वह आत्म विचार में सुलभता से प्रवेश कर सकेगा । मन को स्थिर करने में सात्त्विक आहार का विशेष महत्व है । सात्त्विक मिताहारी व्यक्ति के मन में सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, जिससे आत्म विचार में सहायता मिलती है ।

दीर्घ कालीन अंधकार प्रकाश के उदय होते ही तत्काल विलीन हो जाता है । इसी प्रकार अनादि से चली आने वाली विषय वासनाएँ समुद्र तरंगों की तरह भले ही असीमित दिखाई दे, फिर भी वे सब आत्म ध्यान प्रगाढ़ होने से विनष्ट हो जाएंगी ।

मन समस्त क्रियाओं एवं विषय ज्ञान का आधार है । यदि मन लीन हो जावे तो जगत् दृष्टि भी दूर हो जाएगी । जैसे मंद अंधकार में सम्मुख पड़ी रस्सी में सर्प भ्रान्ति मन में उपस्थित हो जाती है एवं रस्सी प्रतीत नहीं होती । जब अधिष्ठान रस्सी का ज्ञान बुद्धि को होता है, तब सम्मुख दिखाई देने वाली सर्प भ्रान्ति मन से दूर हो जाती है । अज्ञान दोष से में जीव जगत् को भ्रान्ति होती है जब अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तब अध्यस्त जीव जगत् बुद्धि से विलीन होकर अधिष्ठान ब्रह्म सत्ता ही अनुभव गोचर होता है अर्थात् बुद्धि में कल्पित जगत् दृष्टि, देह दृष्टि रहने तक अधिष्ठान आत्मा का याने अपने आपका वास्तविक ज्ञान सम्भव नहीं होता । अपने वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिए 'मैं कौन हूँ' यह ज्ञान विचार ही मुख्य एवं श्रेष्ठ साधन है । इस साधन को ही निदिध्यासन कहते हैं । अर्थात् अनात्माकार वृत्ति को मन से विचार द्वारा हटाते हुए आत्माकार वृत्ति का सतत चिंतन करते रहने का अभ्यास करना ।

हे जिज्ञासु ! निश्चय करें कि यह, रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्ति, शुक्र धातु से बना चर्म से ढका हुआ स्थूल देह में नहीं हूँ । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध को भीतर ग्रहण कराने वाली द्वार रूप श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ज्ञानेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । वचन, दान, गमन, आनन्द एवं मल त्याग करने वाली वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ तथा गुद ये पांच कर्मेंद्रियाँ भी मैं नहीं हूँ । प्राण-अपान व्यान, उदान, समानादि पंच वायु एवं

इन की पंच क्रिया भी मैं नहीं हूँ । अंतःकरण की वृत्ति रूप मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी मैं नहीं हूँ । सर्व विषयों एवं सर्व क्रियाओं से रहित केवल विषय वासनाओं ये युक्त अज्ञान भी मैं नहीं हूँ । उपर्युक्त समस्त दृश्य विषय एवं देह संघात् भी 'मैं नहीं हूँ', 'मैं नहीं हूँ', 'नाहं इदं सर्वम्' इस प्रकार नेति-नेति की अवधि जो नेति-नेति वृत्ति का साक्षी शेष रहने वाला है, वह चैतन्यात्मा मैं हूँ । जिसकी सत्ता का कोई इंकार, अस्वीकार नहीं कर सकता । वही सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा मैं हूँ । यही श्रेष्ठ विचार है ।

जब तक मन में विषय वासनाएँ रहती है, तब तक मैं कौन हूँ ? यह विचारणा भी आवश्यक है । ज्यों-ज्यों विचार उठते हैं, त्यों-त्यों उनके उत्पत्ति स्थान हृदय में ही आत्म विचार द्वारा उन सबका नाश करना चाहिए । मन आत्म स्वरूप में रहनी वाली अद्भूत शक्ति है । वह समस्त विचारों को उत्पन्न करता है । समस्त विचारों को दूर हो जाने पर मन नाम की कोई वस्तु पृथक् नहीं रहती । अतः विचार ही मन का स्वरूप है । विचारों के अतिरिक्त जगत् कोई वस्तु नहीं है । सुषुप्ति में विचार नहीं है, क्योंकि वहाँ मन नहीं है, इसलिए वहाँ जगत् भी भासित नहीं होता । जाग्रत एवं स्वप्न में मन है इसलिए विचार है इसलिए वहाँ जगत् भी भासित होता है ।

जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्दर से तंतु बाहर कर फिर उसे अपने ही अन्दर खींच लेती है वैसे मन भी जाग्रत में अपने अन्दर से जगत् को प्रकट कर पुनः सुषुप्ति में अपने अन्दर लीन कर लेता है । मन जब तक ध्यान द्वारा या सुषुप्ति में आत्म स्वरूप में लीन रहता है, तब तक जगत् की प्रलय अवस्था रहती है । प्रारब्ध भोगार्थ मन जब आत्म स्वरूप से बाहर निकलता है तब जगत् प्रतीत होता है । अतः जगत् प्रतीत होते समय आत्मा होते हुए भी दिखाई नहीं देती । जब आत्मा प्रकट होता है, तब जगत् प्रतीत नहीं होता । मन ही सूक्ष्म शरीर एवं जीव कहलाता है । मन के स्वरूप को खोजने पर मालूम होगा कि आत्मा स्वयं ही मन है ।

इस देह में 'मैं यह स्थूल देह हूँ'यह अहं भाव उदित होता है वही मन है । मैं हूँ, यह विचार देह में प्रथम हृदय से उठता है । वही मन का उद्गम

स्थान है । निरंतर 'मैं कौन हूँ', 'मैं कौन हूँ' का विचार करते रहने से भी मन स्व स्वरूप आत्मा में जा पहुँचेगा । मन में उठने वाले विचारों में मैं का विचार ही सर्व प्रथम है । इस मैं रूप उत्तम पुरुष के जाग्रत होने पर ही तुम रूप मध्यम एवं वह, वे रूप अन्य पुरुष का प्राकट्य होता है । उत्तम पुरुष मैं के बिना तुम रूप मध्यम एवं वह रूप अन्य पुरुष प्रकट नहीं हो पाता ।

'मैं कौन हूँ' ? विचारणा से ही मन निरुद्ध हो सकता है । यह विचार ही मन को बहिर्मुखता से हटा आत्माभिमुख करने का सरल उपाय है । मैं कौन हूँ, मैं कौन हूँ, इस छोटे विचार से क्या मैं अन्य कुछ साधन किए बिना आत्म स्वरूप को उपलब्ध हो सकूँगा ? इस संदेहमय कुविचार के लिए अवकाश दिये बिना आत्म ध्यान अर्थात् सोऽहम् चिंतन में निरंतर श्रद्धा पूर्वक संशय रहित होकर लगे रहना चाहिए । मैं तो महान् पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ? इस प्रकार दीन,हीन, भाव न लाकर सतत सोऽहम् आत्म ध्यान में लगा रहने वाला व्यक्ति निश्चित मुक्त हो जाता है । जब मन निर्विचार रहता है, तब आनन्द का अनुभव करता है । जब दृश्य की ओर दौड़ता है तब दुःख भोगता है ।

जब तक मन में विषय वासनाएँ रहती है, तब तक मैं कौन हूँ ? यह विचारणा भी आवश्यक है । इस विचार द्वारा सभी अनात्म कुविचार नाश को प्राप्त हो जाते हैं । मैं उत्तम पुरुष का विचार छोड़, मध्यम् तथा अन्य पुरुष में श्रद्धा एवं ध्यान नहीं देना चाहिए । यही वैराग्य अथवा निस्पृहता है । अपना सतत ध्यान रहना कि मैं साक्षी, असंग, निष्क्रिय, अमरात्मा हूँ, यही एकमात्र वास्तविक ज्ञान है । इसके अतिरिक्त सब अज्ञान है ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

– गीता: १३/२

संसार में कुल दो ही तत्त्व है, वे हैं जड़-चेतन, दृश्य-द्रष्टा, अनात्मा-आत्मा, शव-शिव, पर प्रकाश-स्वयं प्रकाश, प्रकृति-पुरुष, अध्यस्त-अधिष्ठान, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ । इन दो के अतिरिक्त तिसरा तत्त्व नहीं है । जिसने इन दो में एक को भली प्रकार जान लिया तो दूसरा स्वतः सिद्ध हो जाता है कि

वह क्या है । यदि आपने जड़, दृश्य, शव, अनात्मा, परप्रकाश, क्षेत्र, प्रकृति को जान लिया तो फिर आप स्वतः चेतन, द्रष्टा, शिव, आत्मा, स्वयंप्रकाश, पुरुष, अधिष्ठान है क्योंकि जड़, दृश्य, शव, अनात्मा होने से नहीं जान सकेंगे । जानना, देखना, अनुभव करना चेतना आत्मा का ही धर्म है । और दोनों का पृथक् बोध होना ही श्रीकृष्ण मतानुसार ज्ञान है, और शेष सब अज्ञान है ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।।

– गीता: १३/११

सभी शास्त्रों में मुक्ति पाने हेतु मनोनश, मनोलय या मनोनिग्रह करना आवश्यक बतलाया है । इस सत्य को जानने के बाद व्यर्थ नाना शास्त्रों को पढ़ते रहना निष्प्रयोजनीय है । मनोनिग्रह करने के लिए 'मैं कौन हूँ' यह अपने आपका अन्वेषण करना ही एक मात्र परिपूर्ण, पर्याप्त, सफल साधन है । अपने को जाने बिना शास्त्र, ग्रंथों में रात-दिन लगे रहने से, यह सत्य का अन्वेषण नहीं हो सकेगा। मैं को अपने ज्ञान चक्षु से जान लेना चाहिए । क्या अपने को जानने के लिए दर्पण की आवश्यकता है ? अहं मैं जो पंच कोशों के भीतर अर्थात् पीछे है, शास्त्र ग्रंथ तो बाहर है, उनमें कैसे 'मैं' को खेजा जा सकेगा ? अतः अपने आत्म स्वरूप को, जो पंच कोशों के भी पार है, उसे पंच कोशों से भिन्न जानना चाहिए । उस निज आत्म स्वरूप को शास्त्रों, ग्रंथों में ढूंढना, खोजना, देखना अज्ञान ही है । अपने असंग, साक्षी निर्विकार आत्म स्वरूप को जान लेना ही मुक्ति है । सदा सर्वदा मन को आत्मा में सोऽहम् भावना में रखना ही आत्म विचार है । मैं सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ, इस प्रकार की भावना करना ही वास्तविक ध्यान है ।

एकमात्र आत्मा ही यथार्थ में अस्तित्व युक्त है । अर्थात् मैं आत्मा ही सर्वाधिष्ठान सर्व प्रकाशक, स्वयंप्रकाश निरुपाधिक सत्य हूँ । यह जगत्, जीव एवं ईश्वर मुझ आत्मा के अज्ञानता से ठीक उसी प्रकार बुद्धि में सत्तावान् हो बैठे हैं, जैसे सीप में चाँदी, रस्सी में सर्प, मरुस्थल में पानी, चंद्रमा में हरिन्, साक्षी में स्वप्न नगर, स्वर्ण में अलंकारों का अध्यारोपण हो रहा है ।

अज्ञानता से ये जीव, जगत् तथा ईश्वर तीनों एक समय में मुझ में दृश्यमान होते हैं । विचार काल में यह तीनों एक साथ, एक ही समय में मुझ में अदृश्यता को प्राप्त हो जाते हैं । मैं आत्मा ही जीव, जगत् तथा ईश्वर एवं शिवोऽहम् स्वरूप हूँ ।

शव को जलाने वाली प्रदीप्त लकड़ी, शव को जलाकर अंत में स्वयं भी नष्ट हो जाती है । इसी प्रकार 'मैं कौन हूँ' का विचार अन्य अनात्म विचारों का नाशकर अंत में स्वयं भी विनष्ट हो जाएगा । अन्य विचार उठने से ज्ञात हो जाता है कि आत्म विचार छूट गया है । उसे खींच कर आत्म विचार में लगाने के लिए मन से युद्ध न करो । बल्कि यह विचार करना चाहिए कि ये अनात्म विचार किसे उठा ? विचारने से मालूम होगा मुझे उठा । तब मैं कौन हूँ ? ऐसे विचार करने से मन उन बाह्य विषय चिंतन से हट आत्म चिंतन सम्बन्धी कार्य में लौट आएगा । मन सदा किसी एक विषय चिंतन का अवलम्बन बिना रह नहीं सकता है । जब-जब मन को बाह्य अनात्म विषय में भटकते देखें तो उसे उन विषय चिंतन से हटाने के लिए व्यर्थ अन्य चेष्टा न कर, मन्द बुद्धि के साधक को श्वाँस को सोऽहम् श्रवण ध्यान में लगावे अथवा यह विचारें कि यह विषय चिन्तन किसे उठा ? मुझको हुआ या मनको ? तब मैं कौन हूँ यह विचार करने मन जब चलेगा तो अन्य विषय स्वतः भूल आत्म चिंतन परायण हो आवेगा। **यह मन का आत्मा में लौट आना ही मनोनाश है ।** तब नाम, रूप, दृश्य, जगत् मन से तिरोहित हो जाते हैं । मन को आत्म ध्यान, सोऽहम् ध्यान में लगाये रहना ही अहंमुखता या अतंर्मुखता कहलाता है । यह सोऽहम् ध्यान ही स्व स्वरूप, आत्म ध्यान है । यही मन का वास्तविक मौन कहलाता है । इसी को ज्ञान दृष्टि कहते हैं । आत्म स्वरूप में मन को रखना ही निर्विकल्पता है । इसके विपरीत दूसरों के विचार जानना, त्रिकालज्ञता प्राप्त करना, दूर देशों में घटने वाली वार्ता को जान लेना किसी प्रकार का चमत्कार दिखाना, किसी को आशीर्वाद कर सफलता का विश्वास दिलाना आदि यह सब ज्ञान दृष्टि नहीं है । अखंडानंद पाने के लिए अपने आपको जान लेना अर्थात् मैं कौन हूँ का ज्ञान करना आवश्यक साधन है ।

काम, क्रोध को वश करना मुश्किल है, काम, क्रोध को वश करने के लिए व्यर्थ चेष्टा न करें । मन से यह बात भुला ही दें कि हमें काम, क्रोध, लोभ, मोह को वश करना है । जब आप अपने को क्रोध में पाते हैं, जब आप अपने को काम में पाते हैं, उस समय आप इतने विक्षिप्त हो जाते हैं कि जप, ध्यान कर ही नहीं सकेंगे ।

केवल अपने सहज श्वाँसों के प्रति सजग रहें । जब श्वाँस भीतर की ओर जा रही है, उसे देखें । जब श्वाँस लौट बाहर की ओर आ रही है, उसे देखें । श्वाँस के साथ मन को जोड़ दें । जब श्वाँस भीतर जावे उसके साथ उतनी गहाराई तक अपने मन को भी ले जावें । श्वाँस जब बाहर लौटे तब उतनी लम्बाई तक अपने मन को भी श्वाँस के पीछे-पीछे चलावें । एक भी श्वाँस बिना जानकारी के न जाने दें । प्रत्येक श्वाँस पर आपकी दृष्टि रहे । इस प्रकार जब आपका चंचल, विक्षिप्त, विकारी मन श्वाँस के गमनागमन क्रिया पर केन्द्रित हो जावेगा, तब वह क्रोध, काम, क्रिया एवं उन-उन विषयों का चिंतन नहीं कर सकेगा ।

जब आप श्वाँस के प्रति सजग रहेंगे तो विचार अपने आप रुक जावेंगे एवं जब आप का श्वाँस पर से ध्यान हट जावेगा तो आप मन को विचार ग्रस्त देखेंगे। श्वाँस का ध्यान करने से चेहरे पर शांति प्रकट होने लगती है, चेहरे का सौदंर्य निखर आता है । पूरा लाभ लेने के लिए तीन माह श्वाँस का ध्यान करें । श्वाँस का ध्यान करने से मन अमन हो जाता है । विचार शांत हो जाते हैं, वृत्तियों का उत्पन्न होना बंद हो जाता है । मन निर्विकल्प अवस्था में हो जाता है । अतः मन की चंचलता से डरे । व्यक्तियों को श्वाँस का ध्यान, विपश्यना शिविर अवश्य करना चाहिए ।

चित्त क्या है ?

साड़ी कहाँ है ? सूत ही सूत है । जहाँ भी हाथ रखो, जहाँ से पकड़ो, सूत पर ही हाथ रखोगे, सूत ही हाथ से उठाओगे । साड़ी, पेंट, ब्लाउज, कुर्ता, पाजामा, पेटीकोट, आदि नाम तो केवल व्यवहार चलाने हेतु कल्पित रखे गये हैं । साड़ी, पेंट, ब्लाउज, कुर्ते पर कोई उंगली नहीं रख सकते, सूत पर ही रखोगे । साड़ी तो हुई ही नहीं । इसी तरह बन्ध्या स्त्री के पुत्रवत् नाम-रूप यह जगत् है । है तो एक मात्र ब्रह्म ही । जैसे घड़ा, सुराई, दीपक, ईंट, खप्पर, गणेश, दुर्गा, सरस्वती कहाँ हैं ? है तो एकमात्र मिट्टी ।

इसी तरह जहाँ भी मन, बुद्धि, चित्त अहंकार पर उँगली रखी जावेगी वह पकड़ेगी ब्रह्म को ही । न मन है, न बुद्धि, न चित्त है, केवल एक ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है ।

चित्त की कल्पना संसार है, लेकिन चित्त स्वयं भी कल्पना ही है । इसको अलग कर दो तो फिर यह भी न कह सकोगे कि यह आत्मा है । क्योंकि यह आत्मा है ऐसा कथन भी वह चित्त को खड़ा कर देने से ही हो सकेगा ।

ब्रह्म अपरिणामी है, वह कभी चित्त नहीं हुआ । जैसे रस्सी में सर्प तीन कालों में नहीं, सूर्य में अंधकार नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म में माया, चित्त, मनादि विकार नहीं है ।

यह जाग्रत से लेकर निद्रा तक सभी कर्म लीला इस चित्त की है । या जो भी लौकिक या परलौकिक क्रिया होती है, सब चित्त की है और वह चित्त है नहीं, केवल चेतन आत्मा पर अध्यस्त है ।

यह आत्मा ऐसा है, ऐसा नहीं है यह नेति–नेति निश्चय भी तो बुद्धि ही करती है । अतः बुद्धि के इस प्रकार निश्चय को भी ज्ञान मत समझो । मैं ब्रह्म हूँ, मैं साक्षी हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, यह भी मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्ति, चित्तवृत्ति, अहं वृत्ति ही है । ज्ञान तो हमारा स्वरूप है, जो पूर्व से ही सिद्ध है । वहाँ तो निश्चय करने की कोई बात ही नहीं है । निश्चय तब किया जाता है जब कोई भ्रान्ति होती है ।

अब जो प्रतीत हो, जैसी प्रतीति हो वह सब आत्मा ही है । उससे अलग होकर उसको छोड़कर कोई भाव हो ही नहीं सकता । वही अहम् है, वही ब्रह्म है, वही यह सब जगत् है ।

मैं सब प्रतीतियों का साक्षी हूँ, यह साक्षीपना भी इस चित्त के होने से ही है । जब साक्ष्य पदार्थ ही नहीं है, तब साक्षी भी नहीं है । साक्ष्य पदार्थ रहने से ही साक्षी है । जब यह सब साक्ष्य असत्, कल्पना, भ्रान्ति, अध्यस्त मात्र है तब साक्षी भी न रहेगा । फिर जो रहेगा उसे कहेगा कौन ? केवल मौन केवल चुप रहना है, केवल चेतनता मात्र है । है भी मैं के साथ मिलने से हूँ हो जाता है । मैं के न रहने से केवल 'है' ही रह जाता है तब हूँ नहीं रहता ।

इस चित्त से ही परिच्छिन्नता आती है, अन्यथा नहीं । यहाँ तक कि जब यह भी कहते हो कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो यह कथन भी परिच्छिनता लेकर ही होता है । अन्यथा मैं क्या है ? किस तत्त्व में अहंकार करके कहोगे कि मैं हूँ ? देह में बैठ ही तो कह पाओगे, देह तो परिच्छिन्न ही है । सुषुप्ति में तो मैं ब्रह्म हूँ ऐसा नहीं कह पाते, क्योंकि वहाँ मैं तू या यह, वह कहने की कोई अन्य उपाधि, द्वैत ही नहीं है । अतः कोई परिच्छिन्नता, उपाधि, सम्बन्ध न लाओ मैं को सिमटने की । फिर आकाशवत् व्यापक होकर मैं का अर्थ बताओ ? तो मैं, तू का कथन ही नहीं कर पाओगे । देह की सीमा को हटाकर देखो तो न भीतर है, न बाहर, न ऊपर है, न नीचे, न मैं है, न यह, न तू है, न वह । मैं कुछ न कुछ साथ लेकर बंधकर ही निकलता है अकेला मैं कभी नहीं होता, केवल है ही रहता है ।

ज्ञानियों को यह निश्चय है कि चित्त है ही नहीं तो इसलिये वे इस असंग आत्मा के साथ चित्त का कोई भी अच्छा, बुरा सम्बन्ध नहीं मानते

हैं । इसीलिए इसकी कलाबाजियों से अपने को प्रभावित भी नहीं मानते हैं। यही तो जीवन मुक्ति है कि हम अपने को समस्त देह संघात् के धर्मों से असंग साक्षी मात्र ही जानें ।

लोग पूछते हैं चित्त का बाध कैसे होगा ? तो इसका बाध नहीं होगा । क्योंकि चित्त है ही नहीं, जैसे स्फटिक मणि के रंगों का बाध किस तेजाब, साबुन से होगा ? तो वह कभी नहीं होगा क्योंकि मणि में रंग का प्रवेश है ही नहीं, केवल मणि के नीचे रखें, रंगीन कागज का उसमें अध्यास हो रहा है । इसी प्रकार चित्त है नहीं आत्मा में, तो बाध भी कैसे हो ? यदि हटाने, मिटाने की बात सोची भी जाती है तो वह भी चित्त ही है । बल्कि इस प्रकार चित्त को हटाने का चिंतन साधन भी तो चित्त को ही प्रेरित करेगा । इस प्रकार यह हटेगा नहीं । लेकिन इसका यदि अस्तित्व ही नहीं माना जावे तो यह नित्य हटा हुआ ही है । अतः इसको मिथ्या जानों तो यह हटा हुआ ही है ।

यह समस्त प्रंपच तो चित्त (जीव) का ही रचा हुआ है । ईश्वर का रचा संसार किसी के लिए दुःखदायी नहीं है । अतः आपके चित्त ने रचा संसार ही आपको दुःख देता है । चित्त का त्याग ही सर्वका त्याग है । चित्त का शांत होना ही प्रपंच का शांत होना है अर्थात् जब चित्त निर्विकल्प होगा तभी यह प्रपंच भी शांत हो जावेगा । यदि आत्मा का रचा संसार होता तो सुषुप्ति समाधि में भी प्रपंच दिखाई पड़ता । तब वहाँ प्रपंच क्यों नहीं रहता ? इसलिए कि वहाँ चित्त नहीं है ।

अन हुआ चित्त निर्विकल्प आत्मा पर अपना कोई रंग नहीं चढ़ा सकता । कल्पित वस्तु सर्प अकल्पित रस्सी पर अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ सकता । इसी प्रकार कल्पित चित्त अकल्पित, निर्विकल्प आत्मा को दूषित नहीं बना सकता ।

मार्शल ला में जो भी सम्मुख आ जाता है, बिना पूछे गोली से उड़ा दिया जाता है । इसी प्रकार जब ज्ञान हो गया, आत्म दृष्टि हो गई, मार्शल ला लग गई समझो । बस जैसे ही सम्मुख कोई वृत्ति उठी बिना पूछे उसको अभाव रूप, मिथ्या कल्पित जान लो । बस उसे शून्य रूप जान लेना ही

गोली से उड़ा देना है । फिर न देखो कि यह सजातीय वृत्ति है या विजातीय वृत्ति । दोनों ही दृश्य होने से असत् है । यदि सोचने लगे कि ये तो ब्रह्माकार वृत्ति है तो फिर मार्शल ला लगा ही नहीं ।

लेकिन हम लोग विचार करने लग जाते हैं कि यह वृत्ति तो लाभ रूप है, यह वृत्ति हानि रूप है । बस जिधर लाभ है, जिधर सुख मिलता है हम उधर झुक जाते हैं । तब तुम आत्मा नहीं रहे बल्कि भोक्ता जीव हो गये । या तो सब कुछ को चित्त जानो या सब कुछ को केवल आत्मा जानो । सफलता दोनों ओर हैं किन्तु कोई एक ही व्यापक निश्चय रखो । स्वप्न या तो सब झूठ है या केवल साक्षी है । आधा सच आधा धूठ स्वप्न न मानो ।

हमें राग, द्वेष में नहीं अटकना है बल्कि ये दोनों जिसमें अध्यस्त हैं, उसमें मैं बुद्धि करना है तब ये राग-द्वेष स्वतः छूट जावेंगे । अन्यथा नहीं छूटेंगे ।

ज्ञानी भी चित से सब कुछ करा लेता है किन्तु चित्त के द्वारा किए हुए कर्मों के ऊपर मैंने किया, या मैंने कराया इस प्रकार मिथ्या अहंकार नहीं करता है । हम लोग कर्म करके पश्चाताप करते हैं कि यह काम मैंने क्यों किया ? यह न किया होता तो अच्छा होता किन्तु कर दिया । वह तो चित्त का स्वभाव था । अब सर मत पीटो । अब मत चिल्लाओ । अब मत रोओ । क्योंकि तुमने किया नहीं । वह तुम्हारा किया हुआ नहीं है । और चित्त भी नहीं है अतः कुछ हुआ ही नहीं है ।

अतः जिस देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जैसे करना पड़े, उसे कर दो । लेकिन उन क्रियाओं को माया मात्र जान लो । फिर न कुछ हुआ न तुमने कुछ किया । क्योंकि माया स्वयं भ्रम है ।

जब कुछ हो जाने पर सत्यत्व बुद्धि नहीं और करने का अहंकार नहीं, तो चित्त कहाँ रहा ? फिर वही तो हमारी स्वाभाविक स्थिति है वही तो चित्त का शमन है ।

चित्त क्या है ? जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ मानता है वही चित्त है । इसके विरुद्ध जो अपने को इस प्रकार जानता है कि मैं यह सब हूँ वह ज्ञानी है ।

जब यह कहा जाता है कि ऐसा हो, ऐसा न हो तो यह चित्त खड़ा कर लिया गया । जब ऐसे विचार उदय न हो तब चित्त का शमन, अनुदय जानें ।

यदि विचार उदय होता हो तो हो जाने दो, वह है तो माया मात्र । इसके लिए इतने दुःखी होने की चिंतित् होने की जरूरत नहीं है कि मन में स्फूरना क्यों उठी, मन शांत कैसे होगा ।

हम चित्त को रोकने के लिए जो भी साधन करना चाहते हैं या करते हैं या करेंगे वह सब चित्त ही है । और यह चित्त अग्नि से उष्णता की तरह आत्मा से भिन्न नहीं है । जब चित्त आत्मा से भिन्न नहीं तब उसके किए हुए का क्या फल ? चित्त को अभाव रूप मान लिया तो काम बन गया या चित्त को चैतन्य आत्म रूप जान लिया तो भी काम बन गया फिर तो कुछ हुआ ही नहीं ।

परंतु हम तो कल्पना करते हैं कि ब्रह्म तो अचल है, चित्त तो चंचल है । इस प्रकार ब्रह्म को विशेष मानना भी चित्त का गढ़ा हुआ चिंतन होने से असत् है ।

ज्ञानी का चित्त अब चित्त नहीं रहा, चित्त का नाम ही नाम रहा चित्त रहा ही नहीं, वासना ही नहीं । अब तो साँप चला गया उसके निशान मिट्टी पर पड़े दिख रहे हैं, उन निशानों को देख-देख क्यों रोते पीटते हो ।

यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय
देहाभिमाने गलिते ज्ञातेन परमात्मनः ।

इस प्रकार ज्ञानी का इन्द्रिय निग्रह पूरा हो चुका । इन्द्रिय निग्रह की न आवश्यकता है न चिंता । स्वाभाविक ही सभी क्रियाएँ प्रकृति अनुसार होती रहती है ।

दूसरी बात चित्त को यदि कोई रोक भी दे तो व्यवहार कैसे चलेगा ? जिस भोगार्थ ईश्वर व प्रकृति द्वारा वर्तमान देह का निर्माण जीव के लिए हो चुका है, चित्त स्थिर होने से फिर वह प्रारब्ध भोग कैसे पूर्ण हो सकेगा ? इसलिए चित्त रोकना या मिटाना यह जीव के आधिन भी नहीं है, जो रोक सके । रोका या मिटाया भी नहीं जा सकता । चित्त को समझना है कि यह है क्या ? फिर ज्ञान होने के पश्चात् भले ही चित्त रहेगा। देह रहते अंतःकरण एवं काम,

क्रोधादि वृत्ति भी अवश्य रहेगी । किंतु अब वे जहर के दांत निकाले सर्प की तरह या जले बीज की तरह रहेंगे । वह सर्प खेल दिखाने के काम तो देगा किन्तु काटेगा नहीं । आग में जला बिज खाने के काम तो देगा किन्तु उत्पन्न नहीं होगा ।

अज्ञानी समझते हैं जब हमारा मन कल्पना रहित हो जावेगा संकल्प उठने नहीं दिया जावेगा तब मोक्ष होगा । यदि ऐसा माना जावे तो फिर तो कल्पना का ही मोक्ष हुआ । हमारे स्वरूप में जब कल्पना है ही नहीं, तब हम न मोक्ष की कल्पना करते हैं न बन्धन मिटाते हैं । हम नित्य मुक्त ही हैं । अज्ञानी लोग इसी प्रकार नाना कल्पनाओं में ही फँसे रहते हैं, उससे बाहर नहीं निकल पाते हैं ।

इसी प्रकार किसी ने कह दिया कि राम-राम जप करो, किसी ने कहा राधे-राधे, किसी ने बताया सोऽहम्, किसी ने बताया शिवोऽहम्, किसी ने प्राणायाम किसी ने योगाभ्यास करो, बस इनके करने में ही उलझ गये । किन्तु यह विचारा ही नहीं कि मैं नित्य, मुक्त, ब्रह्म हूँ । यह सोचा ही नहीं कि स्वरूप स्वतः सिद्ध है, उसका अनुभव किसी क्रिया के द्वारा नहीं हो सकेगा ।

जैसे किसी ने कहा कि तेरी औरत विधवा हो गई है । यह सुनते ही वह जोर-जोर से रोने लगा । पास ही एक सज्जन पुरुष बैठे थे, उन्होंने पूछा कि भाई ! तुम क्यों रो रहे हो ? उसने कहा मेरी औरत रांड हो गई है । यह खबर अभी मुझे मिली है इसलिए उसके दुःख से रो रहा हूँ । उस पुरुष ने उस मूर्ख को कहा कि अरे भाई ! जब तू जिंदा है, तब तक तेरी पत्नी रांड कैसे हो सकेगी ? पत्नी का रांड होने याने पति का मर जाना । तू तो अभी जीवित है । लेकिन अपने को भूला हुआ है इसीलिए रो रहा है ।

इसी तरह यह अज्ञानी जीव भी दुःखी हो भटक रहा है कि मुझे आत्मा का साक्षात्कार, ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो रहा है । मैं जीव हूँ, मैं ब्रह्म को नहीं जानता । किन्तु यह जीव स्वयं ब्रह्म ही है ।

हम संसार में अन्य बातों को तुरंत अपने में मान लेते हैं । विवाह सम्बन्ध से जान लिया कि तुम इसके पति यह तुम्हारी पत्नी है, तो बिना

संदेह के जीवन भर माने चले जाते हैं । किसी ने कह दिया परदेश में रहने वाला पति, पुत्र मारा गया या अमुक के यहाँ पुत्र पैदा हुआ तो दुःख व सूतक मान लेते हैं । किसी ने मूर्ख, चोर, गधा, रंडी, बदमास, बेईमान, हरामखोर, हरामजादा, धोखेबाज, भंगी, चमार, कुत्तादि कह दिया तो तुरंत बिजली कौंध जाती है तन मन में ।

इधर श्रुति स्मृति बारम्बार कहती आ रही है कि 'तू ब्रह्म है' तो इस निष्कपट, परमसत्य बात को काई सहजता में स्वीकार नहीं करते । इसमें संदेह करते हैं कि हम ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? अभी श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि करके बुद्धि को बात जम जावेगी तो मैं ब्रह्म हूँ मानेंगे । जीव संसार में किसी साधारण संदेश पर संदेह नहीं करता । वहाँ तत्काल मान लेता है । पंद्रह पैसे के पोस्टकार्ड की बात पढ़कर सुखी-दुःखी हो जाता है, चाहे वह असत्य ही क्यों न लिखा हो ।

किसी ने कह दिया कि तुम्हारा मन अशुद्ध है तो मान लेता है कि पापी हूँ । किन्तु इधर सैकड़ों शास्त्र कह रहे हैं कि तू ब्रह्म है, सत, चित्, आनन्द एक रस नित्य शुद्ध, नित्य मुक्तात्मा है तो इस बात को शिघ्र स्वीकार नहीं करता ।

''मैं आपने आत्मा को नहीं जानता'' यह कहना भी जानते हुए कहा जा रहा है या अनजाने में ? जानकर ही तो कहता है, कि मैं नहीं जानता । देखकर ही तो कोई अंधकार में कहता है कि कुछ दिखाई नहीं देता । सुनकर ही तो कहता है कुछ सुनाई नहीं पड़ता । तो यह सब कथन अनुभव कर, देखकर ही कहता है कि मैं तो देख रहा हूँ किन्तु सम्मुख कोई व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता । इसी प्रकार मैं जानकर ही कह रहा हूँ कि सम्मुख कोई आत्मा दृश्य रूप जानने में नहीं आती । तो यह जो यहाँ जानना है यही चैतन्यता है, यही ज्ञातता है, यही आत्म तत्त्व है । और यही तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

यह रट भी नहीं लगानी है कि मैं ब्रह्म, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ, अन्यथा यह सब मन, वाणी का विषय बन जावेगा । परमात्मा, स्वरूप अप्रमेय है । वह इन्द्रिय, मन, वाणी से अविज्ञेय है, अप्रकट है ।

सभी द्वंद्वों से आत्मा पूर्व सिद्ध हैं । उसी से सब भेद सिद्ध होते हैं । वही तुम्हारा अपना स्वरूप है । किसी इन्द्रिय वृत्ति देह अवस्था से मिलकर, किसी प्रत्यय से मिलकर अपने को ऐसा-वैसा मत समझो । तुम्हारा स्वरूप मात्र ज्ञान है । जो नित्य है, प्राप्त है, कहना भी भूल है, क्योंकि वह हमेशा कभी अन्य एवं अप्राप्त नहीं था । इसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य साधन करने की जरूरत नहीं है । कोई ऐसी क्रिया विचार, साधन नहीं जो आत्मा के बिना सिद्ध हो सके ।

मुझसे सभी प्रमाण सिद्ध होते हैं, वे पर प्रकाश्य वस्तु मुझ स्वयं प्रकाश आत्मा को प्रमाणित नहीं कर सकते । यदि वे मुझ आत्म सत्ता से पूर्व हो तो वे मुझे सिद्ध कर सकेंगे, किन्तु मुझ आत्मा से पूर्व कुछ अन्य नहीं है ।

वर्तमान के प्रमाण भी मुझे सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि मैं उनके पहले से हूँ । वे बाद वाले मुझ पूर्व आत्मा को कैसे जान सकेंगे । अतः मैं आत्मा नित्य एवं समस्त प्रमाणों से अप्रमेय रूप हूँ । जो सब अवस्था क्रिया के होने न होने के ज्ञान को जानता है वही तुम आत्मा हो ।

प्रायः आत्म ज्ञान में आने वाले साधक भी यही कहते सुने जाते हैं कि हमने कोई जप, पूजा, पाठ, यज्ञादि नहीं किया भाई ! इतनी ऊँची बात जानकर, सुनकर भी इतनी छोटी बात की चिंता करते हो क्या दांत निकल आने पर भी माँ बच्चे को दूध पीने देगी ? नहीं वह उसे थप्पड़ मारेगी, दूध नहीं पिलावेगी । अब उसे दाल भात खिलावेगी । इसी प्रकार ज्ञान में प्रवेश के बाद कर्म, उपासना में जीव को सत्गुरु नहीं फँसावेंगे । ज्ञान प्राप्ति के बाद कुछ करना शेष नहीं रहता है ।

सम, शांत, निष्क्रिय परमात्मा को हम सम, शांत एवं निष्क्रिय होकर ही जान सकेंगे । हठ योग द्वारा सम परमात्मा को नहीं जान सकेंगे ।

यह शरीर अनात्म, जड़ वर्ग, पर-प्रकाश्य, असत् है । मैं आत्मा असंग, कूटस्थ, शुद्ध चेतन स्वयं प्रकाश सत हूँ । यह दोनों वृत्ति चित्त की ही है । मैं इन दोनों अवस्था का साक्षी आत्मा चित्त को भी जानने वाला सत् चित् आनन्द प्रकाश स्वरूप हूँ ।

चित्त के अभाव में भी मैं हूँ । परंतु उस समय शांत, एक-रस, केवल ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप वाला मैं होता हूँ । कुछ जानता नहीं, यही बोध मात्र हमारा वास्तविक स्वरूप है । मुझसे ही सब कुछ प्रकट होता है । मेरे होने से ही सबका अस्तित्व है । सबका निर्वाहक मैं आत्मा ही हूँ ।

इन्द्रियाँ भोजन करती हैं, लेकिन मैं प्रत्यक् रूप इनका और इन सबके व्यापारों का साक्षी रूप ही हूँ, इनमें बरतता हूँ । सदा निष्क्रिय रूप ही रहता हूँ । अर्थात् भोजन आदि लेकर आत्मा की क्या तृप्ति ? और न देकर क्या हानि ? ज्ञानी जानता है कि भूख-प्यास प्राण के धर्म हैं और उनका सुख-दुःख धर्म इन्हीं मन को हो रहा है । गुण ही गुण के द्वारा गुणों का ही भोग करते हैं । मैं सदा साक्षी आत्मा गुणातीत, असंग, निष्क्रिय रहता हूँ ।

मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ और यह भोग्य है, ऐसी भ्रान्ति विद्वान् को नहीं होती । न मैं कर्ता हूँ, न मैं भोक्ता हूँ, यही निश्चय सदा रहता है ।

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में अवश्य जावेगी । यही उनका जीवन है,. यही उनका कर्म धर्म है । यही अनादि नियति है कि आँख केवल देखे, कान केवल सुने । बिना विषय ग्रहण किये वे रह नहीं सकते, जल बिना मछली की तरह । अर्थात् विषयों में जाना, रहना, ग्रहण करना उनका स्वभाव है । ये प्रत्येक वस्तु में अपना-अपना ही विषय ढूंढेगी । जैसे गुलाब का पुष्प सम्मुख आते ही आँख रूप को, नासिका गंध को, जिह्वा रस को, त्वचा स्पर्श को तथा श्रोत शब्द को ही उसमें से ग्रहण करेंगे । लेकिन मैं सदा इन इन्द्रियों के विषय से असंग हूँ । इन्द्रियों को अपने विषय मिले या न मिलें, मन को सुख हो या दुःख न मुझमें कर्तृत्व है न भाक्तृत्त्व मैं न दुःखी न सुखी होता हूँ ।

ज्ञानी भिक्षावृत्ति के लिए आश्रम से निकल जाते हैं अपने देह संघात् को घुमाने स्वयं कुछ नहीं चाहते । भिक्षा मिल जावे तो ठीक न मिले तो ठीक । हमें क्या ? जिसे दूध की चाह है वे घास, पानी की व्यवस्था गाय के लिये करे गाय को क्या चिन्ता ?

ज्ञानी विषय ग्रहण त्याग में रुची नहीं रखते । विषय ग्रहण-त्याग होने के समय भी ब्रह्म स्वरूपता में कोई कमी या विकार उदय नहीं होता एवं

ध्यान, समाधि होने से किसी प्रकार आनन्द और श्रेष्ठता की प्राप्ति नहीं होती है ।

''द्वितीयात् द्वै भयं भवति''

निर्विकार आत्मा में कोई विषय वृत्ति विकार नहीं ला सकते, जब सब आत्मा ही है, तब आत्मा किससे डरे ? सूर्य के सम्मुख अंधकार ठहर नहीं सकता है । यदि अंधकार है तो फिर वह कागज का सूर्य होगा वास्तविक नहीं । इसी प्रकार आत्मा सूर्य के सम्मुख ये मन, इन्द्रिय विषय नहीं रह सकते ।

इष्ट अनिष्ट भावना से रहित होना ही सम चित्तता है । यह सुख या दुःख किसी दूसरे को हो रहा है, मुझको नहीं । दुःख चित्त को हो रहा है, मुझे नहीं । ज्ञानी इस भ्रान्ति से मुक्त रहता है । जिस ज्ञानी का सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ, प्रिय-अप्रिय, निंदा-स्तुति में सम भाव है, वही ब्रह्मवित् है । यह समस्त द्वंद्व चित्त में रहते हैं । ज्ञानी द्वंद्व में निश्चल उदासीन रहता है । स्वस्थ केवल ज्ञानी है, अज्ञानी सदा अस्वस्थ रहता है । देह, इन्द्रिय सम्मुख रहना अस्वस्थ होना है एवं ब्रह्म वृत्ति युक्त रहना स्वस्थता है ।

जल को जिस बर्तन में डालो या जमाओ वह उसी आकार जैसा हो जाता है । इसी तरह इस आत्मा को जिस वृत्ति अथवा इन्द्रिय साँचे में डालो आत्मा ही वह-वह रूप में होकर भासमान हो रहा है । ब्रह्म जब भी प्रकट होगा, किसी न किसी उपाधि के रूप में ही प्रतीत होगा । निरुपाधिक की तो प्रतीति हो ही नहीं सकती । और हम उस उपाधि को ही अस्वीकार करते हैं कि उपाधि वाला ब्रह्म नहीं हो सकता । लेकिन विचार करो उपाधि को भी तो उसीने प्रकट किया है । वही तो उपाधि रूप में जाहिर हो रहा है । उसके सब रूप हैं, वही सब रूप में है तो फिर उसके किसी भी व्यवहार में 'क्यों' लगाने का प्रश्न ही नहीं रहता । जब तक यथार्थ ज्ञान पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ तभी तक 'क्यों' बना रहता है । एक बार पूर्ण ज्ञान, सर्व रूपता का ज्ञान होने पर अस्वीकार करने जैसा कुछ बचता ही नहीं है ।

जीव, जगत् तथा ईश्वर रूप में वही एक मात्र विद्यमान् है । जैसे भी है वही है । इसीलिए ज्ञान जो भी करता है उसका उसे अभिमान नहीं कि मैं

ज्ञानी हूँ, मैं कुछ नहीं करता हूँ । यदि वह कुछ नहीं करता तो यह सोच वह दुःखी भी नहीं होता कि मैंने यह क्यों नहीं किया या यह कार्य तो अवश्य करूँगा और यह कार्य तो मैं कभी नहीं करूँगा। वह यह भी नहीं सोचता कि मैंने बहुत से कार्य कर लिए हैं । अब मैं कुछ नहीं करूँगा। उसका किसी बात में आग्रह नहीं रहता है । न विधि में आग्रह रहता है न निषेध में भय रहता है । यदि वृत्ति इतनी सरल अनाग्रही हो जावे तो जीवित ही उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया । इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं । न किसी से विरोध न घृणा न आग्रह ।

सदा में समत्वं न मुक्ति न बन्ध :

आत्मज्ञानी इतना कोमल होते हैं कि जिधर मोड़ो उधर मुड़ जावे रबर की तरह । जहाँ बिठा दिया बैठ जावे न अपमान का भाव न सम्मान की आशा । और यह भी भाव नहीं उठता कि ऐसा क्यों, ऐसा क्यों नहीं ।

जब तक हमारे चित्त में यह बात अंहकार रूप से बैठी है कि यह क्यों करूँ, यह क्यों न करूँ, यह होना चाहिए, यह नहीं होना चाहिए । जब तक ऐसा भाव है तब तक हम शिखर पर चोटी पर पहुँचे नहीं है । ज्ञानी को यदि अपने पूर्णत्व का बोध हो जावे तो फिर कहीं भी, किसी में भी, किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि सब प्रकार से वह आप ही तो होता है । अतः जब सब ही ब्रह्म हो गया तो 'क्यों' का प्रश्न ही नहीं बनता ।

पण्डिताः समदर्शिनः

ज्ञानी उपदेश आदि देने में भी हिचकिचाता या कृपणता करता नहीं कि हम तो पूर्ण हो गये, अब क्यों व्यर्थ इतना कष्ट करें, जगत् तो मिथ्या है । उनको यह भाव ही नहीं कि मैं कष्ट पा रहा हूँ । उससे किसी को लाभ मिलता है तो उसे आपत्ति नहीं । किन्तु उसकी दृष्टि में न कोई जीव है, न बन्ध है, न उपदेश का अधिकारी है । वह सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि ही रखता है । स्वप्न के लोगों को जाग जाने पर सहायता पहुँचाने का आग्रह नहीं रहता, किन्तु यदि कोई नींद में चिल्ला रहा है, दौड़ो–बचाओ तो वह उसे होश में लाकर बिठा देता है ।

ज्ञान का चिन्ह ही है कि किसी बात में विरोध नहीं रहता । क्योंकि सर्व प्रकार से मेरा अपना आप (ब्रह्म) ही तो होता है । फिर किससे घृणा करूँ ? जब सर्वत्र अपने को ही देखता है, दूसरा कुछ नहीं देखता तो यही सर्व ब्रह्म दृष्टि है ।

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। –गीता, ५/१८

फिर तो कोयल कू–कू कर रही है, चिड़िया चहचहा रही है, कुत्ता भौंक रहा है, नदियाँ बह रही है, वृक्ष–टहनियाँ झूम रही है, पौधे नाच रहे हैं, तो सब ओर उसकी ध्वनि, उसका ही संगीत, उसी का नृत्य दिखाई पड़ता है ।

वह कहाँ नहीं ? वह क्या नहीं ? वह कब नहीं ? वही अखण्ड सर्व देश, सर्व काल, सर्व रूप में विद्यमान है ।

मैं व मेरा यार एक ही घर में रहते हैं ।
मगर अफसोस है कि मिलने को तरसते हैं ।।

किन्तु सद्गुरु से दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर जिधर भी दृष्टि जाती है, एकमात्र स्वयं ही अनुभव ज्ञान रूप प्रतीत होता है ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

अहं इदम् का प्रकाशक साक्षी

'नेति-नेति' इस प्रकार के वेद के कथन से आरोपित समस्त दृश्य-अदृश्य जड़ वस्तुओं का प्रतिषेध (इन्कार, अस्वीकार)करते-करते एक ऐसी अवधि तक पहुँच जाने पर जहाँ कोई दृश्य 'नेति' रूप से विद्यमान् नहीं रहता है, अन्त में शेष बचा हुआ जो 'नेति'का साक्षी तत्त्व है, वही आत्म तत्त्व है । उसका निषेध कोई भी किसी प्रकार नहीं कर पाता है क्योंकि वही एक समस्त प्रतिषेध की अवधि है । अर्थात् प्रतिषेध करने वाला वही (आत्मा) है । प्रतिषेध की साक्षी देनेवाला वही आत्मा है । उसका प्रतिषेध करने वाला कोई अन्य न होने से उसे इन्कार करना असम्भव है । इस प्रकार सबके साक्षी रूप से आत्मा की उपलब्धि बिना किसी सन्देह के हो जाती है ।

यह जो पंच महाभूतों से निर्मित २५ तत्त्वों व सात चिन्ताओं वाला स्थूल शरीर एवं अपंचीकृत भूतों के १९ तत्त्वों एवं ७ चिन्ता वाला यह सूक्ष्म शरीर है, वह मैं आत्मा नहीं है और जड़ वर्ग देह संघात् से 'इदम्' रूप यह रूप है, वह अचेतन वर्ग भी मैं नहीं हूँ । बल्कि मैं तो इन सबका प्रकाशक, अव्यभिचारी, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ, अक्षर आत्मा हूँ - इस प्रकार से नेति-नेति के साक्षी रूप से आत्मा की उपलब्धि हो जाती है ।

मन्द अन्धकार में रस्सी अधिष्ठान के अज्ञान से सर्प भ्रम ज्ञान हो जाता है एवं प्रकाश करने के बाद वह रस्सी अधिष्ठान का ज्ञान हो जाने से सर्प भ्रम ज्ञान दूर हो जाता है । इसी प्रकार अज्ञान काल में अधिष्ठान आत्मा में मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, ऐसी कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि हो जाती है । किन्तु सद्गुरु के उपदेश से अधिष्ठान आत्मा का जब 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार

साक्षात् बोध हो जाता है, तब मैं कर्ता-भोक्ता हूँ - यह भ्रान्ति दूर जो जाती है । बिना कर्तृत्व, भोक्तृत्व बुद्धि के त्याग किए आत्म ज्ञानोदय नहीं होता । इसी कारण 'इदम्' रूप से 'यह' रूप से जाने गए सभी विषयों से मिथ्या अहं बुद्धि के त्याग का बोध किया जाता है, फिर नेति-नेति का जो सच्चा अहं साक्षी है वही आत्मा है वही हमारा तुम्हारा सबका स्वरूप है ।

अज्ञान के कारण जीव देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि में अहं बुद्धि करने के कारण ८४ लाख योनियों को प्राप्त होता हुआ दुःख भोगता है । जब कोई परम कारुणिक ब्रह्मवित् आचार्य वहाँ पहुँचते हैं उसकी बुद्धि रूपी आँख पर से अविवेक की कोई परत, पर्दा, पट्टी हटा, उसकी दिव्य दृष्टि खोल उसे स्वरूप परमधाम, परमगति में स्थिति करा देते हैं । जिससे जीव कृतकृत्य हो धन्योऽहम्-धन्योऽहम् पुकार उठता है ।

जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म होता हुआ, वही हो जाता है । देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादि की क्रिया में कोई काल्पनिक दिव्य शक्ति की प्राप्ति नहीं होती । ज्ञानी-अज्ञानी के देह, इन्द्रिय, प्राणादि की चेष्टा अपने-अपने पूर्व धर्मवत् ही रहती है । आँख रूप दर्शन में कोई अन्तर पूर्वापेक्षा ज्ञानोत्तर काल में नहीं करती है । माँ-पत्नी, बहन, पुत्री शरीर दृष्टि से उसी प्रकार प्रतीत होते है केवल आत्मदृष्टि से सब में वह एक आत्मा या अपने को ही जानता है । किन्तु व्यवहार सबके साथ उनके पदानुसार ठीक-ठीक ही करता है । जब स्वयं का मन आत्मा में लीन हो जावेगा, जब वह ज्ञान की सप्त भूमिका तुर्यगा में स्थित हो जावेगा तब उसे समाज, परिवार के एवं अपने देह रक्षा का होश भी उसे नहीं रह सकेगा । ब्रह्मज्ञान होने से कोई ब्रह्म हो नहीं जाता । ब्रह्म होकर भी जो अब्रह्मत्व का भ्रम हो गया था, मुक्त होते हुए अमुक्त का भ्रम हो गया था । उस अब्रह्मत्व, अमुक्त भ्रम की निवृत्ति होकर केवल ब्रह्म भाव होना ही सद्गुरु के 'तत्त्वमसि' उपदेश का फल है । जीव ब्रह्म हो जाता है इस प्रकार वेदान्त महावाक्यों का तात्पर्य नहीं है । बल्कि जीव ब्रह्म ही है, यह निश्चय में है ।

प्रत्यगात्मा(जीवात्मा) और ब्रह्म (ईश्वर) के अभेद में ही श्रुति का तात्पर्य है, भेद में नहीं । भेद दर्शी को तो देवता का पशु कहा है, अज्ञानी ही माना गया है ।

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद – बृहद. उप.१/४/१०

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अनात्म संघात में अज्ञानी आत्मबुद्धि कर ही कर्म करता है । अहंकार ही कर्म का कारण (बीज) है । एवं कर्म ही जीव को संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।। २/१/११ कठोप.

सद्गुरु की कृपा से जब यह जान लिया कि मैं कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, '**नाहं कर्ता बह्मैवाहमस्मि**' इस प्रकार वेदान्त वाक्य से उत्पन्न हुए ज्ञानाग्नि के द्वारा जीव के समस्त अनादि संचित् एवं क्रियमाण कर्म जल जाते हैं । फिर जला हुआ बीज उत्पन्न होने में जैसे असमर्थ होता है उसी प्रकार जीव के संचित् कर्म दग्ध हो जाने से उसे पुनर्जन्म नहीं । इसीलिए-

नाहं कर्ता ब्रह्मैवाहमस्मि

''मैं कर्ता नहीं, मैं तो ब्रह्म हूँ'' इस विचार निष्ठा को ज्ञानाग्नि नाम से कहा गया है ।

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते – गीता, ४/३७

वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के फल स्वरूप मूल अज्ञान (मूल अविद्या) की निवृत्ति उसी प्रकार हो जाती है, जैसे सूर्य उदय के साथ अन्धकार का अभाव हो जाता है । क्योंकि प्रकाश-अन्धकार की तरह ज्ञान-अज्ञान परस्पर विरोधी है । जब मूल अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब उसके कार्यभूत अन्तःकरण की भी निवृत्ति हो जाती है, और जब अन्तःकरण रूप आश्रय ही नहीं रहा, तब वहाँ कोई कर्म करनेवाला अहंकार भी नहीं होगा एवं जब अहंकार, कर्ताभाव नहीं, तब कर्म होना कभी सम्भव नहीं होगा । निष्कर्ष यह हुआ कि वेदान्त वाक्य से उत्पन्न ब्रह्मात्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्त का एकमात्र उपाय है ।

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम् ।
आत्मन्येव भवेत् यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ।। -२/१५ : बराह उप

जैसे अविवेकी लौकिक पुरुष को अपने देह में ही ''मनुष्योऽहम्'', ''मैं मनुष्य हूँ'' इस प्रकार संशय रहित निश्चय रहता है । वैसे ही जो देह से लेकर अहंकार तक के साक्षी आत्मा में ही देह ज्ञानाभिमान की तरह ''अहमस्मि परं ब्रह्म'' मैं ब्रह्म हूँ यह दृढ़ (निःसन्दिग्ध) ज्ञान हो जाता है । उस पुरुष की इस ब्रह्मज्ञान के बल पर समस्त अज्ञान एवं उसके कार्य देहादि संघात् और समस्त अनादि संचित् कर्म निवृत्त हो जाते हैं । उस स्थिति में मुक्ति की इच्छा न होने पर भी वृक्ष से पके फल या सुखे पत्ते के स्वतः भूमि पर आ जाने की तरह बिना इच्छा के मुक्त ही हो जाता है । उसे यह दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है कि ''मैं कर्ता–भोक्ता जीव नहीं'' बल्कि मैं अकर्ता–अभोक्ता, नित्यमुक्त, साक्षी, आत्म ब्रह्म हूँ । इस ज्ञानबल से वह मुक्त ही है । एक बार भली प्रकार आत्मज्ञान होने पर पुनः अज्ञान एवं उसके कार्य देहाभिमान होने का कोई कारण ही नहीं रहता । अतः आत्मनिष्ठावान् के मोक्ष में कोई प्रतिबन्धक नहीं है । दृढ़ ज्ञान होने में ही आहार, अश्रद्धा, बुद्धि मदंता, विक्षेप, वैर भाव एवं भेदोपासना प्रतिबन्धक होते हैं । दृढ़ ज्ञानोपरान्त मोक्ष में कोई रुकावट, बाधा नहीं होती है ।

सभी जीव दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द रूप मोक्ष की इच्छा तो करते हैं कि किन्तु उस मोक्ष का साधन ''अहं ब्रह्मास्मि'' मैं ब्रह्म हूँ – इस प्रत्यक्ष आत्मज्ञान को स्वीकार नहीं करते हैं । जैसे एक बार उदङ्क ऋषि ने तपस्या कर विष्णु भगवान् को सन्तुष्ट कर देव अमृत को मांगा । तब विष्णु ने देवेन्द्र को देने हेतु आदेश दिया । देवेन्द्र विष्णु आज्ञानुसार अमृत कलस उदङ्क ऋषि के पास ले गए एवं चाण्डाल का रूप धारण कर अपने मूत्राशय के स्थान में कलश रख उसे देने का सोचा कि शायद मेरे द्वारा ऐसा करने से ऋषि को घृणा होगी और वह अमृतपान नहीं करेगा । यह सब सोच इन्द्र ने ऐसा ही किया एवं उदङ्क ऋषि को अमृत लेने का कहा तब उदङ्क ऋषि ने भी मन में सोचा यह अमृत नहीं होगा बल्कि इस चाण्डाल का मूत्र तो नहीं – इस आशंका से उदङ्क ऋषि ने प्रत्यक्ष अमृत होने पर भी उसका त्याग कर दिया । क्योंकि अमृत रूप में यह मूत्र पीने से मेरी जाति भ्रष्ट होगी और मैं जिस अमृत को चाहता था, वह यह नहीं है । ऐसा सोचकर

प्रत्यक्ष वास्तविक अमृत को जिस प्रकार ऋषि ने स्वीकार नहीं किया, उसी तरह लोगों को भी यह भय रहता है कि इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से हमारा वर्णाश्रम विहित कर्म, जाति, मर्यादा, धर्म नष्ट न हो जाए । इसलिए लोग भी यथार्थ आत्मज्ञान के प्रति इच्छुक नहीं रहते है । उस ज्ञान व ज्ञान के देने वाले सद्गुरु के प्रति अनादर की दृष्टि से ही देखते हैं एवं जन्म–मृत्यु रूप संसार चक्र में असहनीय कष्ट भोगते रहते हैं । यदि जीव अपने देह, जाति, गुण, क्रिया, आश्रम, धर्म का अहंकार छोड़ सद्गुरु शरणापन्न हो आत्मानुभव कर ले तो यह तत्काल ब्रह्म ही हो जाता है ।

बुद्धि (अन्तःकरण) में पड़े हुए चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ही 'चिदाभास' कहते हैं । इस चिदाभास से ही बुद्धि विषयाकार हो जाती है । इस कारण जीवात्मा को अपने आभास अन्तःकरण के धर्म एवं शब्दादिक विषयों में अहं कर्ता, अहं भोक्ता एवं देह में मैं स्थूल, सूक्ष्म हूँ, इस प्रकार अध्यास स्फुरण होता रहता है । देहादि विषय और चैतन्य का बुद्धि वृत्ति रूप अन्तःकरण एक स्थान में संश्लेषसा अर्थात् मिश्रणसा हो जाता है । तब एक दूसरे का कि कौन चिदाभास है एवं कौन चिदात्मा है, विवेक (भेद ज्ञान) ने होने से संसारी लोग अत्यन्त मोहित रहते हैं । जैसे नाव में बैठे को व्यक्ति नाव के चलने का अनुभव नहीं होता, बल्कि नदी तट के अचल वृक्ष, मकान चलने का भ्रम नौका उपाधि से होता है । उसी प्रकार बुद्धि स्थित जीव आत्मा देहात्मभाव को प्राप्त हुआ–सा बुद्धि के व्यापार को पृथक् अनुभव नहीं करता बल्कि मैं ही कर्ता–भोक्ता हूँ इस प्रकार अपने बुद्धि में पड़े हुए आभास का विवेक न होने से अपने (चिदात्मा) में ही विकार के आरोप का मिथ्या अनुभव करता रहता है । तात्पर्य यह है कि चिदाभास अन्तःकरण उपाधि के धर्मों का साक्षी आत्मा पर आरोपित कर अपना धर्म मान संसार बन्धन को प्राप्त होता है ।

'अहं' एवं 'इदं' अंश का विवेक के द्वारा परित्याग करने पर जो मोह हो रहा था, वह नहीं हो पाता । तब इदम् अंश से भिन्न जो अनुभव साक्षी रूप में शेष रह जाता है वह परमात्मा ही है । वही 'अहं ब्रह्म' वाक्य का अर्थ है । इस प्रकार सभी ज्ञेय (जाने गए) अंश का त्याग करने से और कर्ता, द्रष्टा आदि के अभिमान का त्याग कर देने से जो अनुभव होता है, यह

परम आत्मा है, वह निश्चय करना चाहिए । 'इदमंश' का मनन के द्वारा बाध होने पर जो अनिदम् अंश अवशिष्ट (बचा रहता) है वही अबाध्य अंश नेति-नेति प्रकाशक आत्मा है ''वही मैं हूँ'' ऐसा अनुभव होगा । यही आत्मा का सुषुप्ति काल में अद्वय रूप से बोध होता है । वहाँ किसी भी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म वृत्ति, विषय एवं अहंकार का बोध नहीं होता है । जाग्रत काल में यह अहंकार ही जाग्रत हो उपस्थित हो जाता है । अतः उसका अनात्मत्व निश्चित होता है एवं इस अहंकार का जो प्रकाशक है वह स्वयं आत्मा सिद्ध होता है ।

आत्मा के सत्, चित्, आनन्द, अद्वैत अग्नि उष्णतावत् स्वभाव है । आत्मा से यह सच्चिदानन्द स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता, जैसे अग्नि रहते उष्णता का अभाव नहीं होता । शरीर में गौर, श्याम, लम्बा, नाटा, दुर्बल, मोटा, अन्तःकरण चिदाभास में द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, ज्ञानी, कर्ता-भोक्ता, सुख-दुःख, कामी, क्रोधी तथा अन्य यह सब जीवात्मा के विशेषण कहे जाते हैं । क्योंकि यह सब विशेषण सत्, चित्, आनन्द आत्मा के स्वरूप की तरह नहीं है । सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की सत्ता रहने पर भी कृश, स्थूल देह आदिकों का अभाव रहता है । इन सबसे पृथक् रहने वाले मैं कूटस्थ आत्मा का निश्चय करना चाहिए । जैसे हाथ कटने के बाद 'मैं हाथ वाला हूँ' ऐसा विशिष्ट प्रत्यय किसी को नहीं होता । वैसे ही अन्य सभी दृश्य देहादि संघात् को अपने पर मैं आँख, पैर, कान वाला हूँ ऐसा विशिष्ट प्रत्यय भी नहीं करना चाहिए ।

'ज्ञेय' (दृश्य) अंश का त्याग कर जो सर्वदा सबका ज्ञाता है, वही आत्मा है, ग्राह्यांश (ज्ञेयांश) आत्मा नहीं है । इतना ही नहीं, वह 'केवल' है, अर्थात् 'ज्ञातृत्व', 'द्रष्टा' विशेषण से भी रहित है । 'ज्ञातृत्व' तो निष्क्रिय, अद्वय, असंग, साक्षी आत्मा के उपलक्षक है । जैसे मुकुटवाला राजा, कौवे वाला मकान, यहाँ मुकुट एवं कौवा राजा एवं व्यक्ति के बोधक (परिचायक) उपलक्षक है । 'ज्ञातृत्व' से उपलक्षित (सूचित) अलुप्त प्रकाश स्वभाव स्वयंप्रकाश होने से माला में सूत्र की तरह सबमें अनुस्यूत, चिन्मात्र जो वस्तु

है, वही आत्मा है । इस प्रकार का अनुभव ज्ञान सद्गुरु की कृपा से विवेकवान् मुमुक्षु को होता है ।

आत्मा द्वारा द्रष्टा, ज्ञाता भाव, की कर्ता–भोक्ता भाव की तरह दृश्य है । इसलिए द्रष्टा, ज्ञाता भी अन्तःकरण की वृत्ति साक्षी के लिए दृश्य ही है । इसीलिए ज्ञाता, द्रष्टा वास्तविक आत्मा नहीं है । ज्ञाता द्रष्टा को आत्मा नहीं जानना चाहिए । अज्ञानी यह मैं इस प्रकार ग्राह्य, पर–प्रकाश्य वृत्ति को ही आत्मा समझता है, किन्तु आत्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, वह अहं प्रत्यय का भी विषय नहीं है । 'अहम्' कहने पर अहंकार का अवभास होता है, इसमें जो इदमंश है, वह दृश्य होने से 'अत्मा' नहीं है । इस बात को जिज्ञासु अच्छी प्रकार समझ ले । अर्थात् अहंकार (अहम्) में आत्माभिमान न करें । अहंकार से लक्षित जो वस्तु है, उसका साक्षी 'अहम्' मैं इस प्रकार जानना चाहिए । 'अहम्' इस प्रत्यय में जितना 'इदम् अंश' (दृश्यत्व) है, वह आत्मा से पृथक् होने के कारण उसका विशेषण ही है स्वरूप नहीं । इस विशेषांश का भी जहाँ क्षय हो जाता है, वहीं आत्मा का निश्चय करना चाहिए । उसी तरह 'आत्मा' भी अहंकारादि से सम्बन्ध होने के पूर्व से ही अपनी महिमा (प्रभाव) के द्वारा सिद्ध है ।

आत्मा का अपने अस्तित्व के लिए अहंकार आदि की अपेक्षा किए बिना ही जिसका स्वरूप स्फुरित होता रहता है, वह प्रत्यगात्मा है । अपने अस्तित्व के लिए अपनी सिद्धि के लिए जिसे विशेषण से सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं होती, उसी को स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश, सर्वाधिष्ठान, अखण्डात्मा कहते हैं । और वह कोई अन्य लोक या व्यक्ति का पता नहीं, बल्कि वह तो स्वयं का होना है । अर्थात् वह निरुपाधिक ब्रह्म मैं हूँ – ऐसा ही निश्चय करना चाहिए ।

स्वयं प्रकाश परमात्मा

वेदान्त प्रक्रिया में अलंकार स्वर्ण का विवर्त कहलाता है एवं दही दूध का परिणाम कहलाता है । अलंकार स्वर्ण का विवर्त होने से स्वर्ण में विकार नाश नहीं होता, किन्तु दही, दूध का परिणाम होने से मूल उपादान दूध की प्रकृति में विकार हो जाता है ।

परिणामी वस्तु कभी अपने मूल उपादान स्वरूप को पुनः प्राप्त नहीं होती है । जैसे चावल पुनः धान नहीं होता है । इसी प्रकार जीव ब्रह्म का परिणाम होता तो वह किसी साधन से ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो पाता, जब कि सभी शास्त्र जीव को बिना साधन ब्रह्म रूप ही सिद्ध करा रहे हैं । अतः यह जीव ब्रह्म का परिणाम नहीं स्वर्ण से अलंकार की तरह अपरिणामी विवर्त है ।

जो अज्ञानी जन ऐसा मानते हैं कि आत्मा ब्रह्म का, दूध से दही की तरह परिणाम है तो उनका ऐसा समझना भूल है। अर्थात् ब्रह्म मुझ आत्मा से भिन्न है – ऐसा चिन्तन करना महापाप। क्योंकि ब्रह्म आत्मा रूप में परिणत हो जाता है ऐसा मान लिया जावे तो इस प्रकार चिन्तन करने से हम उसे परिणामी स्वीकार कर रहे हैं । और जो वस्तु, धान से चावल, दूध से दही की तरह, दही से मक्खन, घी की तरह परिणामी होती है, वह नाशवान् ही मानि जाती है । आत्मा की नित्यता में सब शास्त्र एवं आस्तिक एकमत हैं । अतः वास्तव में ब्रह्म आत्मा अभिन्न अपरिणामी, कूटस्थ, अखण्ड निर्विकार ही है, और वही मैं हूँ, ऐसा अभी इसी क्षण मानना चाहिए । कुछ करके मैं कालान्तर में आगे जाकर परमात्मा को प्राप्त करूँगा, ब्रह्म बनूँगा, मुक्त बनूँगा – ऐसा नहीं मानना चाहिए ।

याद रखें ! अनिय कर्मों का फल संसार ही होता है । साधन साध्य अनित्य वस्तु ही होती है । कर्मों के फल का सम्बन्ध स्थूल-सूक्ष्म देह से है न कि आत्मा से है । इसलिये विद्वान् मुमुक्षु यह समझे कि मुक्ति कर्म से साध्य (प्राप्त) होने वाली अनित्य वस्तु की तरह नहीं है, अपितु एक मात्र ज्ञान से ही वह साध्य है । जो वस्तु ज्ञान द्वारा साध्य वस्तु होती है, वह पूर्व से सिद्ध होती है । ज्ञान द्वारा नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है । इस प्रकार वेद शास्त्र के कथन पर विश्वास करते हुए केवल मोक्षाभिलाषी अहंकार सहित समस्त कर्मों का परित्याग करने में किंचित् भी वेद आज्ञा अल्लंघन अथवा पाप को प्राप्त हो जाने का भय न रखे । सभी धार्मिक अनुष्ठानों से संन्यस्त (उपराम) होकर किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की अनन्य शरण ग्रहण कर, श्रद्धा एकाग्रता पूर्वक केवल वेदान्त महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करें । मोक्ष प्राप्ति के लिए परमात्मा को आत्मा रूप से जानने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चाति तरन्त्येव मृत्युं श्रुति परायणाः ।।

– गीता १३/२४,२५

जो मन्द बुद्धि अर्थात् ध्यान, सांख्य तथा कर्म-उपासना करने में असमर्थ हैं, ऐसे लोग वे किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास जाकर उनके निश्चय से अपनी बुद्धि को जोड़ दें अर्थात् वे जैसा निश्चय करावे उसी प्रकार सुनकर निश्चय कर लेने से वे श्रवण परायण पुरुष भी सरलता से मृत्यु रूप संसार को निःसन्देह अविलम्ब तर जाते हैं, याने मुक्ति को, परमानन्द को प्राप्त कर लेते हैं ।

जैसे अपने से भिन्न दिखाई पड़नेवाले वस्तु, व्यक्ति में- मैं पना, अहंकार बुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जो देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राणादि तुमसे भिन्न 'यह' रूप, 'मेरा' रूप है उनमें मैं-पने का अहंकार नहीं करना चाहिए । अनादिकाल से जीव अज्ञानतावश देह संघात् के धर्मों में मिथ्या

तादात्म्य करके ‘मैं’ रूप कहते हैं, किन्तु उनमें भी दृश्यता, इदम्ता, यह पना, मेरा पना, स्पष्ट प्रतीत होता है, इसलिए उनमें, भी मैं-मेरा भाव स्वीकार नहीं करना चाहिए । क्योंकि अपने और दूसरे के शरीरों में द्रष्टापना समान है । अर्थात् जैसे हम दूसरों के शरीर को दृश्य एवं अपने को द्रष्टा रूप जानते हैं । उसी प्रकार आप इस ‘मैं’ कहलाने वाले दृश्य शरीर के भी द्रष्टा, उसके गुण, कर्म, धर्म, परिणाम से पृथक् ही हैं , राग-द्वेष, भय, काम, क्रोध, मोह, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, ज्ञान-अज्ञान, चंचल-शान्त यह समस्त द्वन्द्व बुद्धि के आश्रित हैं, उन सबके साक्षी मुझ आत्मा के एक भी धर्म नहीं है । मैं सदा शुद्ध एवं अभय हूँ । मैं आत्मा तो इन समस्त दृश्यों का प्रकाशक हूँ । जैसे सूर्य के प्रकाश में यह सब दृश्य घट-पटादि जगत् प्रकाशित होता है एवं सूर्य प्रकाश सभी दृश्यों को प्रकाशित कर भी असंग न्यारा रहता है, उसी प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण एवं देह की समस्त अवस्थाओं को आत्मा मात्र प्रकाशित करती है ।

आत्म प्राप्ति के लिए ध्यान, समाधि या किसी जपादि कर्मानुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं । यह सब साधन तो आत्म जिज्ञासा उदय होने के पूर्व तक ही उपयोगी, सहयोगी माने जाते हैं, बाद में नहीं । क्योंकि ध्याता और ध्येय का भेद रहने पर ही तो ध्याता जिस आकार के भगवान में मन लगाता है, तो वह भक्त अपने उसी ध्येयाकार में तन्मय हो जाता है । किन्तु इधर आत्म प्राप्ति के लिए (आत्मस्वरूप में अवस्थिति प्राप्त करने के लिए) किसी ध्यान, समाधि आदि अनित्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती । क्रिया से उत्पन्न होनेवाला, प्राप्त होने वाला पदार्थ अविद्या जन्य होने से अनात्म रूप और अनित्य ही होता है । और जो साधन से प्राप्त होता है वह सब नाशवान् ही होता है । मोक्ष रूप ब्रह्म तो सबकी आत्मा ही है और वह ज्ञान द्वारा ही जाना जाता है ।

ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।- १३/१७ : गीता

यत् यत् जन्यम् तत् तत् अनित्यम्
यत् दृष्टम् तत् नष्टम् - मुण्डक उप. १/२/१२

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति को बुद्धि की अवस्था कहा जाता है । यह सब आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर अपने-अपने गुणों में वर्तती है । किन्तु मूढ़ व्यक्ति जिसे दृश्य-द्रष्टा, आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं है, वह प्रकाशित होने वाली इन्द्रियों के धर्मों को अपने में मान कर मैं देखता, मैं सुनता, मैं दुःखी, मैं चंचलादि कर्ता-भोक्ता मान लेता है । जैसे रात्रि के अन्धकार को सूर्य नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मुमुक्षु अपने ज्ञान प्रकाश द्रष्टा भाव से दृश्य रूप जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के कर्म, स्मृति तथा अज्ञान के अभिमान का त्याग कर दे । तथा अपने में सबको लीन कर स्वयं साक्षी, स्वयं प्रकाश, सर्वाधिष्ठान रूप से पहचाने ।

जैसे सूर्य के स्वाभाविक प्रकाश धर्म के सकाश से घट-पटादि दृश्य पदार्थों की प्रतीति होती है । किन्तु अज्ञानी उस सूर्य को प्रकाश का कर्ता मानते हैं, इसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से भिन्न भिन्न विषयों, इन्द्रियों एवं वृत्तियों का ज्ञान होने के कारण आत्मा को इन्द्रिय विषय का ज्ञान कर्ता मानते हैं, वास्तव में वह कर्ता नहीं है । जैसे चुम्बक के सकाश से लोह में खिंचाव पैदा होता है, वह लोह को अपनी ओर खींचने की क्रिया नहीं करता है । जैसे सर्प अपने बिल से जब बाहर आता है तो सूर्य द्वारा अपने आप प्रकाशित हो जाता है । सूर्य उसको प्रकाशित करने का संकल्प नहीं करता । उसी प्रकार आत्मा ज्ञान स्वभाव से होने के कारण बिना प्रयत्न के ही उन-उन विषय, वृत्तियों का ज्ञाता, कर्ता, द्रष्टा कहलाता है । वास्तव में आत्मा किसी विषय का बोधक (ज्ञान करानेवाला) कर्ता नहीं है । अथवा जैसे अग्नि का अपना उष्ण दाहक स्वभाव होने से उसके समीप जलने योग्य पदार्थ होने से वे जल जाते हैं । अग्नि उन घास, पुआल, काष्ठ, वस्त्र, प्लास्टिक, रबर आदि को जलाने या लोह, ताम्र, चाँदी, स्वर्णादि को द्रवीभूत (पिघलाने) का कर्ता नहीं होता । इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा के समीप जानने योग्य बोध्य वस्तु के होने से आत्मा को ज्ञातृत्व बोधत्व समझा जाता है ।

जैसे सोया हुआ पुरुष सूर्य के प्रकाश से उठ अपने द्वारा निश्चित किए कर्मों को करने में लग जाता है । सूर्य उसको जाग्रत करा कर्म कराने का कर्ता नहीं है । उसी तरह आत्मा निश्चल रहता हुआ भी चिदाभास उपाधि के

कारण उसमें कर्तृत्व (कर्तापन का) व्यवहार किया जाता है, किन्तु आत्मा निर्विशेष निर्विकार होने से किसी का ज्ञाता एवं कर्ता भी नहीं है । ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व की तरह आत्मा में बन्धत्व और मोक्षत्व भाव भी कल्पित ही हैं ।

जिस प्रकार समान भाव से प्रकाशक सूर्य में दिन रात्रि का अन्तर नहीं है, इसी प्रकार नित्य ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञान-अज्ञान भी नहीं है । चिदाभास जीव में ही अज्ञान से बन्धन है एवं ज्ञान से मोक्ष है । जो मुमुक्षु सद्गुरु द्वारा अपने आत्मा स्वरूप को ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय, प्रमाता-प्रमेय, द्रष्टा-दृश्य सर्व उपाधि शून्य केवल साक्षी रूप जान लेता है, उसे पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता है, वह इस ज्ञान के होने से ही मुक्त होता है । जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पड़ा हुआ अज्ञानी इस ब्रह्मज्ञान के अलावा अन्य किसी साधन से अपने को जन्म-मरण के दुःखों से बचा नहीं सकता । ''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' इसलिए अपने उद्धार चाहनेवाले मुमुक्षु को ब्रह्मज्ञान का ही श्रद्धा भक्ति पूर्वक सद्गुरु से श्रवण, मनन करना चाहिए । इस ब्रह्मज्ञान के अलावा उद्धार होने के लिए अन्य कोई उपाय इस मृत्युलोक से लेकर विष्णु आदि लोक तक सम्भव नहीं है । इस ज्ञान के बिना ब्रह्मलोक पहुँचा भक्त को पुनः इस मृत्यु लोक में आना पड़ता है ।

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुनः । - गीता, ८/१६

यदा चर्मवत् आकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवम् अविज्ञाय दुःखस्यान्तों भविष्यति ।। - श्वे. उप., ६/२०

यदि कोई आकाश को चर्मासन की तरह लपेट बगल में दबा चल सके तभी वह बिना आत्मदेव को जाने दुःखों के सागर से पार हो ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो सकता है । अर्थात् जैसे आकाश को चर्मवत् लपेटना असम्भव कार्य है, उसी प्रकार बिना ज्ञान मुक्ति पाना भी असम्भव कार्य है । अतः मुमुक्षु आत्मदेव को समस्त दृश्य अहंकार-ममता से रहित हो, सोऽहम् रूप से निश्चय करे तो यह निश्चित ही मुक्त होता हुआ मुक्त हो जाता है । यह परम सत्य है । क्योंकि ''ब्रह्मात्मैक्य भाव'' श्रुति, स्मृति से निर्धारित है, किसी सम्प्रदायी व्यक्ति की कल्पना नहीं । अतः इस सोऽहम् ज्ञान में संशय

नहीं करना चाहिए । आत्म साक्षात्कार होने से उस पुरुष की समस्त कामना शांत हो जाती है । बुद्धि सभी संशयों से मुक्त हो जाती है । तथा समस्त संचित् एवं होने वाले कर्मों में ''मैं साक्षी आत्मा हूँ'' मैं कर्ता-भोक्ता जीव नहीं हूँ । इस ज्ञानाग्नि में सर्व कर्म बीज जलकर निर्बीज हो जाने से, भविष्य में जीव को जन्म दिलाकर, जन्म-मृत्यु रूप दुःख देने में समर्थ नहीं हो पाते हैं ।

सुख-दुःख द्वन्द्व आत्मा के धर्म नहीं है । वे भी देह संघात् में जीव द्वारा मिथ्या अभिमान करने से बुद्धि के धर्म होने पर भी अज्ञानता से जीव आत्मा अपना धर्म मानता है । जिस समय यह अनुभव होता है कि 'मैं सुखी या मैं दुःखी हूँ'' उस समय अहं मैं पद वाचक बुद्धि ही दुःख विशिष्ट होती है । आत्मा तो केवल साक्षी मात्र है ।

हे आत्मन् ! इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है वही प्रकृति के कार्य में अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि के कार्य में अहंता-ममता, मैं-मेरा भाव कर इस नित्य चेतन, निर्विकार और अविनाशी सच्चिदानन्द घन परमात्मा के अंश जीवात्मा को अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेना पड़ता है अर्थात् सत्त्वगुण के संयोग देव योनि में रजोगुण के संयोग से मनुष्य योनि में और तमोगुण में आसक्त होने से पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि नीच योनियों में जन्मलेता दुःख पाता रहता है ।

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है कि तिनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप परमात्मा को अपना आत्म रूप जानता है वही यथार्थ दृष्टिवाला है ।

जो पदार्थ जिस धर्म को धारण करता है वह पदार्थ वही गुण स्वयं को प्रदान करने वाला नहीं हो सकता । जैसे अग्नि अन्य वस्तु के लिए दाहकता रूप कर्म में उपयोगी है किन्तु स्वयं को जलाने की क्रिया (कर्म) का कर्ता नहीं है । उसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा से अन्य के प्रकाशित होने की तरह वह स्वयं को प्रकाशित करने रूप कर्म नहीं हो सकता । जिस प्रकार सूर्य सर्व पदार्थ प्रकाशक होने पर भी अपने को प्रकाशिक नहीं करता । उसी प्रकार ज्ञान स्वभाव वाला आत्मा कभी भी अपना ज्ञान करने का कर्म नहीं

बन सकता । अर्थात् 'जो पदार्थ जिस धर्म को धारण करता है वह अपने उसी धर्म का प्रकाशक (कर्म) नहीं होता ।'' अतः जो बुद्धि का साक्षी है, वही आत्म तत्त्व है । वही तुम हो । तुम्हें जानने हेतु अन्य कोई साधन नहीं हो सकता क्योंकि तुम स्वयं प्रकाश हो ।

जिस प्रकार एक स्थान पर रखा दीपक समस्त वस्तुओं व्यक्तियों के भाव-अभाव क्रियाओं को बिना प्रयास प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूपादि के आकार में परिणत होकर अपने समीप आयी हुई बुद्धि वृत्तियों का साक्षी उनको देखता रहता है ।

जैसे विषय को प्रकाशित करने वाला दीपक का प्रकाश अपने घट पटादि दृश्यों के समान आकार वाला होता-सा प्रतीत होता है । फिर भी वस्तुतः वह उनसे मिला हुआ नहीं रहता है, उसी तरह ज्ञान आत्मा भी अपने प्रकाश्य बुद्धि वृत्तिंयों (प्रत्ययों) से सर्वदा अलिप्त ही रहता है ।

बोध स्वरूप (ज्ञान स्वरूप) आत्मा से प्रकाशित हुई परिच्छिन्न विकारी बुद्धि स्वयं ज्ञान स्वरूप नहीं है । मिश्री की तरह वह एक रस ज्ञान स्वरूप नहीं है । वह तो मिष्टान्न की तरह अन्य की मिठास का अहंकार करने की तरह आत्मा की ज्ञान प्रकाशता को ग्रहण कर अपने में ज्ञानपने का अहंकार करती है कि मैं सबकी ज्ञाता आत्मा हूँ । और मेरे अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता नहीं है । इस प्रकार साभास बुद्धि प्रकाशित होती है । उसके अविवेक से ही आत्मा में 'मैं बद्ध हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ'' इत्यादि जो भी संसार प्रतीत होता रहता है, वह सब बुद्धि की ही भ्रान्ति है । सुषुप्ति में बुद्धि का अभाव रहता है, फिर भी बोध का सद्भाव ही बना रहता है । बुद्धि के अज्ञान से ही संसार बंधन एवं बुद्धि के अज्ञान नाश होने से ही ब्रह्मत्व रूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

हे आत्मन् ! जो भक्त, ज्ञानी अपने से भिन्न, अपने इष्ट, आराध्य की उपासना करता है, वह भक्त, ज्ञानी तत्त्ववेत्ता नहीं होता है । क्योंकि श्रुति कह रही है ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते - केन. उप.२/५

योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति इति न स वेद यथा पशुरेव देवानाम् – बृहदा. उप. १/४/१०

उस ब्रह्म को अपने से भिन्न मानकर उपासना करने वाला अज्ञानी उपासक उस इष्ट का पशु ही है । वह नहीं जानता है कि जिसकी वह उपासना कर रहा है, वह इष्ट उसका आत्मा ही है । आत्मा से, स्वयं से भिन्न इष्ट के नाम से कहे जाने वाले लोक, व्यक्ति, पदार्थ अनिष्ट ही है और अनिष्ट होने से सब विनिष्ट रूप ही है । अतः उस इस ब्रह्म की 'यह' रूप से 'इदम्' रूप से उपासना न कर, मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार जानना चाहिए ।

जीव निष्काम कर्म एवं साकार-निराकार उपासना द्वारा मल, विक्षेप दूर कर अज्ञान दोष की निवृत्ति इस ब्रह्मा विद्या अर्थात् ब्रह्म आत्मेक्य ज्ञान किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु द्वारा प्राप्त करता है । जिसके फल स्वरूप मनुष्य जन्म-जन्मांतर के संचित् हुए अज्ञान से उत्पन्न होने वाले पापों से मुक्त हो जाता है । तदंतर पुनः इस संसार के कर्मों से वह आकाश के ही समान असंग ही रहता है ।

मल, विक्षप दोष से रहित केवल आवरण दोषवाला मुमुक्षु के सम्मुख सद्गुरु समस्त लौकिक तथा वैदिक धर्म कर्म अनुष्ठान का फल नाश रूप निश्चय करा देता है । उसकी मन की अच्छी तरह परीक्षा कर के देखें कि वह अत्यंत श्रद्धावान्, तितिक्षावान्, जितेन्द्रिय, शम, दमादि साधन सम्पन्न, दोष शून्य, अभिमान रहित, सेवा परायण है या नहीं । तब उस मुमुक्षु को इस सर्वोत्तम परम पवित्र, परम गोपनीय, प्रत्यक्ष (सद्या मोक्ष) रूप फल के देने वाला आत्म ज्ञान बारम्बार अनेक युक्तियों द्वारा निष्काम भाव से उपदेश करें । बिना अधिकारी के ज्ञान को न दें ।

आत्म ज्ञानी पुरुष ब्रह्मज्ञान का फल अपने में अनुभव का प्रकार यह होगा कि जैसे अपने से भिन्न दूसरे पुरुष के शरीर में किसी पुरुष को अभिमान नहीं होता । अर्थात् मैं-मेरा इस प्रकार अभिमान नहीं होता । उसी प्रकार अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, को भी अपने से भिन्न दृश्य रूप देखने के कारण मैं-मेरा, अभिमान नहीं करता है । क्योंकि अपने शरीर व दूसरे के

शरीर को देखने में दर्शन क्रिया एवं पृथक्त्व तो समान ही है । अर्थात् देह से भिन्न आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अभिमान से रहित हो जाता है । इस अत्यंत निर्मल ज्ञान को प्राप्त कर पुरुष सर्वथा मुक्त हो जाता है । जीव परमानंद का अनुभव प्राप्त कर ब्रह्मात्मैक्य रूपता को प्राप्त हो जाता है ।

यह आत्म ज्ञान इंद्र लोक के राज्य से भी बढ़कर है । अतः ऐसे-वैसे किसी भी अयोग्य, कुपात्र, अनाधिकारी शिष्य को यह ज्ञान कभी न दें । यह श्रुति-स्मृति का आज्ञा है ।

इदं ते नातपस्काय ना भक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति । - गीता १८/६७

हे अर्जुन ! यह रहस्यमय ब्रह्म ज्ञान (ब्रह्म विद्या) किसी भी काल में न तो तप रहित मनुष्य से कहना चाहिए, न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से ही कहना चाहिए तथा जो आत्मा में अश्रद्धा रखते हैं उनसे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए ।

य इमं परमं गुह्य मद्‌भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मपि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः ।। - १८/६८

जो पुरुष मुझ में परम प्रेम करके इस परम रहस्य युक्त गीता शास्त्र को मेरे भक्तों में प्रीति पूर्वक निष्काम भाव से कहेगा, वह मुझको जानने वाला मुझ को ही प्राप्त होता है, ''ब्रह्मवित ब्रह्मैव भवति'' इसमें संदेह नहीं है ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिवन्मे प्रिय कृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। -१८/६९

जो मेरे इस गीता ज्ञान को मुझे पाने की इच्छा से प्रयत्न शील भक्तों को समझावेगा । उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है । तथा पृथ्वी भर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं, यह परम सत्य है ।

ध्यान किया नहीं जाता

दुकानों पर हर डब्बों में सामान एवं उसका नाम होता है । शक्कर के डब्बे पर शक्कर एवं नमक के डब्बे पर नमक लिखा होता है । यदि एक दूसरे के लेबिल गलत लग जावे तो नमक में शक्कर एवं शक्कर में नमक मिलेगा । किन्तु धार्मिक लोग, मानव पर भी हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, इसाई, जैन, बौद्ध, आर्य, गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी, सिंधी, उड़िया, बंगाली लेबिल लगा देते हैं । परमात्मा न हिन्दु है न मुस्लिम, न इसाई है न सिख, न जैन है न बौद्ध । साधक यह भी याद रखे ! कि परमात्मा के पास न हिन्दु पहुँच पाता है न मुस्लिम, जैन, बौद्ध, मारवाड़ी, गुजराती, ब्रह्मचारी या संन्यासी । यह सब देहात्मवादी तो मृत्यु को प्राप्त होकर इसी मिट्‌टी में मिलेंगे । परमात्मा के साथ तो केवल जीवात्मा का ही मिलन होता है । जीवात्मा परमात्मा अंशी-अंश सम्बन्ध वाले होने से सजातीय है और देह व पृथ्वी सजातीय होने से उनका मिलन होता है । सजातीय परमात्मा के साथ विजातीय देहात्मवादी कभी नहीं मिल सकेगा । जबकि सभी में एक पंच महाभूत एवं आत्मा भरा हुआ है । यह जाति लेबिल लगाने से ही भेद की दीवार खड़ी हो जाती है । लड़ाई शुरु हो जाती है । पृथ्वी एक ही है केवल अपने-अपने खेत की बागड़, सीमा को बढ़ाने हेतु एक - एक फुट जमीन के लिए लोग तलवार, कुठार, उठा मानव को काट देते हैं । यदि अपने खेत की बागड़ बाउन्ड्री हट जावे तो सब एक पृथ्वी मात्र है । इसी प्रकार सभी जाति लेबिल हट जावे तो मानव एक पंचमहाभूतों का पिंड एवं आत्मा का निवास स्थान है । आदमियों में केवल एक परमात्मा है । वहाँ हिन्दु, मुस्लिम के लेबिल मत लगाओ ।

अहंकार मत करो कि मैं हिंदु जैल का या मुस्लिम जैल का रहने वाला है । अहंकार मत करों कि मैं पंजाब कूवें का पानी हूँ या उड़िसा प्रदेश के कूवे का पानी हूँ । पानी न पंजाब का है, न बंगाल का पानी है, वह तो पृथ्वी का है । इसी तरह अहंकार मत करो कि मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाति वाला हूँ । अहंकार करना है तो बस इतना ही करना कि मैं एक आकाश के नीचे पृथ्वी के ऊपर सूर्य के प्रकाश में पवन, पानी तथा अन्न के आधार से जीने वाला मानव हूँ।

जो थोड़ा भी देह भाव से ऊपर उठ गया है, आत्म भाव में स्थित हो चुका है, वह किसी के पूछने पर कि 'तुम क्या हो'? वह इतना ही कहेगा कि मैं मानव हूँ । मेरे मन में कोई भेद भाव नहीं है । कोई जाति, प्रांत, भाषा, देश, सम्प्रदाय का भेद नहीं है और जो अभी मानव ही नहीं बनने को तैयार है वह धार्मिक कैसे हो सकेगा ? परमात्मा होने का भाव कैसे ला सकेगा ? जाति परिवार वालों ने अपने संतानों पर उसी प्रकार जाति के लेबिल लगा दिये हैं, जैसे वे डिब्बे में रखी बिक्री होनवाली वस्तु हैं । अतः आदमियों को तुम बिकने वाली चीजों के समान वस्तु या सामान मत बनाओ । जैसे तुम्हें तुम्होरे पिता-माता ने हिन्दु, मुस्लिम, ब्राह्मण, क्षत्रिय, डब्बे के सामान बनाने की भूल की है । उसी भूल को तुम अपने बच्चों पर हस्तान्तरित न करो, उन्हें अछूत, शुद्ध ही रहेने दो । यदि तुम किसी लेबिल को लगाकर गर्व कर रहे हो कि मैं हिंदु, मुस्लिम, आर्य, जैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय हूँ तो तुम दूसरे शब्दों में यही कह रहे हो कि मैं हिंदु, मुस्लिम, जैन, आर्य जेल का कैदी हूँ । और याद रखो ! जो भी इस प्रकार का अभिमान करने वाला है वह मिट्टी में ही मिल जावेगा । परमात्मा तक यह पंचभूत, मिट्टी के पुतले एक भी किसी प्रकार की पवित्रता लेकर नहीं पहुँच सकेंगे । परमात्मा के साथ तो एक जीवात्मा का ही मिलन हो सकेगा ।

लोग शरीर को सताने में लगे हैं । शरीर की हत्या करने में, दुःख देने में लगे हैं । शीर्षाशन कर रहे हैं, उल्टे लटक रहे हैं, गंगा में खड़े हैं, कांटों में पड़े हैं, शीत, वर्षा, गर्मी में शरीर को तपा, गला, सिकोड़ रहे हैं । उपवास कर रहे हैं, केश लोचन कर रहे हैं । कोई नंगा विचरण कर रहा है, कोई वृक्ष की तरह खड़ा है । कोई कान को काट रहे हैं, कोई मूत्रेंद्रिय में ताला बंद कर घूम रहे हैं । शरीर को नाना प्रकार आसन द्वारा तोड़ मोड़ कर रहे हैं । इन

लोगों ने परमात्मा को पाना कोई कर्म काण्ड़ समझ रखा है कि इतनी कीमत चुका देंगे, इतने व्रत, उपवास, श्वाँस, प्राणायाम, तीर्थाटन, पाठ, जप कर लेंगे, परमात्मा मिल जावेगा । जिसे सर्कस में भर्ती होना हो तो शरीर को लचीला बनाना आवश्यक है, किन्तु परमात्मा के मिलन में शरीर को सरलता नहीं मन की निर्दोषता चाहिए । यह बाह्य क्रिया मोक्ष की साधना नहीं है। मानव की मूढ़ता है । असहज कृत्रिम साधनों द्वारा उस नित्य प्राप्त परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । लोग शरीर को भूखा रखे, कोड़े मार-मार मन में धार्मिकता का अहंकार करते हैं । किन्तु तुम केश लोचन करके, भूखे, नंगे रहकर कांटो, अग्नि पर नंगे पाँव चलकर कोड़े मारकर किसी अन्य को नहीं प्रत्युत अपने को ही सता रहे हो । परमात्मा को ही सता रहे हो । परमात्मा को पाने के लिए किए जा रहे सभी भक्तों, योगियों को साधन, प्रयत्न, प्राप्त परमात्मा के प्रति दूरी का भाव पैदा कर रहे हैं ।

परमात्मा का ध्यान करने लोग बैठते हैं महिनों, वर्षों साधना करते हैं, किन्तु उन्हें ध्यान में परमात्मा की उपस्थिति का आभास नहीं होता । प्रत्युत मन में संसार का ही वहाँ व्यापार चलता रहता है ।

परमात्मा का ध्यान किया जाता है तो भी वह नहीं आता जबकि संसार का ध्यान नहीं किया जाता तो भी होता रहता है । उसका कारण स्पष्ट है कि उसे हमने सुख रूप जाना है, जिसे हमने प्यार किया है, इसीलिए उसका ध्यान होता रहता है । जिसे सुख रूप नहीं जाना, उससे प्यार भी गहरा नहीं होता है । जैसे पुत्र, पति, धन की तरह हमारे मन में परमात्मा के प्रति गहरा प्यार नहीं है । इसीलिये वह ध्यान में आता भी नहीं है ।

ध्यान साकार का होता है । परमात्मा निराकार है । परमात्मा शक्ति है, व्यक्ति नहीं । शक्ति का अनुभव होता है । जैसे मेगनेट की आकर्षण-विकर्षण शक्ति, बिजली करंट शक्ति, हवा, भूख-प्यास, सुख-दुःखादि, व्यक्ति का दर्शन एवं ध्यान होना स्वाभाविक है । परमात्मा का दर्शन नहीं होता । इसलिए बिना रूप वाले निराकार परमात्मा का ध्यान कैसे हो सकेगा ? परमात्मा अन्य नहीं है 'स्व है आत्मा है', ध्यान सदा अन्य का होता है । ध्यान क्रिया नहीं है, ध्यान तो बोध है, ध्यान तो होश है, ध्यान तो सजगता है, ध्यान तो होशियारी है, ध्यान तो जाग्रतावस्था है । ध्यान तो साक्षी भाव है,

ध्यान तो आत्म भाव की अवस्था है । ध्यान में हुआ जाता है, किया जाने वाला ध्यान नहीं । आत्मा किया नहीं जाता साधनों द्वारा । आत्मा नित्य है, उसी में हुआ जा सकता है कि मैं यह अनित्य देह नहीं हूँ, बल्कि नित्यात्मा हूँ ।

भला ध्यान करने से कहीं मुक्ति होती है ? ध्यान करने से मुक्ति नहीं होती, क्योंकि ध्यान क्रिया है । क्रिया से उत्पन्न होने वाला, क्रिया से साध्य वस्तु सत्य नहीं होती है । लोग संसार से मन को हटाकर ध्यान करने बैठते हैं, समय निकालते हैं, उनका साधन करने पर जोर है । याद रखें ! न ध्यान से मोक्ष न यज्ञ से न दीप दिखाने से, न आरती करने, न पूजा करने से, न मंत्र जप से, न पाठ करने, न गंगा स्नान से, न तीर्थयात्रा करने से मोक्ष होता है ।

भगवान् को न भोग लगाओ, न भगवान् को दीप दिखाओ, न पुष्प माला चढ़ाओ, न जल चढ़ाओ, परमात्मा का नैवेद्य, जल तुम पर बरस रहा है । उसमें अपने को तृप्त करो । उसका प्रकाश तुम पर फैल रहा है, उसका अनुभव करो कि समस्त क्रियाएँ उसी के प्रकाश में हो रही हैं । उसी की सुगंध तुम तक फैल रही है । तीर्थ-सेवन, तपोवन में जाने से गंगा में स्नान से कहीं मोक्ष मिलता है ? कभी नहीं । मोक्ष की प्राप्ति हेतु किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाना पड़ता है । सद्गुरू की प्राप्ति से बड़ा न तप है न कोई सिद्धि है ।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमाया नअस्ति अकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

– मुण्डक. उप. १/२/१२

तीर्थों में धन, समय, शक्ति, व्यर्थ नष्ट करने से कुछ मिलने वाला नहीं । कुछ कर सको तो अपाहिज, विकलांग, बूढे, बच्चों के लिए करलो । गंगा में स्नान के बजाय ज्ञान गंगा में स्नान कर लो, दान यज्ञ कर अपने धन, जीवन को पवित्र करलो । नेत्र दान मरने के बाद करने के लिए संकल्प कर घर वालों को बता देना ताकि उन आँखों से दो अंधों को प्रकाश मिलेगा । मृतक स्मृति दिवस पर, विवाह, जन्म दिवस पर, स्वतन्त्र दिवस पर, विशेष पर्वों पर वृक्षों को लगाओ, उनकी रक्षा करो । हत्या से प्राप्त किसी वस्तु का उपयोग न करें ।

ध्यान है साक्षी भाव

ध्यानाभिलाषियों को प्रथम यह स्मरण कर लेना है कि ध्यान का अर्थ एकाग्रता नहीं । ध्यान तो है साक्षी भाव । एकाग्रता में तो तनाव है । तनाव में लड़ाई है । एवं जहाँ द्वन्द्व है, तनाव है, एतराज है, वहाँ विश्राम कहाँ, वहाँ शांति कहाँ ? एकाग्रता तभी सिद्ध होगी जब मन के साथ जबरदस्ती की जावे जैसे कुत्ते को जंजीर से बांध दिया जावे । इसी प्रकार मन को सब ओर से घसीट किसी एक दिशा में खड़ा कर दिया जावे । मन का स्वभाव दौड़ने का है एवं आप उसे भागने नहीं देना चाहते हैं, तब मन व आपके बीच लड़ाई तो अवश्य शुरू होगी, फिर वहाँ ध्यान का जन्म कभी नहीं हो सकेगा, सिवाय उपद्रव के ।

ध्यान का अर्थ है मन को पूर्ण स्वतंत्र छोड़ देना, निर्द्वंद्व कर देना, अपनी ओर से उसे निर्भय कर देना है । उसे मुक्त कर देना है । अगर उसके मार्ग में रुकावट पैदा करने की चेष्टा की तो फिर ध्यान में कभी नहीं हो सकेंगे ।

तो मन से लड़ना नहीं है, जो मन से लड़ेगा, उसकी हार निश्चित है, चित्त विक्षिप्त होता चला जावेगा । यदि जीतना है तो मन से कभी लड़ना मत । यदि मन को एक घंटे भी विश्राम देना है तो समस्त विधि-निषेध हटा उसे देखते रहना कि वह क्या देखना चाहता है, क्या सोचता है ? क्यों देखता है, क्यों सोच रहा है ? ऐसा विक्षेप, द्वंद्व, लड़ाई मत छेड़ना । मन जैसा भी है अच्छा या बुरा, शुभ या अशुभ, हम उसी मन के साथ राजी हो जावें । अगर

मन जाता है बाहर तो जाने दें, मन पतंग को उठने दें, उड़ने दें, जाने दें । अगर मन रोता है रोने दें, हँसता है हँसने दें, गाली देना चाहता है गाली देने दें, जूता खाना चाहता है खाने दें । अगर वह व्यर्थ की बातें सोचता है सोचने दें । यदि ध्यान में उतरना है तो एक घंटे का ही प्रयोग कर लें । मन जो भी करे एक घंटा उसे आप मौन ही देखते रहें । मन जो भी करे लड़े नहीं, रोके नहीं, मार्ग का सुझाव भी न दें कि यह मत करो, यह मत करो बस चुपचाप देखते रहो ।

जल में रहकर मगर से बैर नहीं करा जा सकेगा । मन से लड़ने वाला, मन के साथ विरोध करने वाला कभी भी शांत नहीं हो सकता, दुःखी ही रहेगा । पति से सदा लड़ने वाली पत्नी या पत्नी से सदा लड़ने वाला पति कभी शांति, प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकेंगे । शांति पाने में अस्वीकार सूत्र नहीं है, स्वीकारना ही सूत्र है ।

स्थूल रूप से आप मन के साथ राजी हो गये एवं जहाँ जाना चाहता है, वहाँ जाने दिया, जो करना चाहता था, वह करने भी दिया । किन्तु सूक्ष्म रूप से आप यही सोच लेते हैं कि यह सिनेमा घर आना तो ठीक नहीं, मंदिर जाना तो अच्छी बात है तो भी सूक्ष्म लड़ाई शुरू हो गई, भले आप यह भी सोचें कि अब एक घंटा तो मन को विश्राम करने के लिए हम समय दे चुके हैं, उसकी मरजी आये वैसा करे । लेकिन ऐसा तो नहीं करना चाहिए था, ऐसा तो ठीक नहीं । यदि ऐसा विचार भी करते हैं तो यह भी मन की सूक्ष्म निंदा हो गई । हमें निंदा–प्रशंसा के द्वंद्व से मुक्त होना है । यह ठीक है यह गलत है, हमें ऐसा भी निर्णय उसके स्वभाव के लिये नहीं लेना है । चित्रकार या मूर्तिकार कृष्ण मूर्ति बनाये तो बहुत अच्छी बात है और एक नग्न स्त्री की झाँकी सजा रहा तो बहुत गलत बात हो रही है । यह सूक्ष्म निंदा एवं प्रशंसा का भाव भी मत करना । निर्णय मत लेना कि क्या है, जो है – बस है ।

हम किसी पौधे के समीप खड़े पुष्पों को एवं काँटों को भी देखते हैं । वहाँ यह निर्णय नहीं लेते कि काँटे क्यों हैं, पुष्प ही पुष्प क्यों नहीं । या पत्ते क्यों है, पुष्प ही पुष्प क्यों नहीं ? हम न तो यह कहते हैं कि फूल अच्छे हैं एवं काँटे बूरे हैं । हम फूल एवं काँटें के बीच कोई चुनाव नहीं करते कि कौन श्रेष्ठ एवं कौन गौण है । यदि आपके भीतरी मन में यह निर्णय ले लिया जाता कि

फूल ही फूल होते काँटें न होते तो कितना अच्छा होता । तो बहुत गहरे में लड़ाई चलती रहेगी । आप काँटें को स्वीकार नहीं कर पाये हैं । बात स्पष्ट है लड़ाई चलती रहेगी । ध्यान का मतलब सम्पूर्ण स्वीकृति ।

लोग ऊपर से साक्षी बन जाते हैं, घंटा दो चार या दिन भर के लिए कि अब हमें कुछ नहीं कहना है । पूरे दिन मौन रहेंगे, कुछ बोलेंगे नहीं, कुछ भी रुकावट नहीं डालेंगे, किसी भी काम में । देखा जाता है पति-पत्नी के बीच नहीं लड़ने की प्रातः प्रतिज्ञा ले लेते हैं । सारे दिन एक दूसरे से बचकर निकलते हैं कि कहीं टकराव किसी बात पर न हो जावे । प्रतिज्ञा न लड़ने की, न बोलने की टूट न जावे । किन्तु अन्दर से लड़ाई जारी है कि इसे ऐसा नहीं करना चाहिए था, बच्चे को नहीं पीटना था, यह साड़ी नहीं पहनना था, यह वस्तु यहाँ नहीं रखना था, किन्तु अब बोलेंगे तो लड़ाई हो जावेगी । अतः चुप रहना ही ठीक है । यह सूक्ष्म लड़ाई चल रही है, यह दोनों चुप नहीं है ।

तुम कोई विचार, निर्णय, चुनाव मन पर मत लाओ । तुम लाये तो लड़ाई शुरू हो जावेगी । जब सब होता रहे एवं हम सब स्वीकार कर लें, तो एक बहुत नयी स्थिति का जन्म शुरू होता है, तत्काल तुम साक्षी हो जाते हो, क्योंकि तुम कर्ता नहीं होते हो ।

जो हो रहा है, तन में होने दो । हाथ, पाँव, हिल रहे हैं, हिलने दो । करवट बदलती है, बदलने दो, उठना, बैठना, दौड़ना, रुकना चाहता है, होने दो । श्वाँस अपने ढंग से भीतर बाहर होता है, होने दो । अपनी तरफ से कुछ मत कहो, न करो । क्योंकि जैसे ही तुम कर्ता नहीं रहते हो, तुम साक्षी हो जाते हो । जैसे बर्फ का मिटना ही पानी होना है । पानी होने के लिये कोई क्रिया नहीं करना पड़ता है । लोग सोचते हैं, साक्षी होना पड़ेगा । साक्षी कोई क्रिया नहीं जो होने से होगी, करने से होगी । साक्षी तो स्थिति है, स्वभाव है, साक्षी तो दर्पण की तरह खाली है । दृश्य का प्रतिबिंब न हो खालीपनदर्पण का स्वरूप है, उसकी अपनी स्थिति है । किन्तु दृश्य के कारण वह कोरापन दिखाई नहीं पड़ता है । इसी प्रकार कर्तापन के कारण साक्षी भाव दिखाई नहीं पड़ता है । सुषुप्ति में कोई कर्ता का भाव नहीं, इसीलिए अकेला साक्षी ही

भासित होता है । जाग्रत व स्वप्न चिदाभास से भासित होता है । साक्षी उसके पीछे रहता है ।

जिस क्षण तुम्हारे मन से कर्ता भाव चला जाता है, उसी क्षण तुम्हारे साक्षी का भाव आविर्भूत हो जाता है । यह सहज होता है । साक्षी कोई अभ्यास से सिद्ध होने वाली अवस्था नहीं है । साक्षी होना कोई कर्म नहीं । वह जो कर्ता होने का भाव है, उसके गिरते ही साक्षी प्रकट हो जाता है । **साक्षी होजाना ही ध्यान है । इससे ज्यादा ध्यान कुछ भी नहीं ।**

एकाग्रता तो कभी ध्यान नहीं है । क्योंकि तुम कर्ता हो रहे हो उसके । तुम कर रहे हो । तुम्हारा किया ध्यान तुमसे बड़ा नहीं हो सकेगा । संसार में मकान मशीन, यंत्र बड़े हो जाते हैं । किन्तु चेतना तुम्हारे से ज्यादा नहीं होगी । जड़ मशीन में जो दिमाग बैठाया है, वह तुम्हारी ही चैतन्यता का प्रतिबिंब है । मनुष्य निर्मित मूर्ति मनुष्य की चेतना से बड़ी अर्थात् परमात्मा नहीं हो सकती । मूर्ख, दुःखी, रोगी, बलवान्, चित्रकार यदि एकाग्रता करेगा तो अपनी ही स्थिति के समान एकाग्रता होगी, उससे बड़ी नहीं ।

एकाग्रता तुम्हें कभी भी अपने से ऊपर नहीं ले जा सकेगी । क्योंकि तुम्हीं को करना है, तो अपने से आगे कैसे जाओगे ? उस क्रिया में तुम्हें बंधना होगा लेकिन साक्षी भाव जो है, वह तुम्हारा कर्म नहीं है, तुम उसमें हो नहीं । तुम तो अचानक पाते हो कि जिस क्षण कर्तापन नहीं रहा, उस क्षण तुम पाते हो की साक्षी हो गये हो । इस होने में कोई यात्रा, साधन, अभ्यास नहीं करना पड़ता । कर्ता होने से साक्षी होने तक तुम्हें जाना नहीं पड़ता । बस, अचानक एक क्षण पहले तुम कर्ता थे और अचानक एक क्षण बाद तुम पाते हो कि कर्ता खो गया और मैं सिर्फ साक्षी रह गया हूँ ।

यह जो साक्षी होने की दशा है, इसी का नाम वास्तविक ध्यान है । इसलिए ध्यान करने की कभी कोशिश मत करना । ध्यान उतर सके, ध्यान पैदा हो सके, इस अवस्था के लिये अपने को खाली छोड़ देना । ध्यान होगा, आपको तो सिर्फ अपने को उस हालत में छोड़ देना है कि ध्यान हो जावे । बीज भूमि में अपने को छोड़ देता है, ध्यान का अंकुर स्वतः

फूट जाता है । बीज को कोई चेष्टा अंकुर हेतु नहीं करना पड़ती, केवल वह अपने को उस अवस्था में अर्थात् भूमि में छोड़ देता है जहाँ अंकुर निकलने में सहायता मिल जाती । सूरज निकलता है, आपको अपने घर का दरवाजा खुला छोड़ देना है । रोशनी भीतर स्वतः फैल जावेगी, वह भीतर लानी नहीं पड़ेगी । जैसे कोई बादल को किसी डब्बे में बन्ध किया नहीं जा सकता, इसी तरह रोशनी को बाहर से भीतर किसी साधन से बांध कर लाना तो सम्भव नहीं, किन्तु दरवाजा बंद कर दें तो रोशनी को बाहर कमरे से निकाली जा सकती है । इसी प्रकार साक्षी भाव लाया तो नहीं जा सकता है, किन्तु कर्ता भाव से साक्षी भाव छिपाया जा सकता है । कर्ता भाव हटते ही साक्षी भाव प्रकट हो जाता है स्वतः । हम ध्यान होने को रोक तो सकते हैं, किन्तु ध्यान को ला नहीं सकते । लोग ध्यान लगाने की पूरी जिंदगी चेष्टा करते हैं, किन्तु यह उनकी चेष्टा, क्रिया, ध्यान न लगने की ही हो जाती है ।

तुम साक्षी न हो जाओ, इसके लिए हजार, हजार प्रयत्न कर रहे हो । फिर जब किसी से सुनते हो कि साक्षी होने में बड़ा आनन्द है, तब तुम सोचते हो, ''चलो साक्षी भी बनकर देख लें'' तो यह साक्षी होने की कोशिश भी साक्षी भाव को रोकने का ही इन्तजाम है । करके कोई कर्ता ही हो सकता है, साक्षी नहीं ।

जिन्हें समग्र स्वीकार की भाषा समझ आ गई, उनके जीवन में जो घटता है, उसी का नाम ध्यान है । जिनको ध्यान मिलेगा वे यह कभी नहीं कहेंगे कि हमनें ध्यान किया । अगर कहते हैं कि मैंने किया, तो समझ लेना अभी उन्हें हुआ नहीं, ***होने का नाम ध्यान है, करने का नाम ध्यान नहीं ।*** इसीलिए जिसे हुआ है, उसने कहा है ''प्रभु कृपा'' वैसे प्रभु कुछ पक्षपात किसी के साथ करता नहीं । किन्तु साधक ने किया नहीं ध्यान वह हो गया । इसलिए कहता है मुझे पता नहीं कैसे हुआ । जैसे प्रेम दो व्यक्तियों में हो जाता है, घट जाता है, स्वतः एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते हैं प्रेम किया जाता नहीं ।

ध्यान अक्रिया

हमारी भाषा के कारण बहुत भूल पैदा हो जाती है । जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, नींद, जागरण कोई क्रिया नहीं है । किन्तु बोलते हैं ''वह सो गया'', ''वह जाग गया'', वह मर गया, वह पैदा हो गया । उसने १९४० में जन्म लिया तो सुनकर लगता है, जैसे कुछ करके पैदा हुआ या नींद लाई गई या मृत्यु लाई गई । बिस्तर, तकिया, पंखा, रेडियो, सुगन्ध यह नींद के साधन नहीं है । यह सब होने से नींद आ जावेगी ऐसा भी नियम नहीं । सूरज की रोशनी लायी नहीं जा सकती, किंन्तु घर के दरवाजों से जो बाधा भीतर होने में थी, उसे मिटाया जा सकता है । रोशनी गठरी बाँध ला नहीं सकते किन्तु दरवाजा बन्द कर भीतर आनें में रुकावट कर सकते हैं । नींद आने में रुकावटें डालने वाले साधन को हटाया जा सकता है । नींद आने में सहयोगी साधन को अपनाया जा सकता है । किन्तु नींद स्वतः उतरती है, वह बुलाने की, लाने की क्रिया नहीं है ।

जब कहा जाता है ध्यान अक्रिया है, तब उसका यही मतलब है कि आप जो भी कर रहे हैं, वह ध्यान की बाहरी व्यवस्था है, फिर उस व्यवस्था में ध्यान आवेगा । बिजली की फिटिंग बिजली आने में बाहरी व्यवस्था है, फिर बिजली लाना नहीं पड़ेगी वह कनेक्शन होते ही दौड़ जावेगी । ध्यान की कोई विधि नहीं है, न नींद की कोई विधि है ।

ध्यान में ऊपरी इन्तजाम का मतलब है मन के द्वारा बाधा न डाले, ध्यान के पूर्व जो तैयारी की जाती है, वह ध्यान नहीं वह तो नींद से पूर्व

बिस्तर बिछाने अन्धेरा करने, ठण्डक या गर्मी लाने जैसी व्यवस्था है । नींद की घटना तो बाद में स्वतः घटने की तरह ध्यान तो बाद में ही होता है । ध्यान में जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं, वह हम अलग कर देंगे और प्रतिक्षा करेंगे । ध्यान को हम बाधा खड़ी करके रोक सकते हैं । किन्तु ध्यान को ला नहीं सकते किसी साधन से । ध्यान की व्यवस्था करने का मतलब हम ध्यान को रोकने का जो इन्तजाम करते हैं उसको हटा दें – ध्यान आ जायेगा, दरवाजा खोल दें, सूरज आ जायेगा ।

नींद हेतु कुछ नहीं करने का मतलब उसकी बाहरी व्यवस्था तो करनी ही पड़ती है । इसी प्रकार दरवाजे तो खोलना ही होगा । समस्त स्वीकार में ही ध्यान घट जाता है, कुछ इन्कार करने जैसा न रह जावे तभी वह अनुपम क्षणों में ध्यान प्रकट हो जाता है ।

ध्यान में प्रवेश के लिए श्वाँस द्वार है, यह सर्व प्रथम जान ले । श्वाँस जीवन मृत्यु के लिए महत्वपूर्ण है । ध्यान भी श्वाँस के ही मार्ग से जन्म लेता है । श्वाँस के मार्ग से ही परमात्मा प्रकट होता है । हमने जीवन की महत्वपूर्ण क्रिया श्वाँस पर कभी ध्यान नहीं दिया । वह चुपचाप समाप्त होती रहती है । अनजाने में ही श्वाँस चलती रहती है २४ घण्टे किन्तु हमने कभी ख्याल नहीं किया । श्वाँस पर हम कभी जागे नहीं । यदि हम श्वाँस के प्रति जाग सकें, तो तत्काल श्वाँस के साथ ध्यान के आगमन का द्वार खुल जाता है, कुछ और करने की जरूरत नहीं ।

श्वाँस के आवागमन पर ध्यान करने से तत्काल एक दूसरा मार्ग चेतना का, अवेयरनेस का खुल जाता है । यदि श्वाँस बेहोशी में ले रहे हैं, तो फिर ध्यान के लिए दरवाजे खुल नहीं पायेंगे । ख्याल रहे कि श्वाँस भीतर जा रही है, बाहर आ रही है, तो आपके भीतर दो चीजें होंगी, एक आप और एक आपके सम्मुख श्वाँस । इसमें पहले अभी तक श्वाँस और आप एक थे । किन्तु अब श्वाँसको देखने से तत्काल दो हो गए । जो श्वाँस से अलग अपने को जान लेता है, फिर उसे कोई कैसे मार सकता है ? अज्ञानी की मैं व श्वाँस एक है । ज्ञानी का मैं व श्वाँस भिन्न है । उसकी मृत्यु असम्भव हो गयी, जिसने अपने को श्वाँस के पीछे देख लिया । फिर श्वाँस बन्द होने पर भी

जानेगा कि मैं हूँ । हमारे शरीर की समस्त क्रियाएँ श्वाँस द्वारा ही हो रही है । यह पूरा शरीर श्वाँस लेने की मशीन है । तो जैसे ही हम श्वाँस से अलग अपने को जान लेते हैं, उसी क्षण हम अपने को शरीर एवं उसकी क्रियाओं से भी पृथक् अनुभव कर सकेंगे, कि मैं शरीर नहीं हूँ । और फिर उसे यह भी अनुभव होने लगेगा कि मैं साक्षी आत्मा हूँ ।

श्वाँस गहरी एवं तीव्र गति से कुछ देर ले तो आप शिघ्र ही श्वाँस से अपने को भिन्न अनुभव कर सकेंगे तो ज्यादा परिणाम होगा । सारी शक्ति श्वाँस पर लग जावे तो थोड़ा भी मन का उपद्रव शेष न रह पावेगा । थोड़ा भी मन बाकी न रह पावेगा व्यर्थ अन्य चिन्तन से हट पूरा ध्यान श्वाँस पर लग जावे । साथ यह भी पूछे कि 'मैं कौन हूँ ?' तो शक्ति इस कार्य में लगने से श्वाँस गति तीव्र नहीं हो सकेगी । तो उसकी चिंता न करें । शक्ति पूरी लग जावे, चाहे श्वाँस पर हो चाहे "मैं कौन हूँ" के विचार पर लग जावे । शरीर में बिजली की धारा बहने लग जावेगी । उसे भी स्वीकार कर ले, डरे नहीं, उसे रोकने की कोशिश न करें । जो होता है होने दें, कुछ भी न रोके । ध्यान की गहराई, तभी उपलब्ध होगी जब हमारा सब अटका हुआ बाहर आ जावे । रोना, चिल्लाना, हँसना, कूदना, नाचना । जो होता है, हो जाने दो । समाज, मर्यादा, लोक की चिंता उस समय के लिए छोड़ दे तो अपने पर बड़ी कृपा होगी । कौन क्या सोचेगा, यह सोच-सोच ही हम २४ घण्टे दबे हुए सब ओर से जी रहे हैं । न हमारी खाने में स्वतंत्रता है, न पहनने में, न बोलने में, न मनोरंजन करने में, न रोने, न गाने, न नाचने एवं हँसने में । जीवन एक कैद बना रखा है ।

किसको क्या हो रहा है उसकी आप चिन्ता छोड़ दें । यदि आँख खोलकर औरों को देखने लग गए तो आपके आनन्द का द्वार आपने बन्द कर लिया । आपका ऊपर उठना अब बन्द हो गया । आप नीचे आ गए । ध्यान रहे यहाँ ध्यान के समय कोई दर्शक की तरह नहीं रहे अन्यथा वह पूरे वातावरण को गन्दा बनाने एवं अन्य के ध्यान में होने में बाधा खड़ी करने वाला महान पाप कर रहा है । देखना हो तो बीच से उठ जावे, दूर खड़ा हो जावे, विद्युत् को बहने में रुकावट खड़ी न करे । कोई किसी को स्पर्श न करें

दूर रहे । गहरी श्वाँस ले एवं छोड़े पूरी शक्ति लगा यह क्रिया करें एवं श्वाँस को जानते रहे कि वह भीतर आई एवं बाहर हुई । १० मिनट बाद तीव्रता से "मैं कौन हूँ", " मैं कौन हूँ" १० मिनट फिर विश्राम करे । न पूछे कि मैं कौन हूँ और तेज श्वाँस ले, बस शान्त हो जावे जैसा चाहे ।

आत्मा को कैसे जानें ?

खोज अनात्मा की ही हो सकती है । केवल अनात्मा ही एक देशीय, परिच्छिन्न वस्तु होने से उसका लोप हो सकता है । अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक आकाश की तरह आत्मा का कभी लोप नहीं होता । इसलिए आत्मा की खोज बाहर नहीं हो सकती । आत्मा कभी किसी की खोई नहीं – 'मृग कस्तूरी वत्' इसलिए उसे कभी खोजा नहीं जा सकता । आत्मा सदैव स्वयं प्रत्यक्ष होने से स्वयं अपने आप में प्रकाशित है । किसी भी वस्तु को जानने के लिए आत्मा का होना अनिवार्य है । आत्मा सुस्पष्ट है । आत्मा होकर क्यों नहीं रहते ? अनात्म तत्त्वों का चिन्तन शास्त्रों के शब्द जालों में फँसने की क्या जरूरत ?

नगर, ग्राम, देश की दूरी तो तुम बता सकते हो कि वे तुमसे कितने दूर है । किन्तु क्या तुम यह भी बता सकते हो कि तुम, तुमसे कितने दूर हो ? तुम आत्मा से कितने दूर हो ? परमात्मा से कितने दूर हो जिसे तुम खोज रहे हो ?

पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति जैसी नहीं है । पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति तो प्राप्त वस्तु की प्राप्ति है । जब ब्रह्म को अखण्ड स्वीकार करते हैं, तब क्या अखण्ड एवं पूर्ण ब्रह्म से आप पृथक् रह सकते हो, यदि उससे अपने को, या अपने से उसे पृथक् मानते हो तो क्या वह पूर्ण होगा ? क्या उसके बिना तुम्हारा अस्तित्व है ? याद रखो ! तुम भी उससे पृथक् नहीं हो । यह कोई नूतन वस्तु नहीं जिसकी प्राप्ति करना है । केवल इसके अस्तित्व का होश करना है ।

वस्तुतः तुम आत्मा हो । किन्तु तुम आत्मा भूल से स्वयं को स्थूल देह से तादात्म्य कर अपने को जन्म-मृत्यु रूप मान रहे हो । देह का मूल मन

एवं मन का मूल स्वयं आत्मा है । यदि यह आत्मा का अनात्म देह से मिथ्या सम्बन्ध टूट जावे तो, शान्ति एवं अखण्डानन्द प्रकट हो जावे ।

जब तक तुम अपने को एक निश्चित आकार मानोगे तभी तक दुःख रहेगा । उस आकार देहभाव से पृथक् होने पर यह अनुभव होगा कि तुम आत्मा अमर हो न मृत्यु है, न जन्म । देह का ही जन्म होता है एवं देह की ही मृत्यु होती है । यदि अज्ञानी मनुष्य देह के जन्म को अपना जन्म मानता है तो उस देहाभिमानी की मृत्यु होगी । उसको मृत्यु का भय बना रहेगा । जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है । आत्मा का न उदय होता है न अस्त, वह तो नित्य है । वही तुम हो ।

आत्मा तुम नित्य हो, कभी उससे दूर नहीं, वह कभी तुम्हें अप्राप्त नहीं है । केवल इस भ्रान्ति से मुक्त होना है कि मुझे आत्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार, मुक्ति या परमानन्द अभी प्राप्त नहीं है ।

जो अभी और यहाँ तुम्हारे रूप में है यह सत्य है, वही आत्मा है, यही साक्षात्कार है । यदि अभी यहाँ, तुम्हारे रूप में नहीं बल्कि कभी कहीं एवं अन्य रूप में साधन, प्रतिक्षा, प्रार्थना द्वारा प्राप्त नवीन वस्तु है, तो फिर उसकी उपादेयता भी क्या ? जो स्थायी है, वही शाश्वत है, वही नित्य है, वही आत्मा है और वही तुम हो । केवल सद्गुरु प्राप्ति से ही यह ज्ञात होता है । आत्मा पूर्व से प्राप्त है किन्तु अज्ञान से आवृत (ढका)था । **अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।** ५/१५ : गीता । अब वही आत्मा सद्गुरु कृपा से अनावरित हो नूतन वस्तु प्राप्ति की तरह प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होने लगता है । वस्तुतः यह नवीन नहीं है । जिसका उदय नहीं होता उसका अस्त भी नहीं होता । वह है और सदा रहेगा । यही वास्तविक 'मैं' है, पूर्ण 'मैं' अथवा आत्मा का साक्षात्कार है ।

ऐसा कोई क्षण नहीं, जब चेतना रूप आत्मा का अस्तित्व न हो । द्रष्टा आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । उसकी उपस्थिति के बिना कोई दृश्य का दर्शन नहीं हो सकता । मन में फुरना भी नहीं हो सकती ।

द्रष्टा स्वयं के दर्शन में असमर्थ है । दर्पण बिना आँखों से स्वयं को प्रत्यक्ष न देख पाने पर भी क्या द्रष्टा अपने अस्तित्व को इन्कार करने में समर्थ है ? नहीं । इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन का अर्थ दर्शन नहीं, अपितु अस्ति अर्थात् 'होना' है ।'होना' ही साक्षात्कार है । ''मैं हूँ, यही मैं हूँ '' I AM THAT I AM मैं- मैं हूँ, यही शिव है । बिना कल्याण स्वरूप आत्मा के कुछ भी शरीर में हलचल, चेतना, क्रिया सम्भव नहीं । प्रत्येक वस्तु एवं क्रिया की सत्ता प्रतीति शिव स्वरूप आत्मा से है ।

अतः विचार करो ''कोऽहम् ?'' फिर विवेक कर अनात्मा से मैं भाव छोड़ । ''सोऽहम्'' का निश्चय कर आत्म रूप से रहो । यह, वह होने की इच्छा न करो । आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन, ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा मत करो । तुम आत्मा के अभाव में रह ही नहीं सकते । आत्मा का साक्षात्कार सर्वदा इसी क्षण और यहीं सम्भव है । तुम्हारा यह विचार, यह भ्रान्त धारणा कि साक्षात्कार नहीं हुआ है, यही आत्म साक्षात्कार में बाधक है । इस गलत विचार के परित्याग से ही आत्मा साक्षात्कार सम्भव हो जावेगा । शिव से पृथक् शरीर के लिए जीवित रहना सम्भव हो सकता है ? बिना आत्मा के अस्तित्व के , बिना चेतन के, बिना जीव आत्मा के यह तुम्हारा शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता । किसी भी जीव के लिए एक भी क्षण असाक्षात्कार के हो, तो ही साक्षात्कार का प्रश्न उठे ।

आत्मा से शून्य तुम एक क्षण भी नहीं हो । आत्मा सर्वदा प्रत्यक्ष है । ऐसा कोई प्राणी नहीं जो चैतन्य न हो । कोई भी जीव ऐसा नहीं जो शिव न हो । प्रत्येक जीव शिव है, शिव ही जीव है । चाहे उसे अपने या अन्य के शिव स्वरूप का भान हो या न हो, किन्तु यहाँ एक ब्रह्म के अलावा अन्य किसी की भी सत्ता नहीं है । कोई भी संज्ञा प्रदान करें, शिव चेतना ही है । आत्मा ही है, तुम ही हो । चेतना से शून्य क्या कोई भी है ? इस प्रकार क्या कोई है जो साक्षात्कार युक्त न हो ? अतः आत्म साक्षात्कार की इच्छा कभी मत करो । यदि मुझे अपना होना 'स्व' प्रत्यक्ष नहीं एवं किसी अन्य से मेरे होने का प्रमाणित कराना पड़ता हो, तभी शिव का साक्षात् नहीं है, ऐसा कहा जा सकेगा । परन्तु मैं नहीं हूँ ऐसा तो कोई मूर्ख भी नहीं कहता है अतः शिव और मैं, मैं व शिव दो तत्त्व नहीं । शिव से तात्पर्य आनन्द की मूर्ति, कल्याण की

मूर्ति, आत्मा । दर्शन का अर्थ कल्पित चित्र, मूर्ति के दर्शन नहीं । उन दर्शनों से तो दर्शन न होना ही उत्तम है ।

कर्म से, साधन से प्राप्त पदार्थ फसल की तरह नाशवान् होता है । यदि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति होती है, तो पूर्व उसका अभाव होना निश्चित है । जो वस्तु पूर्व में नहीं थी, उसकी प्राप्ति कर ली गई, तो भी वह कालान्तर में जाकर नष्ट हो जावेगी । इस प्रकार यदि मोक्ष को, परमात्मा को, आनन्द को किसी कर्म, भक्ति, योग अथवा ज्ञान साधन द्वारा नूतन रूप से प्राप्तव्य स्थिति या लोक विशेष मानेंगे तो वह भी नाशवान् ही होगा स्वर्ग, वैकुण्ठादि लोकों की तरह । किन्तु मोक्ष स्थायी है, चूँकि आत्मा यहीं है, अभी है, तथा वह तुम हो क्योंकि यह अखण्ड है ।

अपने स्वयं प्रकाश आत्मा के अस्तित्व का निर्णय करने के लिए किसी दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है । अहंकार से उत्पन्न परप्रकाश्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रिय, आत्मा को प्रमाणित करने में समर्थ नहीं हो सकते । आत्मा ही उनका आधार है । आत्मा से पृथक् स्वतंत्र उनका अस्तित्व नहीं है ।

साक्षात्कार क्या है ? क्या शंख, चक्र, गदा, पद्म विभूषित चतुर्भुज मूर्ति अथवा धनुष बाण, मुरलीधारी भगवान् ? यदि इस रूप में दर्शन हो जावे तो भी नमस्कार कर आगे बढ़ जाना । क्योंकि जो तुम्हारे इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है, वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता । केन उपनिषद का ४ से ९ मन्त्र यही घोषणा कररहे है कि जो यह रूप इन्द्रियों से जाना जाता है वह ब्रह्म नहीं है । ऐसे दर्शन से अज्ञान का निवारण नहीं हो सकता । अज्ञान से उपस्थित कल्पित आकृति अज्ञान का नाश नहीं कर सकेगी । शिष्य का अज्ञान यही है कि उसे इस तत्त्व का ज्ञान नहीं कि सभी जीव आत्म साक्षात्कार युक्त है । आत्मा से पृथक् रहना किसी के लिए सम्भव नहीं है । सद्गुरु इसी भ्रान्ति का निराकरण करा देने के लिए हैं कि बन्ध कहाँ है ? आत्मा भिन्न कहाँ है ? तुम ही नित्य, मुक्त, साक्षात् आत्मा हो । मुक्ति भविष्य में प्राप्त होनेवाली नहीं है । वह सदा के लिए है, यहीं, अभी और तुम्हारे रूप में है । अपने अस्तित्व को कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मुझे अभी अनुभव नहीं हो रहा है । अनुभव (आत्मा) यहाँ अभी और तुम्हारे रूप में विद्यमान् है ।

‘‘मैं देह हूँ’’ यह भाव, व्यक्ति को महान् पापी एवं अपराधी बना देता है । ‘‘मैं आत्मा हूँ’’ के स्थान पर ‘‘मैं देह हूँ’’ मानने वाला व्यक्ति आत्म हत्यारा है । ‘‘मैं आत्मा हूँ’’ यह अनुभव ही उत्कृष्ट तपस्या, भक्ति, योग एवं ज्ञान है । एक क्षण का यह स्वरूप भान सर्व संचित् कर्मों को भस्मीभूत कर देता है । यह आत्म भाव समस्त अनादि पाप राशि को इस प्रकार समाप्त कर देता है जैसे करोड़ों वर्षों का गहन गुफा अन्धकार सूर्योदय के साथ ही तिरोहित हो जाता है ।

नहि असत्य सम पातक पुंजा
धर्म न दूसर सत्य समाना

चेतना ही व्यक्ति का स्वरूप है । चेतना ही शिव है । उसके बिना यह शरीर शव है । चेतना ही आत्मा है और जिसका प्रत्येक व्यक्ति को बोध है, कि मैं चैतन्य हूँ । मैं जड़ नहीं हूँ । आत्मा से पृथक् कोई नहीं है । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति आत्मोपलब्धियुक्त है । तथापि कैसी विडम्बना है कि इस मूलभूत तथ्य का किसी को भी भान नहीं है । इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति आत्मोपलब्धि की आकांक्षा में नाना साधन करता रहता है । मुझे आत्मोपलब्धि नहीं है, इस महाभ्रान्ति से निवृत्त होना ही आत्मोपलब्धि है । आत्मोपलब्धि किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है । शाश्वत व्यापक नित्य होने से उसकी प्राप्ति हेतु किसी भी प्रकार का साधन आवश्यक नहीं है ।

साधन से नहीं सिद्ध आत्मा, स्वयं सिद्ध है आप रे ।।

‘‘मैं देह हूँ’’ अथवा मैंने आत्मा की प्राप्ति नहीं की है, ऐसी भ्रान्त धारणाओं से निवृत्त होते ही परम चेतना अथवा आत्मा ही शेष रह जाती है । जिसे शिष्य सद्गुरू द्वारा जाग्रत आत्मबोध आत्मोपलब्धि की संज्ञा प्रदान करता है । वस्तुतः सत्य यह है , कि आत्मा साक्षात्कार, आत्म प्राप्ति, चिरन्तन है , तथा अभी इसी क्षण सर्वत्र विद्यमान् है ।

लक्ष्य न तो तुम से पृथक् है, न नवीन रूप से प्राप्त होने का विषय है । यदि ऐसा न होता तो यह लक्ष्य मोक्ष स्थायी न होता न प्राप्त करने योग्य होता । जो नवीन रूप से प्रकट होगा, वह लुप्त भी अवश्य होगा । लक्ष्य आत्मा तो नित्य तथा अन्तस्थ ही हो सकता है ।

यदि तुमने अपने अस्तित्व का साक्षात्कार नहीं कर लिया है तो तुम यह किस प्रकार जानते हो कि तुम्हारा अस्तित्व है ? तुम्हारा होना ही आत्म साक्षात्कार है । तुम ऐसे क्षण की कल्पना भी नहीं कर सकते, जब तुम्हारा अस्तित्व नहीं रहता । तुम्हारे बिना किसी देश, काल व वस्तु की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी । अतः ऐसा कोई व्यक्ति नहीं तथा ऐसा कोई काल नहीं, जिसे साक्षात्कार नहीं होता । साक्षात्कार का अर्थ है आत्मा की पूर्णता का बोध । आत्मा की शाश्वतता का बोध । साक्षात्कार तो आत्मा है । आत्मा से रहित होकर तुम रह ही नहीं सकते । आत्मा तो सर्वथा सबके साक्षात्कृत ही है । केवल तुम इस तथ्य से अनभिज्ञ हो कि मैं साक्षात् आत्मा हूँ । इतना ही तो अन्तर है, आत्म साक्षात्कार एवं आत्मा का असाक्षात्कार में । तत्त्व दृष्टि से भेद नहीं है मात्र जानने एवं नहीं जानने का ही अन्तर है ।

जैसे किसी की जेब में रुपया है और वह उसे इधर-उधर खोजे, लोगों से पूछे कि क्या तुमने मेरे १०० रुपये के नोट को देखा है ? तब कोई लोग कहे कि देखो शायद आपके जेब में हो, और वह खोजने से जेब में मिल जावे तो बिना खोये की यहाँ प्राप्ति हुई । जिसे हम प्राप्तस्य प्राप्ति कह सकेंगे । इसी प्रकार आत्मा सदा साक्षात् है । साक्षात्कार अभी अज्ञानता के कारण आच्छादित है । सद्गुरु की कृपा से देह भ्रान्ति हट जाने पर, सर्वदा साक्षात्कृत आत्मा को अज्ञानी पुनः प्राप्त होने जैसा जान प्रसन्न होता है ।

अज्ञान नाश ही आत्म-साक्षात्कार है । आत्म साक्षात्कार को केवल औपचारिक जानो । अविद्या-नाश को आत्म साक्षात्कार की सम्मानित संज्ञा प्रदान कर दी गई है । जैसे विधवा स्त्री को भूतपूर्व श्रीमति जी की अथवा असधवा कि सम्मानित संज्ञा है ।

तुम आत्मा हो तथा साक्षात् भी हो । इसमें फिर 'कार' हेतु कहाँ कर्तव्य है ? आत्म साक्षात्कार कैसे हो ? यह जिज्ञासा से प्रतीत होता है कि तुम स्वयं को आत्मा नहीं, बल्कि देह मानते हो एवं आत्मा को कोई भिन्न वस्तु मानते हो । तभी यह प्रश्न करते हो कि मुझे आत्म साक्षात्कार कब होगा ? क्या आत्मा दो हैं जो तुम्हें प्राप्त हो सकेगी ? जड़ चेतन को जान नहीं सकता । जाननेवाले, देखनेवाले आप चैतन्य है । फिर जिसे आप जानेंगे या देखेगें वह तो जड़ होगा । वह नाशवान ही होगा ।

किसी वस्तु को अन्धकार में खोजने हेतु प्रकाश की जरूरत होती है । किन्तु स्वयं के अस्तित्व के लिए दीपक की जरूरत नहीं । इससे सिद्ध होता है कि तुम स्वयं प्रकाश हो । तुम सत्, चित से अन्यथा कुछ नहीं हो सकते । ऐसा नहीं होता तो तुम यह कहने में भी सक्षम न होते कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है । नहीं कहने में भी आत्मा का विद्यमान् होना सिद्ध हो जाता है ।

आत्मा सदा साक्षात् है । उसकी प्राप्ति का प्रयास व्यर्थ है । जो पहले ही सर्वदा साक्षात् है उसका 'कार' का प्रश्न ही नहीं उठता । तुम्हारी सत्ता का तुम निषेध करने में समर्थ नहीं हो । तुम्हारी सत्ता ही न हो तो तुम प्रश्न करने में भी समर्थ नहीं । अस्तु तुम्हें स्वयं की सत्ता को स्वीकार करना ही होगा । यह स्व सत्ता, स्व अस्तित्व ही आत्मा है । यह अभी ही साक्षात् है। अतः साक्षात् करने का मतलब है कि साक्षात् नहीं हुआ है, इस भ्रान्ति को दूर करना मात्र है आत्मा का अनावरण होना ही आत्म साक्षात्कार है । स्वयं को खोजे बिना ही तुम आत्मा हो ।

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैंठ

स्वयं अस्तित्ववान् होते हुए स्वयं को परित्याग कर बाह्य वस्तुओं की ओर तुम क्यों उन्मुख हो रहे हो ? आत्मा सर्वदा सभी को साक्षात् रहती है । बाधा केवल देहाभिमान के कारण है ।

तुम न देह हो, न मन–बुद्धि, चित्त, अहंकार हो । न अन्य कोई चिन्तनीय वस्तु हो । तुम स्वयं वही आत्मा हो, जिसका अनुसन्धान प्राप्ति या साक्षात्कार करना चाहते हो । स्वयंवर में कन्या अपने पति को बताने के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को नहीं कहती जाती है, किन्तु जब वह अपने वांछित व्यक्ति के समक्ष होती है तब वह दृष्टि को झुका कर मौन हो जाती है । अस्तु 'नेति–नेति' कि अवधि का जो साक्षी है वह साक्षात् आत्मा तुम हो ''तत्त्वमसि'' ।

साक्षी भाव कैसे जागे ?

प्रातःकाल से स्वप्न तक जो भी क्रिया होती है, वह चाहे सांसारिक व्यवहार हो अथवा, मूर्च्छा, ध्यान, समाधि हो । जाग्रत व्यवहार हो अथवा स्वप्न संसार हो । जो भी व्यवहार होता है, जो भी जाना जाता है, जो भी शब्द, स्पर्श, रूपादि का ग्रहण होता है, जो भी साधन, प्रयत्न, चिन्तन होता है, वह सब हमारे दृश्य मन से ही होता है । चाहे आप भजन करें, जप करें, ध्यान करें, पूजा करें, तीर्थ मन्दिर जावें, शास्त्रों का स्वाध्याय करें, समस्त क्रियाएँ मन की ही होगी । यदि आप आत्मा को जानना चाहते हैं, आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हैं, तो मन के ऊपर, मन से परे, मन के पीछे जाना होगा । ***मन की कोई भी क्रिया से मन के पार नहीं जा सकेंगे । मन द्वारा होनेवाली साधना मन के भीतर ही रखेगी ।***

यह बात बिल्कुल स्पष्ट एवं स्वाभाविक है कि हमारे नेत्र के सम्मुख होने वाले पदार्थों को तो नेत्र दर्शा सकते हैं, किन्तु नेत्र के पीछे का रहस्य नेत्रों द्वारा प्रकट नहीं हो सकता । इसी प्रकार मन के द्वारा होने वाली किसी भी प्रकार की साधना द्वारा, जो मन के पीछे सत्ता उपस्थित है, उससे मन कभी परिचय नहीं करा सकेगा ।

साक्षी भाव यह कोई मानसिक क्रिया या अवस्था विशेष नहीं है । यह साधन साध्य तत्त्व नहीं है, बल्कि यह साक्षी भाव स्वतः सिद्ध, नित्य, तत्त्व है । यह एक ही वस्तु है, जो मन की क्रिया नहीं है । यह तो मन की नित्य प्रकाशिका है । यह साक्षी भाव ही साधक को आत्म भाव में प्रतिष्ठित

कर सकता है । स्वरूप अज्ञान के कारण ही जीव आत्मा होते हुए अपने को देह संघात् धर्म वाला जान बन्धन को प्राप्त होता है ।

स्वप्नावस्था के समय सब सत्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु जाग्रत अवस्था होते ही सब असत् भान हो जाता है । किसी भी प्रकार की शुभाशुभ क्रिया स्वप्न टूटते ही बिना हर्ष-शोक प्रदान किए स्वप्न द्रष्टा को मिथ्या रूप निश्चय में हो जाती है । लेकिन जिसने स्वप्न देखा, वह स्वप्न द्रष्टा स्वप्नवत् असत्य नहीं है । जो देखा था स्वप्नान्तर्गत यह सब झूठा था, किन्तु जिसने देखा था वह झूठा नहीं था । वह झूठा होता तो स्वप्न के समाप्त होते ही वहाँ के हुए अनुभव का स्मरण पुनः जाग्रत अवस्था में उसे नहीं होता । अनुभव करने वाले को ही स्मरण हुआ करता है । बिना देखी, भोगी वस्तु का स्मरण ध्यान सम्भव नहीं । जैसे आपको वृद्धा अवस्था में भी बचपन, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ अवस्था की घटनाओं का स्मरण समय-समय पर स्वतः ही अथवा चाहने पर हो जाता है । वह इसलिए कि उस घटना के समय आप वहाँ अनुभव करनेवाले द्रष्टा, साक्षी आत्मा विद्यमान् थे ।

बचपन में किशोरवस्था का, किशोरवस्था में जवानी का, जवानी में बुढ़ापे का अनुभव नहीं किया जा सकता । क्योंकि देखी अवस्था का ही स्मरण ध्यान होता है । जहाँ आप विद्यमान नहीं थे, वहाँ का स्मरण ध्यान नहीं हो सकेगा । बचपन, युवा, वृद्धा अवस्था देह पर प्रकट हुई एवं अदृश्य हुई, किन्तु इस सब घटनाओं के प्रकाशक तुम साक्षी आत्मा न कहीं गए न आए । न प्रकट हुए न छिपे । आप नित्य साक्षी मौजूद ही रहे । दुःख, गरीबी, रोग, अवस्था परिस्थिति आती है एवं बदल जाती है । किन्तु जो इन समस्त द्वन्द्व को उदय-अस्त होते देखता है, वह नित्य साक्षी तुम स्वयं हो । इस प्रकार हमारे देखने की क्षमता समस्त परिवर्तनों में ज्यों की त्यों एकरस बनी ही रहती है । जैसे सूर्य का प्रकाश धर्म नित्य बना रहता है चाहे रात हो या दिन, वर्षा हो या सर्दी, आकाश निर्मल हो या बादलों से घिरा हो, सूर्य की स्थिति आकाश मण्डल में नित्य ही कहीं न कहीं अपनी महिमा, गरिमा युक्त बनी ही रहती है । तो हमारी दर्शन, प्रकाशन की क्षमता सता विद्यमान ही रहती है । यही साक्षी-स्वरूप है । हमारा अन्तःकरण रात गहरी निद्रा में बेहोश हो जाता है, तो भी

हमारे प्रकाश की सहायता पाकर जाग्रत में कहता है कि रात बहुत गहरी नींद में था । कुछ पता न चला, किन्तु बहुत आनन्दपूर्ण निद्रा आती रही । उस आनन्दपूर्ण स्थिति को एवं अज्ञान अवस्था को जिसने जाना, प्रकाशित किया वह साक्षी आत्मा है और वह तुम स्वयं हो ।

मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर परिवर्तनशील है, किन्तु इन समस्त परिवर्तनों का प्रकाशक, साक्षी सदा अपरिवर्तनशील है । इसलिए साक्षी आत्मा विकारी परिवर्तनशील मन का अंश नहीं है । आप मन की समस्त क्रिया, चिन्तन एवं अवस्थाओं को उसके पीछे से देखते, जानते रहते हैं । आप शान्त अवस्था में बैठे हुए अन्तःकरण के भीतर चलने वाले विचारों की भीड़ को अच्छी तरह उसी प्रकार चलते, सरकते, दौड़ते देख लेते हैं जैसे सड़क पर चलते हुए लोगों को, पर्दे पर चलते चित्रों को, आकाश में उड़ते पक्षी एवं हवाई जहाज को । आपको यह भी मालूम पड़ता है कि अब रास्ता जनशून्य हो गया, आकाश में कोई पक्षी या हवाई जहाज नहीं उ़ड़ रहा है । इसी प्रकार मन सुषुप्ति, ध्यान, समाधि अवस्था में संकल्प शून्य हो गया है, विचार शून्य हो गया है । जो मन की चंचलता एवं शांत अवस्था को जानता है, विचारों की भीड़ को चलते एवं विचार शून्य होने को जानता है वह उन सभी दृश्यों से भिन्न है ।

जब आपका शरीर एवं मन शान्त बैठे होते हैं तब आप श्वाँसों को उठते-बैठते देख सकते हैं एवं श्वाँस को देखते-देखते ही श्वाँस धीरे-धीरे शान्त होने लगेगा । एक समय ऐसा आएगा कि आप यह देखेंगे कि श्वाँस नहीं चल रही है । जब तक श्वाँस चलती रहेगी आप जानते रहेंगे एवं जब श्वाँस धीमे होते हुए कुछ समय रुक जावेगी तब भी आप जानते रहेंगे । लेकिन भीतर-बाहर आने-जानेवाली बदलने वाली अवस्था को देखने वाला कोई एक पीछे अवश्य अखण्ड ज्योति है । जो किसी परिस्थिति में आँख बन्द नहीं करता, वह साक्षी है और वही तुम हो - "**तत्त्वमसि**" ।

यह जो प्रत्येक क्रिया, अवस्था, परिस्थिति के पीछे विटनेस है, अनुभवों के अनुभव का केन्द्र बिन्दु है, बोध का बिन्दु है । यह साक्षी है । यह मन के बाहर है, मन की क्रियाओं का अंग नहीं है, क्योंकि जो जिसे जानता है वह उससे भिन्न ही होता है । जिसको भी आप जानते हैं उससे

आप सदैव पृथक् ही होते हैं । आप अलग हैं ही इसीलिए जान पाते हैं, देख पाते हैं । यदि आप जानने योग्य, देखने योग्य वस्तु से दूर न होते, भिन्न न होते तो कभी किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति का आपको बोध नहीं हो पाता । क्या अलंकारों को स्वर्ण सत्ता का कभी बोध हो सकेगा ? क्या मछलियों को जल का बोध हो सकेगा ? कभी नहीं । क्योंकि वे अलंकार स्वर्ण से एवं जल से मछलियाँ भिन्न वस्तु नहीं । एकबार जिसे हमने पहचान लिया है फिर हम उन्हें देख पहचान लेते हैं कि यह चेन, चूड़ी, अंगूठी है क्योंकि हम उस देखी गई, जानी गई वस्तु से अलग हैं । परन्तु हम अपने से दूर नहीं, पृथक नहीं, इसलिये हम–हमको, मैं–मैं को कभी नहीं देख सकेंगे । – "**विज्ञातारमरे केन विजानियात्**" ।

साक्षी को आप कभी नहीं देख सकेंगे । वह जो समस्त देह संघात् के पीछे प्रकाश रूप से विद्यमान् है, उस स्वयं साक्षी को स्वयं कभी नहीं देख सकेंगे । जैसे अग्नि का धर्म जलाना स्वयं को जलाने का कभी हेतु नहीं होता । सूर्य सबका प्रकाशक तो है परन्तु सूर्य अपने प्रकाश का प्रकाशक नहीं हो सकता । इसी प्रकार सबको जाननेवाला स्वयं को कैसे जानेगा ? असीम को जान लेना तो असीम को सीमित बना देने जैसा कार्य होगा । असीम अपने द्वारा न जाना जा सके, इसी में उसका गौरव है, महानता है । यदि वह स्वयं से स्वयं की सीमा परिधि जान लेता है, तब वह असीम नहीं ससीम ही हो सकेगा । जो सबको जाननेवाला है, उसको कौन जानेगा ? कोई नहीं । कैमरे द्वारा समस्त फोटो–पेपर में उठ जाते हैं, किन्तु स्वयं कैमरे का फोटे नहीं आ सकेगा । सबको देखने वाला साक्षी ही है ।

साक्षी आपका स्वरूप है । आप अपने को नहीं देख सकेंगे । जो दिखाई पड़ जाता है, दर्पणादि माध्यम से वह आप नहीं है वह तो दृश्य देह संघात् है । आप उसके साक्षी भिन्न हैं । आप जिसे देख लेंगे, दर्पणादि उपाधि द्वारा वह फिर साक्षी नहीं होगा । साक्षी तो वही होगा जो देख रहा है । जो दिखाई पड़ रहा है वह तो दृश्य, अनात्मा, जड़, स्थूल या सूक्ष्म वस्तु ही होगी । इस साक्षी भाव में मन–बुद्धि को स्थित कर देना ही साक्षी स्थिति को प्राप्त कर लेना कहा जाता है । "प्राप्तस्य प्राप्ति" कहा जाता है ।

साक्षी को पाना ''अप्राप्तस्य प्राप्ति'' जैसी दृश्य वस्तु नहीं है । देह संघात् के पीछे या भीतर एक ही रहस्यमय वस्तु है, जो साक्षी है । जिस मात्रा में आप में साक्षी का भाव गहरा होता चला जावेगा, आप मन के बाहर अपने को अनुभव करने लगेंगे । जिस क्षण देह, जाति, नाम की तरह संशय रहित साक्षी भाव प्रतिष्ठित हो जावेगा, उस क्षण मन अमन हो जावेगा, वहाँ मन नाम की कोई लहर भी प्रतीत नहीं होगी ।

याद रखें ! आपने भले बहुत धर्म संस्थानों को खोला हो, मन्दिर, धर्मशाला, अस्पताल, बनवाये हों, तालाब, कुवें खुदवायें हों, वृक्षारोपण किया हो, पाठ-पूजा करते हों, अन्न क्षेत्र द्वारा लाखों को मुफ्त भोजन एवं वस्त्रादि प्रदान करते हों, धर्म का प्रचार करते हों, ईश्वर सम्बन्धी चर्चा, कथा प्रवचन करते हो, किन्तु यह मत सोचना कि इन सब शुभ एवं लोक प्रशंसात्मक कार्यों का धर्म से थोड़ा भी सम्बन्ध है ।

धर्म का सम्बन्ध तो उस एक के होने से है, जिसने इन सब शुभाशुभ लोक प्रशंसात्मक अथवा लोक निन्दक कार्यों को होते देखा । जब तुम कुछ करते हो तो तुम्हारे भीतर कोई जानता है कि यह सब हो रहा है । वह जो सब क्रियाओं का साक्षी है, जो देह संघात् की समस्त क्रियाओं के भावाभाव का प्रकाशक है, वह जो सब के भीतर तिल में तेल, दूध में घृत, काष्ठ में अग्नि मेंहदी पत्र में लाली एवं पुष्पों में सुगन्ध व मधु (शहद) की तरह छुपा बैठा देख रहा है । अगर उसमें सोऽहम् धारणा कर लो, तो तुम परम धर्म, परमधाम को उपलब्ध हो गए । केवल मन्दिर बनवाने, पूजा करने, पाठ करने, कीर्तन करने में तुम धार्मिक नहीं होते हो । धर्म में तुम तब होते हो जो मन्दिर बनाने, पूजा करने को भी भीतर से देखता रहता है कि पूजा-पाठ एकाग्रता से हो रहा है या बेगारी समझ, नियम निभाने के लिए हो रहा है । उसी साक्षी को सोऽहम् रूप से जिस क्षण आप उपलब्ध होते हैं, तभी आप धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं । बाकी सब शुभ कार्य है लोक कल्याणार्थ, किन्तु निज कल्याणार्थ नहीं ।

वह जो भीतर से जान रहा है कि विचार चल रहे हैं, शरीर चला रहा है, श्वाँस चल रहा है, पाठ, पूजा चल रही है । वह जो जान रहा है वह साक्षी

है, और वही तुम हो । जिसे सबका बोध हो रहा है, जो सदा होश में है । जिसकी उपस्थिति में सब कार्य होते रहते हैं । वही साक्षी तुम्हारा स्वरूप है । जिसे तुम साधन पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते हो, स्वप्न दृश्यवत् निर्माण करते हो, चक्रों के दर्शन करते हो, जिसकी मूर्ति या चित्र मन्दिर या मस्जिद इमारत खड़ी कर लेते हो । वह न तो साक्षी है न साक्षी की विद्यमानता का अनुभव केन्द्र हो सकता है । साक्षी का केन्द्र तो समस्त दृश्य वर्ग के पीछे प्रकाशक रूप में तुम्हारे भीतर है । और वह तुम्हारे भीतर तुम स्वयं हो अन्य नहीं । आपकी सबसे गहरी स्थिति है, Inner most , जहाँ आप थे । जहाँ आपका होना है । जो आपका स्वरूप है । उसमें प्रतिष्ठित हो जाना ही धर्म है, बाकी सब कर्मों से आपके कल्याण का बाहरी सम्बन्ध है गहरा नहीं । चित्त की शुद्धि भी तभी होती है, जब कर्म निष्काम भाव द्वारा किए जावें । लेकिन चित्त शुद्धि मात्र मोक्ष का अपरोक्ष साधन नहीं है । मोक्ष का अपरोक्ष साधन तो साक्षी भाव का गुरु कृपा से जागरण हो जाना एवं कर्ता भाव का विसर्जित हो जाना है । महावाक्य जन्य सोऽहम् वृत्ति ही मोक्ष में अपरोक्ष साधन है । शेष यज्ञ, दान, तपादि तो बहिरंग साधन हैं । अतः मुमुक्षु को चाहिए कि

अंतरंग को धारण करे, तजे बहिरंगन को संग ।

अब मुमुक्षु के मन में यह प्रश्न हो जाता है कि जब मैं साक्षी नित्य मुक्तात्मा हूँ, तब मेरा चित्त अशान्त क्यों रहता है ? मैं तो बहुत ध्यान, पूजा, पाठ सत्कर्मों को नित्य करता रहता हूँ ? सद्गुरु के समीप यदि यह प्रश्न किया तो वह आपको अंतिम समाधान दे सकेगा । वह कहेगा कि अच्छा कल प्रातः स्नान करके मेरे पास अन्धेरे में मन को लेकर आ जाना मैं उसे तत्काल एक वाक्य द्वारा शान्त कर दूँगा । भला ऐसा कोई पूरा गुरु ही हिम्मत दिला सकता है कि तू चिन्ता न कर, यह मेरे चूटकी बजाते ही शान्त हो जावेगा । एक दिन के लिए नहीं सदा के लिए । लेकिन चित्त को तू साथ लेकर ही आना ।

मूर्ख साधक सोचेगा कि चित्त को साथ लेकर आने के लिए गुरुजी ने कहा तो क्या चित्त मेरे से कोई भिन्न वस्तु है ? मैं आऊँगा तो चित्त तो मेरे साथ ही होगा उसे लाना क्या ?

जिज्ञासु सद्गुरु के समीप जब पहुँचता है, तब उससे पूछा जाता है कि क्या तू अपने साथ चित्त को लेकर आया है, तू चित्त मेरे सामने खड़ा कर, मैं अभी उसे शान्त कर देता हूँ । आँख बन्द कर जिज्ञासु चित्त को खोजने लगा किन्तु उसे चित्त का दर्शन नहीं हुआ । थोड़ी देर बाद तुम्हें गुरुदेव से कहना ही होगा कि मैंने चित्त को बहुत खोजा किन्तु वह मिलता ही नहीं । जो मिलता ही नहीं, वह शान्त हो गया । तुम खोजने की चेष्टा करोगे तो वह कहीं मिलने वाला नहीं है । भीतर जब भी किसी को खोजने जावेंगे तो सबके पीछे सबके शेष में साक्षी को ही, स्वयं को ही पायेंगे । केवल खोजनेवाला, साक्षी ही रह जावेगा । फिर चित्त को नहीं पाया जायेगा । सोए हुए चेतनअंश का नाम ही चित्त है एवं जागे हुए चेतनका नाम साक्षी है । चित्त चेतन की ही एक मूर्च्छित अवस्था है, अन्य कुछ नहीं है । जब धीरे-धीरे साक्षी भाव में प्रतिष्ठित हो जावेंगे तो पायेंगे कि मन नाम की कोई वस्तु नहीं है । मात्र आत्मा ही भीतर है और वह तुम ही हो । यह साक्षी भाव मन की वृत्ति नहीं है, द्रष्टा, प्रमाता, ज्ञाता, ध्याता की तरह । साक्षी भाव के पूर्ण जागरण को सहज समाधि, मनोलय, मनोनाश, अमन आदि नामों से पहचाना जाता है । वही तू स्वयं है ।

साक्षी परमात्मा

हे आत्मन् ! परमात्मा को पाने से ज्यादा सरल अन्य कोई कार्य नहीं है । सरल इसलिए कहता हूँ कि जिसे पाना चाहते हैं वह पहले से ही हमें प्राप्त है, वह निरंतर ही हम सभी में सर्वदा विद्यमान् है । उसे किसी ने किसी भी क्रिया के द्वारा कभी खोया ही नहीं । वह हम सभी की प्रत्येक श्वाँस में, हमारे हृदय की धड़कन में है । इसलिए परमात्मा को पाना सरलतम है क्योंकि परमात्मा की तरफ से कोई भी शर्त नहीं है । वह चोर-साहुकार, अधर्मी-धर्मी, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, सबके लिए सूर्यवत् समान रूप से सबको धारण किए हुए है ।

परमात्मा सदा विद्यमान् है, वह कभी अभाव रूप नहीं होता । कठिन उन मन्द बुद्धिवाले अज्ञानी लोगों के लिए है, जो परमात्मा को अपने हृदय में साक्षी बनकर बैठा रहने पर भी उधर सदा पीठ कर बाहर खोज पुकार, प्रार्थना कर रहा है । परमात्मा के ज्ञान द्वार सदा खुले हुए हैं । हम उधर पीठ किए हुए हैं एवं उधर दौड़ रहे हैं जहाँ परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकते । अर्थात् जो चैतन्यता से रहित हैं, उन्हें प्राण प्रतिष्ठाकर, जगाने, चैतन्य करने में जीवन नष्ट कर रहे हैं । भाग, दौड़, चिल्ला, पुकार, उछल, कूद, रोना, पाना, गाना, बजाना कर रहे हैं । इतना करने पर भी अनन्त जन्मोंतक अज्ञानी मूढ़ बाहर दौड़ कर भी परमात्मा के मन्दिर तक नहीं पहुँच सकेंगे । जहाँ वह सब पहले से ही खड़े हैं । और जिस दिन भी वे जगत् के मन्दिरों से पीठकर देखेंगे तो पायेंगे कि परमात्मा वहीं है, जिस शरीर मन्दिर में जीव का निवास स्थान है ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

– ४/६ : श्वेताश्वतरोपनिषत्

एक वृक्ष पर दो पक्षी जो सदा साथ रहते हैं, उनमें एक केवल देखता है और दूसरा केवल उस वृक्ष के फलों को भोगता है । यही वे शरीर वृक्ष पर जीवात्मा एवं परमात्मा नाम के दो पक्षी है । जिसमें परमात्मा जो सबसे ऊपर की डाल पर बैठा,उसीके समीप बैठे जीवात्मा पक्षी को भोगते हुए देखता है, एवं जहाँ से, जीव ने परमात्मा के लिए या जगत् के लिए दौड़ना, खोजना शुरु किया था, परमात्मा तभी से उसके साथ ही है । जब साक्षात्कार होगा तो ज्ञात होगा कि परमात्मा वहीं था, जहाँ से हमने खोजना, दौड़ना शुरु किया था । जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी तभी से है जब से उसने उस कस्तूरी को पाने के लिए खोज एवं दौड़ प्रारम्भ की है ।

जो मनुष्य द्वारा निर्मित किया, रचा, बनाया या खड़ा किया जाता है, वह सब प्रकृति है, चाहे मन्दिर हो या मकान । जो निर्मित नहीं किया जाता वह परमात्मा है । जगत् माला में परमात्मा अप्रगट सूत्र है, जैसे देह पुष्प में पिरोया हुआ, छिपा हुआ परमात्मा अप्रकट धागा है। जो अप्रकट है, उसी पर प्रकट सम्हाला हुआ है ।

अप्रगट जड़ों पर ही सारा प्रकट वृक्ष खड़ा हुआ है । इसी प्रकार अप्रकट आत्मा पर ही सम्पूर्ण प्रकट जीवन वृक्ष खड़ा हुआ है । उसी से सबको जीवन, प्राण, ऊर्जा, प्रेरणा मिल रहा है ।

जिसने मणकों के भीतर धागे को खोजा है, शरीर के भीतर आत्मा को खोजा है, वही धर्म की यात्रा पर है । अदृश्य की खोज धर्म है, दृश्य में उलझना संसार ही है । जो गुरू शिष्य मूर्ति की उपासना में ही तृप्त है, शान्त है, वह परमात्मा की खोज में नहीं निकल पावेगा । हाँ अगर मन के भीतर धागे की, वृक्ष के नीचे छिपे जड़ों की, मूर्ति में अमूर्त की तरफ दृष्टि करा सके वही गुरू सच्चा गुरू है । अन्यथा मन में जो उलझा है वह मन पुष्प के भीतर छिपे आत्म धागे को नहीं जान सकेगा । जो साकार में उलझा हुआ है वह निराकार परमात्मा को नहीं जान सकेगा । – '**विमूढ़ा नानु पश्यन्ति ।**'

लेकिन ध्यान रखना हर मणके में धागा मौजूद है । मूर्त में अमूर्त मौजूद है, हर दृश्य में द्रष्टा मौजूद है । किन्तु उस न दिखाई पड़नेवाले को वही जान सकेगा जो दिखाई पड़नेवाले से थोड़ा भीतर प्रवेश कर सकेगा ।

दिखाई पड़ने का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा जो भी पकड़ा, जाना, देखा, सोचा, विचारा जा सकेगा वह सब प्रकृति है, परमात्मा नहीं । जो इन्द्रियों के पार रह जाता है, जो इन्द्रियों का प्रकाशक है, जो इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय अर्थात् नहीं जाना जा सकता है, वह परमात्मा है । और वह तुम स्वयं ही हो ।

ध्यान रहे, यह दृश्य-जड़, प्रकृति अपरा एवं द्रष्टा, चेतन, परा परमात्मा कोई दो चीजें नहीं है । किन्तु जिसे उस सत्य परमात्मा का नित्य स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता है, उससे कहना पड़ता है कि जो तुम्हें दिखाई दे रहा है, वह अपरा है, नाशवान् है । स्थूल इन्द्रिय जगत् है । जो दिखाई नहीं पड़ता है वह है परा । लेकिन जिस दिन दिखाई पड़ जावेगा, अनुभव रूप हो जावेगा । उस दिन अपरा एवं परा दोनों ब्रह्म और जगत् एक हो जाएंगे । फिर जो फर्क है वह ऐसा ही होगा जैसे वृक्ष के ऊपर होने का एवं जड़ों के नीचे होने का । फिर भी फर्क है वृक्ष काट दें तो नूतन अंकूर डाल पत्ते निकल आवेंगे किन्तु जड़ों को उखाड़ कर फेंक दें तो वृक्ष नहीं बच सकेगा । यहाँ निराकार परमात्मा से प्रकट साकार संसार है । परन्तु साकार संसार नहीं रहने पर भी साक्षी परमात्मा सुषुप्ति में है ।

यदि साधक को परमात्मा के बोध के पहले प्रकृति में ही परमात्मा है और परमात्मा में प्रकृति है, ऐसा ज्ञान दे दिया जावे तो शायद यह प्रकृति से ऊपर नजर उठाने को भी राजी न होगा । फिर वह स्त्री, पुरुष, बच्चों खाने पीने में, कपड़े, अलंकार, मकान में फंसा आलसी भोगी व्यक्ति परमात्मा को खोज नहीं करेगा । जब इस शरीर में ही परमात्मा है तो फिर शरीर ही परमात्मा हो जावेगा, विरोचन के निश्चय की तरह । अज्ञानी व्यक्ति बिना देर किए 'सब कुछ परमात्मा रूप है' इस बात को अपने मतलब की तरफ झुका पहले की अपेक्षा ज्यादा भोगी हो जावेगा ।

जिस दिन व्यक्ति परमात्मा के बड़े घेरे को जान लेगा उस दिन प्रकृति

को भी उसी में देख लेगा । एवं परमात्मा को भी प्रकृति में जान लेगा क्योंकि अद्वैत है । लेकिन भोगी व्यक्ति को यही कहा जावेगा कि प्रकृति मुझ में है लेकिन मैं प्रकृति में नहीं हूँ । ताकि वह प्रकृति से परे परमात्मा की खोज पर निकल सके । किन्तु अज्ञानी जो भोगों में ही फंसा है, उसे यह सत्य कहना खतरनाक है । क्योंकि जब उसे यह बात पक्की दिमाग में बैठ जावे कि जो हम कर रहे हैं, उसमें भी परमात्मा है तो फिर वह शायद परमात्मा की तरफ नजर उठाकर देखना भी नहीं चाहेगा ।

जब परमात्मा का साक्षात्कार होता है तो वह नहीं बचता जो खोजने चला था । वह मिट जाता है । केवल परमात्मा ही बचता है । जब भक्त भगवान् को जानता है तो भक्त नहीं रहता, भगवान ही हो जाता है ।

जानत तुमहि तुमहीं होई जाहीं ।
ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति ।

कोई दूरी, फासला, संधि नहीं बचती । फासला, दूरी है भी नहीं । हमने फासला दूरी बनाई है, इसलिए मालूम पड़ती है । वेद तो घोषणा करता है फासला नहीं ''तत्त्वमसि'' – वही तू है । जैसे पौधे व बगीचे में, वृक्ष और जंगल में, घर व ग्राम में, प्राण व पवन में, प्राणी व संसार में न भेद है और न दूरी है ।

जीवो ब्रह्मैव न परः

भगवान् को भी चलना हो तो हमारे पैरों के अतिरिक्त उसके पास अपने कोई पैर नहीं । किसी को भी कुछ देना हो तो हमारे हाथों के अतिरिक्त परमात्मा के पास अपने हाथ नहीं है । उसे किसी को देखना हो तो हमारी आँखों के अतिरिक्त उसके पास अपनी कोई आँख एवं सुनने को कान नहीं है ।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्य चक्षुः स श्रणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।

श्वेता. उप–३/२९

बिनु पद चलहि सुनहि बिनु काना, कर बिन कर्म करहि विधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी बिन वाणी वक्ता बड़ जोगी ।।

तन बिन परस नयन बिनु देखे ग्रहहि घ्राण बिन बास असेषा ।
एही सब भाति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाय नहीं वरणी ।।

बालकाण्ड. ११७/३०४

इसीलिए परमात्मा को अद्वैत कहा जाता है, एक बचेगा ऐसा नहीं कहता । क्योंकि एक होने से दूसरे की उपस्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी । मैं तभी कहा जाता है जब कोई सामने अन्य हो । जब अन्य नहीं तब मैं कैसे ? मैं के बिना जो बचता है उसे ही अनन्य-अद्वैत कहा जाता है । जहाँ द्वन्द्व नहीं, शुभ-अशुभ दोनों नहीं, वहाँ अद्वैत है ।

परमात्मा का मतलब है जो जन्म के पहले जो मेरे भीतर था और देह मृत्यु के बाद भी जो मेरे भीतर होगा, वही । जब मन, बुद्धि जागती है और जब मन, बुद्धि सो जाती है, तब भी जो मेरे भीतर मेरे साथ होता है, वह परमात्मा है । जब शरीर, बच्चा, जवान होकर बूढ़ा हो जाता है, तब भी जो नहीं बदलता मेरे भीतर- वही परमात्मा है । जो समस्त दोषों के बीच अचल है, उस एक की खोज ही धर्म है, वह परमात्मा की खोज है, वही सत्य की खोज है ।

जो व्यक्ति बाहरी नाम-रूप मणकों में अटक जाता है, वह अभी बचकाना है, प्रौढ़ उसी दिन होगा जब धागे को जानेगा । अनेक लोग जब मरने की स्थिति में पहुँच जाते हैं, किन्तु तब तक भी उनके बचपन से पकड़े खिलौने साथ रहते हैं । तब तक उनेक झुनझुने, चूसनी, निप्पल, गाड़ी, गुड़िया, साथ होते हैं, जिन चिजों से खेल रहे हैं । वे परमात्मा की ओर जाने की इच्छा रखनेवाले भक्त हैं, उनकी साधना भक्ति बच्चों के खिलौने झुनझुनों से ज्यादा कुछ नहीं है । बच्चों के खिलौने सुन्दर रंगीन ज्यादा होते हैं पर बूढ़ों के झूनझूने पुराने फीके पड़ जाते हैं । तब भी उन्हें छोड़ने को राजी नहीं होते हैं । बच्चों के खिलौने सुबह आते हैं, शाम तक टूट जाते हैं फिर नए के लिए आन्दोलन रोना, मांग शुरू कर देते हैं । किन्तु ये बुढ़े ऐसे समझदार बच्चे हैं कि अपने पुराने, माला, पूजा, मूर्ति, चित्र, ग्रन्थ रूप खिलौनों को ही आखरी दम तक सम्भाले रहते हैं । उसके बदलने छोड़ने की इच्छा नहीं करते हैं । बच्चों को तो दूसरा खिलौना दिखा तो उसी समय वह पहले वाला खिलौना

छोड़ देता है, उससे लिया जा सकता है । किन्तु इन बूढ़ों को सुन्दर, वेद, उपनिषद का ज्ञान रूप सत्य का खिलौना देने पर भी पुरानी मंत्र, माला, आरती, पूजा, मन्दिर, तीर्थाटन का अभ्यास छोड़ने को राजी नहीं होते हैं । यदि कोई छीनना चाहे, लेना चाहे तो दयावन्त ज्ञानदाता संत के साथ दुश्मनी कर लेते हैं । हत्या कर देते हैं । बदनाम कर नगर बाहर कर देते हैं ।

पंच महाभूत तथा मन, बुद्धि, अहंकार इन आठ तत्त्वों वाली 'अपरा' प्रकृति से जीव रूप 'परा' अर्थात् चेतन प्रकृति जाने कि जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। – ७/५ : गीता

अपरा का अर्थ है जड़, इस ओर से इस जगत् के, माया के, इस पार के, एवं परा का अर्थ है उस पार के, मायातीत, मायाधीश, चेतनके । इन सबसे दूर जो अपरा को धारण करनेवाली प्रकाशित करनेवाली जाननेवाली, परा सत्ता स्वयं प्रकाश है । वही धर्म है, जो सबको धारण, पोषण करनेवाला है । उसी की छाती पर, धुरी पर सब टिका है, ठहरा है । धार्मिक लोग उसे शेष नाग भी कहते हैं ।

उस पार का अर्थ कहीं अपने से भिन्न दूर न समझ लेना । चल के पास ही सदा अचल विद्यमान् है । अचल के बिना चलन सम्भव नहीं, धुरी से पहिए चल रहे हैं, एक्सिल से पहिए दूर नहीं होते । ट्रेन से पटरी (लाइन) दूर नहीं है । इलेक्ट्रिक मोटर से रोटर अलग नहीं होता । इसी प्रकार इस षड् विकारी जड़ अपरा प्रकृति वाले शरीर से परा चेतनअधिष्ठान आत्मा भिन्न नहीं है ।

अब इस शरीर, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण में उसे किस द्वार पर ढूँढें ? शरीर में नहीं, क्योंकि शरीर पदार्थ है पंचभौतिक है नाशवान् है । यह प्राण एवं इन्द्रियाँ भी मैं नहीं । मन, बुद्धि, अहंकार भी मैं नहीं । यह सब अपरा प्रकृति है ।

इन सबके साक्षीत्व में मैं अपने शरीर का साक्षी हो सकता हूँ, क्योंकि यह मेरा हाथ है, मैं इस हाथ को देख सकता हूँ । इसके होने न होने,

काम करने न करने की गवाह, मैं साक्षी दे सकता हूँ । हाथ कट जावेगा तो भी मैं देखूँगा, कि हाथ कटा मैं नहीं कटा है । मैं हाथ की पीड़ा को, रक्त बहने को हड्डी टूटने को देख सकता हूँ । इन सब विकारों परिवर्तनों के बाद भी मैं ज्यों का त्यों एकरस, सुरक्षित पूर्ण ही रहता हूँ । मेरे स्वरूप में, अस्तित्व में थोड़ा भी परिवर्तन न्यूनता नहीं आती । मेरे शरीर के अंग-अंग शत्रु द्वारा काट दिए जाने पर शरीर व इन्द्रियों में कमी पड़ती जावेगी, लेकिन मेरे अस्तित्व में कोई भेद, कमी नहीं पड़ेगी ।

ऐसा सोचिए कि आप रात में सो रहे हैं, नीद में आपकी आँख की ज्योति चली जावे, क्या आपको नींद में ही पता चल सकेगा कि कुछ भीतर कमी हो गई ? नहीं । लेकिन जब नींद खुलेगी, आँख के सम्मुख वाले व्यक्ति पदार्थ नहीं दिखाई पड़ेंगे, तब पता चलेगा कि बाहर से सम्बन्ध जोड़नेवाला एक झरोखा, द्वार टूट गया । इसी प्रकार कान इन्द्रिय के सुनने की शक्ति नष्ट हो जावे तो भीतर से कुछ कमी नहीं मालूम पड़ेगी । केवल बाह्य जगत् के साथ शब्द से सम्बन्ध जोड़ने वाला कान द्वार बन्द हो गया, इतना ही मालूम पड़ सकेगा । भीतर आपको कोई फर्क मालूम नहीं पड़ेगा । आप भीतर से पूरे जैसे इन्द्रियों के मध्य थे, इन्द्रियों के बिना भी आप वैसे ही हैं । केवल मन बाहर के विषयों से सम्बन्ध जोड़ उनका स्वाद, रस, सुख नहीं ले सकेगा । अब जो सुख होगा, वह 'प्योर' होगा, शुद्ध होगा, असली होगा, निरपेक्षिक आनन्द होगा जैसे सुषुप्ति की गहरी निद्रा में । इन्द्रियों के माध्यम से मिलनेवाला सेकेण्ड क्वालिटी वाला है, impure है । जैसे मृग, बकरी, गाय, जो खाद्य खाते हैं, वह फर्स्ट क्वालिटी है फिर मृग, बकरी को जो असुर खाते हैं, वह सेकेण्ड क्वालिटी है । इसी प्रकार मन को जो सुषुप्ति से सुख मिलता है वह फर्स्ट क्वालिटी का है, प्योर है, शुद्ध है । लेकिन जाग्रत में इन्द्रिय, विषय के माध्यम से जो सुखानुभूति होती है, वह सेकेण्ड क्वालिटी, घटिया है ।

सोचें ऐसा : आपको बेहोश कर आपकी केन्सर वाली टांग हाथ काट दी जावे एवं गहरे नशे में तब तक रखा जावे जब तक की आपके शरीर के अंग कटने का दर्द न मिट जावे । फिर कम्बल, चादर उस पर ढक दी जावे । आपको उस टांग, हाथ के कटने का किंचित् भी भीतर से पता नहीं

चलेगा, जब तक कि आप कम्बल हटाकर आँख से न देखें या करवट बदलने की चेष्टा न करे, उठ चलने लेने-देने की क्रिया न करेंगे, आपको भीतर से उसके कटने का वजन कम होने का कुछ पता नहीं चलेगा ।

अस्तु ! शरीर को हम देखते हैं, यह जन्म कर रहता है, बढ़ता है, इसमें बाल, युवा, वृद्धावस्था होती है एवं यह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है । फिर शकल, नाम, जाति, परिवार, भाषा, संस्कृति, भोजन, नगर, प्रान्त, देश, योनि बदलेंगे, हर जन्म में ''यह मैं हूँ'', ''यह मैं हूँ'' लेकिन भीतर जो 'परा' है, चैतन्य है, आत्मा है, निराकार है, वह एक अखण्ड शाश्वत है, और वह सब परिवर्तनों पर भी अपरिवर्तनशील, अपरिछिन्न तत्त्वों को जाननेवाला है, वह तुम स्वयं साक्षी हो । उस एक की खोज परमात्मा की खोज है और वह अपने आपकी खोज है । अपने आप की जिसे पहचान है वही व्यक्ति बुद्धिमान है, शेष सभी कलाओं, ज्ञान में निपुण व्यक्ति बुद्धिहीन, अल्पज्ञ ही हैं ।

अतः शरीर के हम साक्षी हो सकते हैं । विटनेस हो सकते हैं । जान सकते हैं कि यह मैं नहीं हूँ क्योंकि जिसको भी मैं देख पाता हूँ, वह मैं नहीं हो सकता हूँ । जो भी दृश्य बन गया वह मैं नहीं हो सकता । मैं आपको देख रहा हूँ । एक बात पक्की हो गई वह जो आप उधर बैठे हैं, वह मैं नहीं हूँ, मैं इधर हूँ अन्यथा में आपको बिना फासले के, बिना दूरी के नहीं देख पाता । देखने, जानने के लिए दूरी चाहिए । आपको देख पाता हूँ क्योंकि आप से दूर खड़ा हूँ, दूर बैठा हूँ, अलग हूँ । जिस प्रकार मैं अपने घर, परविार, बच्चे, पति, पत्नि, पिता-माता, नौकर, गाय, कुत्ता, मित्र को भी देख पाता हूँ । इसी प्रकार मैं अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार को एवं उनमें होने वाले समस्त परिवर्तनों को, विकारों को भी जानता देखता रहता हूँ । लेकिन आपने यह नहीं सोचा कि मैं नहीं बदला । आप वहीं के वहीं हैं, आपमें कुछ भी नहीं बदला । आप बचपन में जैसे थे, बूढ़े हो जावेंगे तब भी आप में कुछ नहीं बदलेगा । भीतर जो चेतना है वह ज्यों कि त्यों कुँवारी ही रहती है ।

आप जैसे शरीर के साक्षी है, इसी प्रकार प्राण की गति के, इन्द्रियों की मन्द, तीव्र पटुता एवं मन के चंचल शान्त, सुख-दुःख, मानापमान, सर्दी-गर्मी एवं विचारों के भी साक्षी हैं । आप भीतर देखते हैं कि मन के

अनुकूल कार्य वातावरण, सम्मान, भोग, पदार्थ, पद न मिलने से क्रोध के बादल उठे, बरसे एवं चले गए । आप भीतर से देखते रहते हैं कि मन में काम, लोभ उदय हुए ।

विचार को आप देख सकते हैं, वैसे ही अपने भीतर के पर्दे पर जहाँ मैं खड़ा होता है, अहंकार खड़ा होता है, उसके भी साक्षी हैं । आप उससे भी अलग हैं । आप देखें जब एकान्त सुनसान सड़क पर चल रहे हों कोई उस मार्ग से यातायात नहीं हो रहा है । आपके कपड़े, गन्दे, बाल बढ़े हो या किसी दूर देश में अकेले हों कोई भी पहचानने वाला न हो तो फिर आप वहाँ इतनी सहज निरहंकारावस्था में होते हैं । फिर जब कोई दूसरा व्यक्ति सामने आ जावे तब फिर भीतर कुछ अहंकार फन फैलाये खड़ा हो जाता है कि मैं कुछ हूँ । दूसरे के कारण इधर कुछ खड़ा हो जाता है, तब आप अपने कपड़े, बाल, अलंकार, चेहरे को संभालने लगते हैं । उस मैं को भी आप जानते हैं । और जिस दिन आप अहंकार को देख पायेंगे, इस नकली मैं को पहचान लेंगे, इस बारम्बार प्रातः से स्वप्न समाप्ति तक एवं बचपन से मृत्यु तक बदलने वाले मैं को पहचान लेंगे । उसी दिन आप उस 'नकली मैं' से छलांग लगा 'असली साक्षी मैं' में स्थित हो जावेंगे । प्रतिबिम्ब से छलांग लगा बिम्ब में स्थित हो जावेंगे । अपरा प्रकृति से छलांग लगा उसके भीतर की परा प्रकृति में पहुँच जावेंगे । वही आपका, परमात्मा का असली स्वरूप, परमधाम है । थोड़ा होश के प्रयोग करेंगे तो आप व अहंकार के बीच फासला स्पष्ट होने लगेगा एवं जिस-जिस के बीच आप से फासला स्पष्ट होने लगेगा आप उससे अपने को अलग साक्षी जान लेंगे ।

ज्ञानी, अज्ञानी के देह, क्रिया, भोग, बीमारी, सुख-दुःख तो समान ही प्रतीत होते हैं । किन्तु जब अज्ञानी को भूख लगती है, तो वह अपने को ही भूखा मानता है । किन्तु ज्ञानी को भूख लगती है, प्यास लगती है, पीड़ा होती है, तब वह ऐसा नहीं मानता कि मुझे भूख, पीड़ा, प्यास है, बल्कि वह जानता है कि प्रकृति को ही यह सब द्वन्द्व है, मैं तो इन सब द्वन्द्वों से परे हूँ । देह ही मरता है प्रकृति ही छूट रही है, मैं असंग साक्षी ही हूँ ।

साक्षी को कैसे जानें ?

जो सबके अन्दर है, और सबको देखने वाला है, उसे दृश्य की तरह कभी नहीं देखा जा सकेगा । जिन आँखों से दृश्य जगत् दिखाई पड़ता है, उसी तरह आँखों को नहीं देखा जा सकेगा । जिस कैमरे से फोटो खींचा जाता है, उसी कैमरे का फोटो, उसी कैमरे से नहीं खींचा जा सकेगा । इसी प्रकार जो साक्षी आत्मा सबको जानने वाला है, वह किसी के द्वारा जानने में नहीं आता है । तुम्हारे भीतर जो जानने वाला तत्त्व है, वह तुम ही हो । वही वह परमात्मा है जिसको तुम जानना चाहते हो । उसे तुम अन्य की तरह कैसे जानोगे, जो तुम स्वयं ही हो ? जिसको भी तुम जानोगे वह तुम नहीं हो सकोगे । जो भी तुम देख लेते हो, जान लेते हो, तो उसके सम्बन्ध में यह निश्चय कर लेना कि यह मैं नहीं हूँ । मैं तो इसका जानने वाला हूँ, मैं जानने में आने वाला अनात्म जड़ तत्त्व नहीं हूँ । मैं किसी इन्द्रिय का ग्राह्य विषय नहीं हो सकता । मैं अप्रमेय हूँ । जगत् के पदार्थ प्रमेय होने से ज्ञानेंद्रिय प्रमाणों से जाने जाते हैं । किन्तु मैं किसी भी अंतर-बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य नहीं हूँ । मैं ज्ञेय नहीं हूँ, बल्कि ज्ञाता हूँ । मैं ध्येय नहीं बल्कि ध्याता हूँ । मैं प्रमेय नहीं बल्कि प्रमाता हूँ । मैं दृश्य नहीं बल्कि द्रष्टा हूँ । मैं साक्ष्य नहीं बल्कि साक्षी हूँ ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्वभारत ।। २/१ : गीता

हे आत्मन् ! द्रष्टा को कैसे दृश्य करोगे ? और द्रष्टा को यदि दृश्य की तरह खड़ा कर दिया तो फिर वह किसका दृश्य बन सकेगा, अन्य द्रष्टा के अभाव में ? क्योंकि द्रष्टा साक्षी आत्मा तो अद्वितीय है । क्या चिमटा स्वयं

को पकड़ सकता है ? क्या दूसरे को पकड़ने वाला हाथ उसी हाथ को भी पकड़ सकेगा ? सबको तो आँख देख लेती है, किन्तु अपने को कैसे देख सकेगी ? दर्पण में जो आप अपने शरीर के आँख के प्रतिबिंब को देख लेते हो, वह आँख द्वारा उसी आँख को नहीं देखा, बल्कि उसकी छाया को ही देखा ।

आत्म ज्ञान का मतलब रसगुल्ला, बर्फी, पकोड़ी, रोटी का ज्ञान नहीं । आत्म ज्ञान का मतलब जहाँ अब जानने के लिए कुछ बाकी नहीं रहा । जहाँ सब विषय वस्तु खो गई, कुछ दृश्य नहीं रहा । जहाँ सिर्फ देखने वाला ही बचा । विषयों की तरह उसकी अनुभूति होगी ऐसा भी नहीं कि मैं स्वाद लूँगा बल्कि मैं ही अब अकेला हूँ । हाँ, ना, कहने को अन्य पदार्थ नहीं रहा । जैसे स्वप्न समाप्त हो जाने पर स्वप्न नगर की घटना के लिए हाँ, ना कहने को कुछ शेष नहीं रहता साक्षी के अलावा, अब बस मैं ही हूँ । अब कुछ दिखाई नहीं पड़ता । आत्म ज्ञान का ऐसा मतलब नहीं समझना कि हमें किसी और को जानना है । जैसे हम गाय, घोड़े, मनुष्य, चाँद, सूर्य को जानते हैं इसी प्रकार हम आत्मा को भी जानेंगे कि यह ही वह आत्मा है जिसे हम खोज रहे थे । तो तुम गलती में हो । आत्मा को तुम कभी भी इस प्रकार इदम् रूप से नहीं देख सकोगे । आत्मज्ञान का मतलब अन्य का ज्ञान नहीं, बल्कि अपने होने का ऐहसास कि 'मैं हूँ'। यहाँ दो नहीं है कि एक जाने एवं दूसरा जान लिया जावे । कौन जानेगा आत्मा को ? फिर किसके द्वारा जानेगा ? यहाँ एक ही चैतन्य है, वह चैतन्य जो सबको जानता है । उसकी तो सिर्फ हल्की-हल्की सी प्रतीति होगी । जैसे मृत शैया पर पड़ा व्यक्ति अंतिम श्वाँस ले रहा है, कुछ बाहर का होश नहीं, बस हो रहा है, धीमे-धीमे श्वाँस खिंच रहा है । लेकिन आभास होगा, ऐहसास होगा किन्तु तुम उसे देख नहीं सकोगे । बस एक ही तरीका है पिक्चर को समाप्त हो जाने दो । दृश्य को विदा करो । फिर वही एक रह जावेगा शून्य का प्रकाशक । समाधि का भी यही अर्थ है कि जहाँ दृश्य समाप्त हो गये, केवल द्रष्टा ही रह गया । सबको देखने की चिंता में स्वयं चिंतनीय, मननीय, जानने योग्य, देखने योग्य छूट ही गया था । और ध्यान समाधि में फिल्म टूट जाती है, वृत्तियाँ छूट जाती हैं, फिर वह खाली पर्दा रह

जाता है । जिस पर समस्त आकृतियाँ प्रतिबिम्बित हो रही थी । साक्षी ही अकेला बचा रहता है । यह मैं साक्षी हूँ, शब्दों में शेष नहीं रहेगा । यह तो मैं उस निःशब्द को, अशब्द को समझाने के लिए बोल बता रहा हूँ कि मैं साक्षी हूँ । किन्तु उस दशा में यह शब्द, वहाँ नहीं पाओगे । बस ऐसा बोध, चेतना रह जावेगी जिसे वाणी द्वारा कहा भी नहीं जा सकता है । जैसे कोई खाली घर में दीपक का प्रकाश फैला हो और वह यह जानता रहे कि मात्र मैं ही इस अभाव शून्य का प्रकाशक हूँ । बस उसी क्षण घटना घट जावेगी, तुम दृश्य से द्रष्टा, साक्षी पर छलांग लगा गये । वही निर्वाण या परमानंद है ।

हे आत्मन् ! क्रियाकांड, तीर्थ यात्रा उपवास, पूजा-पाठ, मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा धर्म नहीं है । न गीता, रामायण, वेद, पुराण, कुरान धर्म है । धर्म वह है जो सबका धारक, प्रकाशक, अधिष्ठान साक्षी आत्मा है । न देह धर्म है, न प्राण धर्म है, न इन्द्रियाँ धर्म है, न मन, बुद्धि धर्म है । सिर्फ इन सबका जो साक्षी है, वही धर्म है । साक्षी का निषेध नहीं हो सकेगा । वही एक मात्र तत्त्व है जो नित्य है । यह एकमात्र असंदिग्ध तत्त्व है । 'मैं हूँ या नहीं'' ऐसा कोई नहीं कहता है । और है या नहीं यह कहने में देखने में, जानने में, पूछने में, विचारने में, समय लगेगा । किन्तु मैं हूँ या नहीं इसके लिए पूछने की जरूरत नहीं होगी । क्योंकि समस्त भाव-अभाव का जिस एक से प्रकाश हो रहा है, उस एक को कैसे इंकार किया जा सकेगा ? घर पर रात कोई दरवाजे पर दस्तक दे, पीटे एवं आपके नाम को लेकर पूछे कि लक्ष्मीकांत हैं ? और आप ही भीतर से कहें मैं घर में नहीं हूँ । तो इसकी यह घोषणा ही यह सिद्ध कर रही है कि वह है । यदि कोई उसकी पत्नी का नाम लेकर पूछे तो वह व्यक्ति यह कह सकता है कि भाई ! मुझे पता नहीं वह कहाँ गई है । हाँ वह यह कह सकता है कि मेरी पत्नी मनोरमा अभी घर में नहीं है, बच्चे से पूछ कर बताता हूँ कि वह कहाँ गई है एवं कब आवेगी । इस कथन में तो व्यावहारिक सच्चाई है । किन्तु मैं घर में नहीं हूँ, ऐसा कहना कोई अर्थ नहीं रखता । यह कथन तो आपके होने का प्रमाण हो जाता है ।

ऐसे ही तुम सबका निषेध कर सकते हो, सिर्फ इस भीतर छिपे साक्षी का इंकार नहीं कर सकते हो । वही साक्षी तुम्हारा स्वभाव है । वही साक्षी

तुम्हारी सहजता है । तुम जो करोगे, पकड़ोगे, छोड़ोगे, जानोगे, देखोगे, वह तुम नहीं हो । तुम तो सब कृत्यों को देखने, जानने वाले साक्षी आत्मा हो । जो सिर्फ देखता है ।

दर्पण में जो दृश्य प्रतिफलित होता है, वह दर्पण नहीं है, दर्पण तो दृश्यों का प्रतिफलित करने की ही क्षमता रखता है, कुछ होने बनने की नहीं । सब रूप दर्पण में उभरे या प्रतिबिम्बित होंगे, किन्तु तुम कोई रूप, पदार्थ नहीं हो । तुम इसी प्रकार उस दर्पण तुल्य शून्य भाव हो, जिसके सामने सब दृश्य आते हैं और जाते हैं । तुम वह हो, जो सृष्टि सृजन, सृष्टि स्थिति तथा सृष्टि प्रलय को भी देखता है । जो सदा सबको देखता है, इसे साक्षी कहते हैं, इसी का दूसरा नाम परमात्मा है । **प्रज्ञानं ब्रह्म** । जिस दिन अपने भीतर अपने साक्षी स्वरूप को जान लोगे उस दिन सभी के भीतर छिपे साक्षी को पहचान लोगे । क्योंकि हर शरीर में कर्ता-भोक्ता तो अलग-अलग है किन्तु साक्षी सब में एक है । दृश्य अनेक हैं, द्रष्टा एक है । इन्द्रिय विषय अनेक है, किन्तु ज्ञान एक है ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंच यत्प्रकाशते ।
तत्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ।। कैवल्य. उप. १७

जब जीव इस बात को जानता है कि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा ध्यान, समाधि, मुर्छा अवस्था में जो मायिक प्रपंच दिखाई देता है उसका जो साक्षी है, वह ब्रह्म मैं हूँ । ऐसा जानने वाले सब बन्धनों से छूट जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्मद्वयमस्म्यहम् ।। १९ कैवल्य उप.

यह सारा व्यक्त, अव्यक्त, दृश्य-अदृश्य जगत् प्रपंच, मुझसे ही स्वप्न सृष्टि की तरह उत्पन्न हुआ है, मुझ में ही स्वप्न नगर एवं स्वप्न जीवों की तरह सब प्रतिष्ठित है और मुझ में ही स्वप्न भंग की तरह प्रलय काल में लय को प्राप्त हो जाता है । अतः मैं ही एक मात्र अद्वय ब्रह्म सत्य हूँ, शेष सभी रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प की तरह अध्यस्त मात्र कल्पित है ।

साक्षात्कार कैसे करें ?

"मैं साक्षात्कार नहीं कर रहा हूँ" यह विचार ही बाधक है, वास्तव में तुम केवल आत्मा ही हो । यदि यह अनुभूति हो जावे कि सर्वत्र केवल एक मात्र आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं । तब कौन साक्षात्कार के लिए सम्मुख उपस्थिति हो सकेगा ? तब किसका भय ? किसकी इच्छा होगी ? व्यक्ति अनात्मा के धर्मों को अपने धर्म मान दुःख उठाता है । अतः किसी ज्ञानी सद्गुरु की शरण में आत्मा को जानकर "मैं आत्मा साक्षात् हूँ" इसी भाव में रहो । जो गुरु या साधक नाना देवी, देवता, इष्ट आकार की पूजा, ध्यान करते हैं, उन्होंने आत्म साक्षात्कार नहीं किया है । वे तुम्हें भी साक्षात् आत्मा का अनुभव नहीं होने देंगे ।

क्या तुम आत्मा नहीं हो ? आश्चर्यों का आश्चर्य जो शरीर में विद्यमान आत्मा निराकार है, उसे अस्वीकार करते हैं और जो नाम, रूप, आकार नहीं है, उसे सहर्ष संशय रहित स्वीकार कर लेते हैं ।

आत्म साक्षात्कार का तात्पर्य है, आत्म भाव की उपलब्धि । आत्मा के भान का ही दूसरा नाम मोक्ष है । जैसे अग्नि के भान का ही दूसरा नाम उष्णता है ।

नित्य सिद्ध आत्मा की सिद्धि के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नहीं । अनुभूति वहाँ पहले से है, केवल भ्रान्ति को मिटाना है कि मुझे आत्म दर्शन नहीं हुए ।

आत्मा से स्पष्ट अधिक क्या हो सकता है ? प्रत्येक व्यक्ति को हर क्षण में 'मैं' की चेतना के रूप में, अस्तित्व के रूप में इस आत्मा का ही अनुभव हो रहा है । आत्मा के अस्तित्व बिना किसी को कोई संकल्प स्फुरण भी नहीं हो सकता । **अतः अपने को आत्मा जानें इससे भिन्न कोई साधन न करें । यह निश्चय ही पर्याप्त एवं पूर्ण है साक्षात्कार के लिए ।**

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो क्षण भर भी आत्मा की अनुभूति से वंचित् रहता है । क्योंकि कोई भी यह स्वीकार नहीं करता कि मैं नहीं हूँ ।

आत्मभाव से रहने के समान सरल कुछ भी नहीं । इसके लिए किसी प्रयास की जरूरत नहीं है । आत्मा से, मनुष्य की तो बात ही क्या कोई जीव, प्राणी, पशु, पक्षी, पापी, हत्यारा भी कभी पृथक् नहीं है, तब पाने हेतु प्रयास कैसा ? पास जाने का मार्ग कैसा ? क्या कोई आत्मा से दूर खड़ा हो सकता है ? केवल भ्रांत धारणा, विपरीत भावना को त्यागो । और अपनी नित्य, स्वाभाविक, सहजावस्था में रहो ।

तुम्हारा अस्तित्व सदा है । अस्तित्व ही आत्मा है । बाइबिल के EXODUS Chap.3 में लिखा है – I AM THAT I AM – ' मैं हूँ वही मैं हूँ' । इसी बातको उपनिषद् में 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', I AM – मैं हूँ, से अधिक प्रत्यक्ष अन्य नाम नहीं है । परब्रह्म जो है वह आत्मा है । ''अयमात्मा ब्रह्म' । आत्मा का ज्ञान परमात्मा का ज्ञान है । वास्तव में आत्मा के अलावा कोई अन्य ईश्वर नहीं है ।

ज्ञानी की दृष्टि में एक आत्मा के अलावा कुछ नहीं है । फिर जगत् एवं शरीर, स्वर्ग–नरक, पुण्य–पाप, सुख–दुःख कहाँ ? द्वैत मानना ही जन्म–मरण के भय को उत्पन्न करता है ।

दृष्टि ज्ञानमयी हो जाने के पश्चात् एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखने को नहीं बचता –

''**दृष्टिज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत्**''

वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव वाला कोई अन्य नहीं बल्कि यह अवस्था सबकी है । यह अवस्था सहज तथा नित्य है । **किसी नूतन**

वस्तु को प्राप्त करने जैसा यहाँ कुछ नहीं है । बस केवल देह भाव का त्याग करना है एवं यह भ्रान्ति से मुक्त होना है कि मुझे आत्मा साक्षात्कार करना है ।

अज्ञानी भक्त, साधक, आत्मा को एक नवीन वस्तु के रूप में देखने की आकांक्षा करते हैं । किन्तु यह नित्य है एवं सदैव एक रस वहीं रहती है, जहाँ एवं जब से इसे प्राप्त करने का संकल्प उठ रहा है । अज्ञानी आत्मा को ज्योति देदीप्यमान्, प्रकाश, नांद, कुंडलनी जाग्रति, षड् चक्र, चतुर्भुज मुरली, धनुष्यादि आकार विशेष में देखना चाहते हैं । यह ऐसा कैसे हो सकता है ? आत्मा जो तुम स्वयं हो, न वह प्रकाश है, सूर्य की तरह न अंधकार है अमावास्या रात्रि की तरह (न तेजो न तमः) वह केवल जो है, वह सबका अनुभवों का भी अनुभोक्ता, साक्षी, प्रकाशक है, उसकी परिभाषा नहीं हो सकती । 'नेति-नेति' सर्वोत्तम परिभाषा है तो बस इतना ही कि ''मैं हूँ वही मैं हूँ'' ''I AM THAT I AM'' यह अपना आत्म स्वरूप, अज्ञान एवं ज्ञान से भिन्न वृत्तियों का प्रकाशक ज्ञान मात्र है ।

तुम वही आत्मा हो, अपने आप में रहने के लिए कहीं दौड़ने, कुछ करने की जरूरत नहीं है । क्योंकि तुम सदैव एक मात्र वही हो । क्या कोई किसी क्षण आत्मा न होकर (चैतन्य न होकर) रह सकता है ? क्या आत्मा दो है जो एक दूसरे को देखेगी, जानेगी, प्राप्त करेगी ? आत्मा अद्वितीय है और वह तुम ही हो । साधन से प्राप्त नूतन वस्तु पुनः एक दिन समय पाकर नष्ट हो जाती है । केवल मैं देह हूँ इस भाव से आत्मा को मुक्त करना है । आत्मा को (मैं को) अनात्मा देह से मिलाना कि मैं जन्म-मृत्यु रूप शरीर हूँ, बस यही अज्ञान एवं बंधन का मूल कारण है ।

आश्चर्य है ! लोग सरल स्पष्ट जो स्वयं है, इस सत्य को नहीं जान पाते हैं । जो सत्य उनके दैनिक जीवन का, प्रति क्षण का है । जिसके बिना कोई संकल्प भी नहीं उठ सकता, जो नित्य सिद्ध है । वह आत्मा जीव स्वयं ही है । क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो चेतन शून्य है ? जो अपने आप से, आत्मा से, मैं हूँ अनुभव से अनभिज्ञ है ? इस नित्य प्राप्त स्वरूप की चर्चा अज्ञानी सुनना भी पसंद नहीं करेंगे । बल्कि अज्ञानी कल्पित, स्वर्ग-नर्क,

बैकुंठ, पुनर्जन्म, भूत, भविष्य के सम्बन्ध में, सिद्धियों के सम्बन्ध में जानने, पाने के लिए उत्सुक रहते हैं ।

इसीलिए ज्ञानी संत इन देहाभिमानियों को, तत्काल सीधा तुम आत्मा हो, तुम ब्रह्म हो, तुम साक्षी हो, इस सत्य, नित्य, स्वरूप की चर्चा नहीं सुनाते हैं । उन्हें प्रथम घुमा फिरा कर इधर-उधर भटकाकर, थकाकर, साधन कराकर आत्मा भाव में वापस लाकर बैठाते हैं । जैसे शराबी घर द्वार पर खड़ा किसी से घर पहुँचने का मार्ग पूछता है, तो फिर उसे कोई समझदार थोड़ा इधर-उधर घुमाकर उसी घर में प्रवेश करा देता है ।

साक्षात्कार अर्थात् आत्मा पहले से ही है । साक्षात्कार जैसा कोई कार्य नहीं है । क्या कोई अपने स्वयं के होने को, स्वयं के अस्तित्व को इन्कार कर सकता है ? ऐसा कोई व्यक्ति है, जो कह सके कि मैं नहीं हूँ । साक्षात् करने की इच्छा का अर्थ होगा कि दो आत्माएँ । एक वह जो साक्षात्कार करने के लिए इच्छुक है, एक वह जो उसके साक्षात्कार के लिए सम्मुख उपस्थित हो जावे । जो पहले से नहीं उसी का साक्षात् किया जाता है । तथा जो पहले से नहीं है एवं साधन द्वारा कालांतर में प्राप्त होगा, वह वस्तु नाशवान् ही होती है ।

इससे बढ़कर और कोई मूर्खता नहीं कि स्वयं सत्य आत्मा होते हुए भी हम सत्यात्मा को प्राप्त करने हेतु पागलों की तरह इधर-उधर भटक रहे हैं । हम सोचते हैं कि हमारा सत्यात्मा कहीं छिपा पड़ा है । किसी ने उसे ढक रखा है, और हमें प्राप्त करने के लिए पहले कठिन साधन कर देह, प्राण, इन्द्रिय व मनादि के धर्मों को नष्ट करना होगा । कठिन यात्रा कर वहाँ पहुँचना होगा । यह सब भूल धारणा हास्यप्रद है । याद रखो ! जब तुम्हें यह भान होगा कि जिस आत्मा को मैं पाना चाहता था वह आत्मा मुझे सदा से प्राप्त ही थी । तब तुम्हें अपने ध्यान, पूजा, पाठ, कीर्तन, माला, तप, तीर्थाटन आदि अज्ञानता पूर्वक किए कर्मों पर हँसी आवेगी और पश्चाताप भी होगा कि हाय ! मैंने कितना समय व शक्ति नष्ट की उसे पाने हेतु, जो मैं सदा से स्वयं और सर्वरूप हूँ ।

तुम सदैव से आत्मा ही हो । चाहे आप अभी, व्यवहार में, ध्यान, समाधि में, गहन निद्रा व स्वप्न में हों । साक्षात्कार के पहले ही, तुम आत्मा ही थे एवं वर्तमान में भी हो । किन्तु तुमने अपने को यह हूँ, वह हूँ, ऐसा नहीं, वैसा बनूँगा आदि अहंकारी जीव माना तो तुम जीव हो गये । मन, बुद्धि आभास के धर्मों को अपना माना तो तुम मन, बुद्धि बन गये । तुमने अपने को इन्द्रिय, प्राण एवं देह के धर्मों को अपना धर्म, कर्म माना तो तुम वही हो गये । तुम्हारी मान्यता ही में तुम्हारा होना है । जैसी मति तैसी गति । आत्मा सबके बिना हो सकती है किन्तु आत्मा के बिना देह, प्राण, इन्द्रिय, अंतःकरण अहंकार जीव कोई भी नहीं हो सकते ।

''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' – गीता १८/६६

साक्षात्कार के प्रयास के लिए केवल अहंकार का ही नाश करना है । अज्ञानता से इस देह, प्राण, इन्द्रिय, मनादि धर्मों को मैं रूप कहा जाता है । परंतु इन सब में से आत्मा के, मैं के वास्तविक रूप को पहचाना है, उसी का नाम आत्म साक्षात्कार है । वही जीव धन्य हुआ है, उसी के सब साधन सार्थक बने हैं । **तुम साक्षात् आत्मा होते हुए भी कि ''मैंने साक्षात्कार नहीं किया है'', यह भूल धारणा ही आत्म साक्षात्कार में बाधक है ।** वास्तव में साक्षात् आत्मा पहले से ही है । तब स्वयं साक्षात् का, साक्षात्कार इस होश के सिवा कुछ अधिक नहीं करना है । अन्यथा साक्षात् नवीन होगा । फिर जो पहले नहीं था जो बाद में होगा, जिसका जन्म है उसका अंत भी है, मिलन है, उसका वियोग भी निश्चित है । यदि साक्षात्कार नित्य नहीं है, तो फिर यह नूतन प्राप्त होने वाला साक्षात्कार प्राप्त करने योग्य भी नहीं है । क्योंकि वह कालांतर में पुनः नष्ट हो जावेगा । इसलिए जिसकी हम खोज करते फिर रहे हैं, 'मृग कस्तूरी वत्' वह कोई नूतन अप्राप्त वस्तु नहीं है । वह पहले से ही हम हैं ।

पाया कहे सो बावरा, खोया कहे वह क्रूर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ।।

स्वयं को देहजान आत्मा से पृथक् मानना अपने आप में आत्म हत्या सदृश्य जघन्य महा अक्ष्यम्य पाप है । अपने आप में धृष्टता है । धूर्तता पूर्ण छल है ।

मैं क्या दो हैं ? तुम्हें अपने अस्तित्व का भान कैसे है ? क्या तुम अपने आपको इन नेत्रों से देखते हो ? क्या तुम अपने होने का निर्णय पड़ोसी से पूछकर जानते, बताते हो ? क्या मैं अपने होने का निर्णय घर में प्रकाश कर या दर्पण में देख कर करता हूँ ? हमारा दृष्टिकोण विषय जगत् को प्राप्त करने के कारण बहिर्मुख हो गया है । इसी कारण हम आत्मा को भी दृश्य पदार्थ की तरह बाहर खोजने की भ्रान्ति में पड़ गये हैं । जिस प्रकार कुआँ खोदने से या सरोवर के पत्ते हटाने से जल प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनात्म देहाध्यास, पंचकोष, तीन अवस्था को विचार द्वारा हटाने से आत्मा की अनुभूति हो जाती है ।

साक्षात्कार कोई नवीन प्राप्त वस्तु नहीं है, वह है ही । केवल इतना ही आवश्यक है कि मैंने साक्षात्कार नहीं किया है इस भ्रान्ति रूप कलंक के संकल्प से मुक्ति पा लेना है ।

निश्चय ही तुम आत्मा हो । तुम शुद्ध ज्ञान स्वरूप हो । संसारी जीविकोपार्जन के कार्य, गृहस्थ धर्म, इन्द्रिय, विषय तुम आत्मा पर प्रतीत होने वाले दृश्य मात्र हैं । निर्मल, स्फटिक मणि में भासित होने वाले मिथ्या रंगो की तरह । तुम चैतन्य, असंगात्मा सदा दृश्य धर्मों से अप्रभावित ही रहते हो । तुम सदा आत्मा हो । तुमसे पृथक् कुछ नहीं है । इसलिए अनुकूल प्रतिकूल, ग्रहण-त्याग, शुद्ध-अशुद्ध, पुण्य-पाप, बंध-मोक्षादि परधर्मों का तुम में प्रश्न ही नहीं उठता । तुम सब धर्मों से असंग हो । पर धर्म को भूल से जो अपना धर्म माना है, उस मिथ्या अहंकार का त्याग ही कर्तव्य है ।

आत्मा तक पहुँचना नहीं होता । आत्मा तक पहुँचने का कोई मार्ग नहीं है क्योंकि वह तुम्हारा स्वरूप है । तुमसे भिन्न दूर नहीं है । यदि आत्मा तक जाना होता तो इसका अर्थ होगा कि आत्मा अभी और यहाँ नहीं है, बल्कि इसकी नवीन प्राप्ति होगी । तो फिर जिसकी नवीन प्राप्ति होती है, उस वस्तु, अवस्था का नाश भी अवश्य होगा । इस प्रकार वह अस्थायी, अनित्य

वस्तु कभी आत्मा नहीं हो सकती । जो स्थायी नहीं, नित्य नहीं, वह फिर प्राप्त करने योग्य भी नहीं है । इसीलिये मैं कहता हूँ, कि आत्मा तक पहुँचना नहीं है, या आत्म साक्षात्कार करना नहीं है । वह तुम स्वयं हो, तुम आत्मा हो, ''तत्त्वमसि'' तुम वही हो । सत्य बात तो यह है कि तुम अपने आत्म स्वरूप से अनभिज्ञ हो, सद्‌गुरु की प्राप्ति के अभाव से । सद्‌गुरु मिलने पर तुम आत्मा हो जाओगे या आत्म साक्षात्कार हो जावेगा ऐसा भी नहीं । तुम सद्‌गुरु मिलने के पूर्व भी आत्मा साक्षात् हो । किन्तु इस बात का पता तुम्हें नहीं है इसीलिये किसी बताने वाले की जरूरत है जो यह निश्चय करा सके कि तुम ही साक्षात् आत्मा हो ।

तुम साक्षात्कार की इच्छा क्यों करते हो ? क्या ऐसा कोई एक भी क्षण है, जब स्वयं आत्मा का मैं रूप में साक्षात् नहीं होता ? ऐसा कोई क्षण नहीं जब आत्मा न हो, मैं का होश न हो, अथवा आत्मा की चैतन्यता का साक्षात्कार न हो । तुम आत्मा नित्य हो ।

आत्मा-परमात्मा-सच्चिदानंद का एक ही अर्थ है आत्मा अर्थात् मैं । आत्मा नित्य साक्षात् है । अन्यथा एक देशीय, एक कालिक भिन्न अनित्य वस्तु कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं हो सकेगी क्योंकि वह एक रस, अखण्डानंद स्वरूप नहीं होगी । यदि यह शाश्वत नहीं होगी तो उसका प्रारंभ होगा फिर जिसका आदि है उसका अंत भी है । ऐसी अस्थायी नाशवान् वस्तु की प्राप्ति करने का कोई लाभ या पुरुषार्थ नहीं । वास्तव में यह आत्मा नित्य जाग्रतावस्था में साक्षी रूप में विद्यमान् है । बिना प्रयास के सभी कर्मों के प्राति जागरूक बने रहना, साक्षी बने रहना ही आनन्द की अवस्था है । यही साक्षात्कार है । अज्ञानता के कारण अनात्म देह के साथ आत्म निष्ठा कर ली गई है । इसीलिए बिना विषयों के आत्मानंद व्यक्त नहीं हो पा रहा है । इस मिथ्या अनात्म देह संघात् से तादात्म्यता को तोड़ना यहाँ परम् पुरुषार्थ रूप मोक्ष प्राप्ति या आत्म साक्षात्कार जानना चाहिए ।

जिसका उदय नहीं, उसका अस्त भी नहीं, वह है और सदैव रहेगा । यही वास्तविक 'मैं' ही पूर्ण 'मैं' अथवा साक्षात् आत्मा है । उस पूर्ण

चैतन्यात्मा का मैं रूप में साक्षात् होने के पश्चात् फिर बाहर देखने पर तुम्हें जगत् आत्म रूप से ही दृष्टिगोचर होने लगेगा ।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत्

इस विचार को छोड़ दो कि तुम अज्ञानी हो, जिसे अभी आत्मा का साक्षात् करना कर्तव्य शेष है । वास्तव में तुम्हारे मार्ग में यही बाधा है । तुम नित्य आत्मा हो । किसी भी क्रिया से, किसी भी योनि में, किसी भी क्षण, किसी भोगावस्था में तुम आत्मा न रहे हो ऐसा कभी तुम्हें या किसी को नहीं हुआ ।

आत्मा सदैव प्रत्यक्ष तुम हो । आत्मा अनभूत ही है । आत्मा की अनुभूति करना नहीं है । इस सरल तथ्य को जानना आवश्यक है । बस तुम्हारे आत्म साक्षात्कार, मुक्ति अथवा आनन्द की प्राप्ति की इच्छा को पूर्ण करने के लिए इतना विचार करना ही पर्याप्त है ।

साधन करना है तो आत्म साक्षात्कार के लिए नहीं, बल्कि आत्म अज्ञान निवारण के लिए । साक्षात्कार नित्य सिद्ध मैं तत्त्व है । केवल इसके अस्तित्व का मैं रूप से बोध होना ही आवश्यक है । करने या पाने जैसा आत्मा के लिए कुछ नहीं है । नाशवान् वस्तु की प्राप्ति हेतु ही कर्म के उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार, संस्कार तथा नाश रूप पाँच प्रकार का उपयोग है । नित्य प्राप्त मैं रूप आत्मा के पाने के लिए कोई साधन नहीं । शान्त हो जावो और जानलो कि मैं आत्मा साक्षात् हूँ । मैं ब्रह्म हूँ ।

अस्तित्व आत्मा ही मैं हूँ, 'मैं हूँ' । ब्रह्म है, आत्मा है ऐसा अपने से पृथक् भेद रूप सोचना या चिन्तन करना नहीं । बल्कि 'मैं आत्मा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जानना है । जानो कि मैं ब्रह्म हूँ न कि विचारो 'मैं ब्रह्म हूँ'। विचार अन्य का किया जाता है जानना अपने आप के प्रति होता है ।

प्रत्यक्ष स्वयं आत्मा की उपेक्षा कर अनात्म दृश्य पदार्थ व स्थानों में आत्मा को खोजना ऐसा मूर्खता पूर्ण कार्य है, जैसे साईकिल पर बैठ पहिए (चक्र) को खोजना ।

आप किसका ध्यान करने में असफल होते हैं ? क्या आत्मा दो है कि एक आत्मा दूसरी आत्मा का ध्यान करे ? यह असफलता की शिकायत करनेवाला कौन-सा आत्मा है ? शान्त हो जाओ । केवल एक आत्मा है उसे ध्यान करना आवश्यक नहीं । तुम आत्मा निश्चित रूप से जब अपने को जान लोगे यह देह तुम नहीं हो, किन्तु आत्मा हो तुम स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा गुरु से प्राप्त महाकारण चारों शरीरसे मुक्त साक्षी रह जाओगे ।

आत्मा को जानने से तात्पर्य 'आत्मा होना' – मैं रूप से स्वीकार करना है । क्या तुम कह सकते हो कि तुम आत्मा को नहीं जानते ? यद्यपि तुम स्वयं नेत्रों को नहीं देख सकते और देखने को दर्पण भी नहीं हो तो भी क्या तुम अपने नेत्रों के अस्तित्व को इन्कार कर सकते हो कि मेरे पास आँख है या नहीं, यह मैं नहीं जानता ? इस प्रकार आत्मा बाहरी वस्तु नहीं है तथापि तुम अज्ञानतावश आत्मा से अनभिज्ञ बने रहते हो । तुम आत्मा से मैं रूप में अवगत नहीं हो । आत्मा दृश्य की तरह नहीं दिखाई पड़ने से तुम आत्मा के अस्तित्व को जब इन्कार करते हो कि मैं आत्मा को नहीं जानता, तब भी इस कथन में आत्मा का अस्तित्व प्रकट है । क्योंकि जड़ शरीर द्वारा यह कथन सम्भव नहीं कि ''मैं आत्मा को नहीं जानता'' ।

साक्षी की खोज

स्वयं की खोज ही साक्षी की खोज है । जिसके सम्मुख समस्त घटना घटती है, जिसके सामने समस्त प्रतीतियाँ मन में फलित होती हैं, जिसके सम्मुख समस्त दृश्य वृत्तियाँ प्रकट होती हैं । वही साक्षी तुम स्वयं हो ।

पत्थर में केवल अस्तित्व है, किन्तु उसे अपने होने का अनुभव नहीं है, वह केवल है । लेकिन होने की चेतना उसके पास नहीं है । पशु, पक्षी में दो बात है वह है भी और उसे अपने एवं पराये के होने का भान भी है । पशु, पक्षी में अस्तित्व भी है एवं अस्तित्व का अनुभव भी है । मनुष्य में अस्तित्व है जैसा पत्थर, मनुष्य को होने का अनुभव भी है जैसे पशु । किन्तु मनुष्य में चेतना का एक तीसरा द्वार भी है । वह अपने अस्तित्व तथा चेतना का भी उनसे पृथक् अनुभव कर सकता है । मनुष्य यह भी जानता है कि मैं हूँ, मुझे अपने होने का भी अनुभव हो रहा है एवं इन दोनों के पीछे खड़े रहकर दोनों का भी दृश्य रूप अनुभव कर सकता हूँ ।

यह जो तीसरे का अनुभव है यही साक्षी है, पत्थर अचेतन है । पशु चेतन है । मनुष्य अपने चेतनके प्रति भी चैतन्य हो सकता है । अन्यथा पशु की तरह जीवन नष्ट करते आ रहा हैं एवं करते रहेगा । साधारणतः मनुष्य पशु के तल पर ही जीवित रहते हैं जहाँ है एवं होने का होश है, लेकिन साक्षी का उन्हें कोई अनुभव नहीं है । नींद में तो कुछ पता नहीं होता वहाँ तो हम पत्थर की तरह ही होते हैं एवं जाग्रत में साक्षी का पता नहीं होता तब हम पशु जैसे

ही जीवन निर्वाह में पड़े रहते हैं । लेकिन वास्तविक मनुष्यता का जन्म हमारे भीतर साक्षी 'विटनेसिंग' के साथ शुरू होता है ।

समझे । यदि मेरे हाथ में चोट लग जावे, पीड़ा हो, तो साधारणतः हम यह समझते हैं कि मुझे चोट लगी, मुझे पीड़ा हो रही है, तब वहाँ साक्षी की उपस्थिति नहीं है । लेकिन जब हमें यह ख्याल रहे कि चोट हाथ में लगी है एवं मन में पीड़ा हो रही है, मैं उसको जान रहा हूँ, पीड़ा मुझे नहीं क्योंकि चोट मुझे नहीं, मैं तो चोट एवं पीड़ा को जान रहा हूँ तो फिर वहाँ साक्षी उपस्थित हो गया । पेट में भूख लगी है । लेकिन आपको ऐसा लगे कि मुझे भूख लगी है, तो फिर वहाँ साक्षी नहीं । यदि ऐसा भान रहे कि पेट में भूख जाग्रत हुई है और मैं उसे जान रहा हूँ तो वहाँ साक्षी उपस्थित हो गया । यदि वह निश्चय कर लिया जाय कि मैं भूखा हूँ । भूख मुझे लगी, तो साक्षी खो गया एवं भूख से आपने तादात्म्य 'एकता' कर ली । यदि किसी भी अवस्था, क्रिया, वृत्ति से तादात्म्यता न किया जावे तो मैं उनसे सदा दूर, बाहर, साक्षी ही बना रहूँगा । मन के कोई भी अनुभव में समाविष्ट न हो कर, दूर बाहर, साक्षी ही बना रहूँगा । मेरे एवं मेरे द्वारा प्रकाशित नींद, भूख-प्यास, सुख-दुःख, रोग, शोक, काम, क्रोध, अवस्थाओं में एक फासला, दूरी निर्मित होगी एवं जहाँ अनुभवों के साथ मेरी दूरी होगी वहाँ ही मैं साक्षी उपस्थित हो जाता हूँ । जितना अनुभवों के साथ फासला कम हो जाता है, वहाँ साक्षी छिप जाता है । जहाँ साक्षी छिप जाता है, वहाँ अनात्म वस्तु एवं वृत्तियों के साथ तादात्म्य 'आइडेंटिटी' हो जाता है, जो हमारे समस्त दुःखों का मूल कारण है ।

साक्षी का अर्थ है, किसी के साथ एक न हो जाना बल्कि अलग रह जाना । **यदि कोई बुद्धिमान अपनी समस्त इन्द्रिय, अन्तःकरण अन्तर्गत बाह्य तथा भीतर के अनुभवों से अपने को अलग जाने तो वह साक्षी भाव को उपलब्ध हो जाता है ।** फिर चाहे मृत्यु हो या जीवन, सुख हो या दुःख, किसी भी घटना में अपनी चेतना को उस घटना के साथ एक न होने दे, बाहर ही रहे, साक्षी रहे । हमें तत्काल गाली, अपमान, क्रोध, की अवस्था क्यों आ जाती है ? क्योंकि हमने अपने को उन घटनाओं में एक कर लिया । उन घटनाओं के अनुभवों में और अपने में फासला नहीं रखा कि मैं जान रहा

हूँ, इसीलिए गाली, अपमान, दुःख, शोक प्रभावित कर देता है । तब यह ख्याल रहता है कि एक गाली है, एक गाली देनेवाला है और एक गाली सुनने वाला और एक मैं हूँ जो यह जान रहा है कि उसने इसे गाली दी ।

साक्षी का अर्थ है, किसी भी अनुभव से तादात्म्य न करे । सब अनुभव मुझसे दूर रहे, मुझसे जुड़ने न पावे । रास्ते पर चल रहे हैं, तो आप ऐसे भी चल सकते हैं कि मैं चल रहा हूँ एवं ऐसे भी चल सकते हैं कि यह चल रहा है । चलने कि घटना हो रही है, मैं इसे जान रहा हूँ कि यह धीमे चल रहा है या तेज चल रहा है । इसे टांग में दर्द हो रहा या यह थक गया है । और ऐसे भी चल सकते हैं कि मैं चल रहा हूँ, मुझे दर्द हो रहा है, मैं अब थक गया हूँ । खाना खा रहा हूँ ऐसे भी खाया जा सकता है । एवं खाने की घटना हो रही है, मैं उसे जान रहा हूँ मन को अच्छा लग रहा है, इस तरह भी भोजन की क्रिया हो सकती है । तात्पर्य यह कि मुक्ति हेतु प्रत्येक क्रिया एवं उसके द्वारा मन को होने वाले अनुभव से तादात्म्य तोड़ना होगा । एक-एक पल इसका होश रखा जावे तब कहीं कुछ काल सतत प्रयोग के बाद साक्षी की जागृति होती है ।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति - इन तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोग्य और भोक्ता के रूप में है उससे भिन्न वह सदाशिव, चिन्मय और अद्भुत साक्षी मैं ही हूँ । भोजन जो आप करते हैं वह भोग्य है । आप उसके करनेवाले भोक्ता हैं । तथा भोक्ता व भोग्य के बीच जो सम्बन्ध है उसे भोग कहते हैं । हर त्रिपुटी का अनुभव जिसे हो रहा है, वही तुरीय, चतुर्थ साक्षी आत्मा तुम हो । प्रायः तीन को हम अनुभव करते हैं - ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, भोक्ता, भोग, भोग्य, अनुभोक्ता, अनुभव तथा अनुभाव्य । लेकिन हम चौथे का अनुभव नहीं करते हैं जो इन तीन से पार इसका साक्षी है, त्रिपुटी का प्रकाशक भाव-अभाव का साक्षी है । उस चौथे में ही हमें जागना है उसी को ऋषि कहता है - 'उत्तिष्ठत जाग्रत' । चौथे का स्मरण होना ही ध्यान है । साक्षी पर दृष्टि आना ही ध्यान को उपलब्ध होना है ।

क्रोध मत रोको । पूरी तरह करो, लेकिन, साक्षी को जगाए रखो कि मैं क्रोध कर रहा हूँ । इस बात को जान रहा हूँ कि क्रोध आ रहा है । क्रोध हो रहा है । क्रोध जा रहा है । क्रोध से फासला, काम से फासला, शोक से फासला बनाए रखो । एक क्षण भी उनके साथ मत मिलो कि मैं कामी, मैं क्रोधी, मैं दुःखी । आप देखेंगे कि क्रोध, काम, शोक वृत्ति उठ ही नहीं पावेगी । यदि अपने साक्षी स्वरूप का भाव रहा तो क्रोध को जाग्रत करने के लिए शक्ति नहीं मिलेगी । यदि साक्षी स्वरूप की याद रखते हुए कोई क्रोध नहीं कर सकेगा । एक क्षण भी क्रोध पकड़ेगा तो साक्षी की स्मृति खो जावेगी एवं साक्षी की स्मृति रहेगी तो क्रोध खो जाएगा । क्रोध का अभिनय, अभिनेता कलाकर करते हैं वह वास्तव में क्रोध नहीं है, क्योंकि उन्हें यह पता है कि मैं क्रोध का वर्तमान अभिनय कर रहा हूँ । जैसा कि रामलीला में राम-रावण पर्दे के पीछे बैठ एक साथ चाय, नास्ता सीता के साथ करते हैं एवं स्टेज पर आकर अपना खोज, शोक, क्रोध का अभिनय शुरु कर देते हैं ।

जब भी हम कर्म के कर्ता बनते हैं तो साक्षी को खोकर । यदि कर्म के हम साक्षी हो गए तो कर्ता खो जावेगा । कर्ता की कीमत पर साक्षी एवं साक्षी की कीमत चुकाने पर कर्ता रह पाता है । इसका यह मतलब हुआ कि आप दो में से एक समय में एक ही हो सकते हैं । जब आप साक्षी बने हुए क्रोध, काम, क्रिया, करते हैं तो फिर क्रोध, काम, शोक, अभिनय मात्र रह जाता है । अग्नि में जले बीज की तरह निर्बीज ।

हम सभी कर्ता बने रहते हैं । जो भी क्रिया प्रकृति द्वारा होती है, श्वाँस लेने, चलने, देखने सुनने की क्रिया में हम शिघ्र कर्ता का अहंकार जोड़ लेते हैं । श्वाँस कोई लेता नहीं, वह चलती है, किन्तु आप कहते हैं कि मैं श्वाँस ले रहा हूँ, श्वाँस पूरे कर रहा हूँ । हमारी भाषा हर क्रिया को कर्म बना लेती है व अपने को कर्ता मान लेती है । यदि श्वाँस लेना जीव की स्वतंत्रता हो तो, वह एक रात भी जीवित नहीं रह सकेगा, श्वाँस लेने में भूल हो जावे तो । रक्त चलता है, हमें चलाना नहीं पड़ता । किन्तु मिथ्या अभिमानी श्वाँस ले रहा हूँ, की तरह रक्त चला रहा हूँ, यह भी अहंकार करे तो मिथ्या ही होगा । श्वाँस जब तक चलती है चलती है, जब रुक जाती है तो एक मिनट तो क्या एक सेकेण्ड भी नहीं चलती ।

यदि आप विचारेंगे तो पता चलेगा सम्पूर्ण जीवन वृक्ष के उत्पन्न होने, फूलने, फलने, बढ़ने की तरह, श्वाँस के चलने, रक्त के चलने, बालों के उगने की तरह स्वतः चल रहा है । वृक्ष प्रयास नहीं करता, पौधे प्रयास नहीं करते, इसलिए अहंकार भी नहीं करते अपने ऊपर खिलने, फलने वाले पुष्प एवं फलों के लिए । किन्तु मानव अहंकार करता है, प्रकृति दत्त क्रियाओं के लिए । आप अपनी जवानी, बुढ़ापे, श्वाँस, रक्त, बालों व भोजन पाचन के कर्ता नहीं हैं । भूख आप लगाते हैं या लगती है ? प्यास लगाते हैं या लगती है ? नींद आप लाते हैं या आ जाती है ? दया, क्रोध, घृणा लाते हैं या आ जाती है ? जीवन की समस्त क्रियाओं को ठीक से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि कर्ता एक भ्रान्ति मात्र है । इसी कर्ता को अहंकार कहते हैं । वास्तव में तो समस्त क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा ही होती रहती है ।

मेरा किसी से प्रेम हो गया, मैं केवल इसका साक्षी हूँ । साक्षी हूँ मैं इस बात का कि मेरे अन्दर कुछ हुआ उसके प्रति एवं उसके मन में कुछ हुआ मेरे प्रति एवं दोनों प्रेम में जुड़ गए । मैं इसका साक्षी हूँ प्रेम मैंने न किया न करता हूँ । यदि यह भाव जाग्रत हो गया तो तुम परमात्मा को उपलब्ध हो गए । कर्ता इस संसार का हिस्सा है, साक्षी परमात्मा का । साक्षी इस द्वन्द्व संसार से बाहर का हिस्सा है । समस्त क्रियाओं के बाहर किनारे पर खड़े आप मात्र जान रहे हैं कि मैं केवल ज्ञाता हूँ, मैं केवल साक्षी हूँ, कर्ता नहीं ।

जैसे दर्पण का धर्म, गुण दिखा देना मात्र है, रखना या आसक्त, विरक्त होना नहीं । इसी प्रकार चैतन्य साक्षी का धर्म एकमात्र जना देना, अनुभव करा देना मात्र है । फोटो प्लेट निगेटिव पर फोटो अंकित हो जाती है, किन्तु दर्पण पर प्रतिबिम्बित तो होता है पर अंकित नहीं होता । फोटो प्लेट की तरह है कर्ता भाव । दर्पण की तरह है साक्षी भाव । प्रतिफलित तो दर्पण पर सब होता है किन्तु पकड़ता कुछ नहीं । दृश्य हटा दर्पण भी खाली कुछ रखता, छिपाता नहीं ।

अहंकार मैं का भाव समाप्त होते ही साक्षी का अवतरण हो जावेगा, मैं व परमात्मा साथ नहीं रह सकते । मैं जब तक है, तब तक कर्ता का राज्य

एवं बन्धन है । जहाँ साक्षी का जागरण है, वही परमात्मा का राज्य एवं मुक्ति है ।

'**योग: कर्मसु कौशलम्**' गीता: २/५ पानी से गुजरो लेकिन पैर न भीगे । कर्म हो किन्तु कर्ता न बने । भोग हो पर भोक्ता न रहे । पानी में पैर भीग रहे हैं, लेकिन मैं नहीं । क्योंकि मेरे पैर नहीं है । भोग हो रहा है, किन्तु मैं भोक्ता नहीं, क्योंकि मेरे अन्तःकरण नहीं है । कर्म हो रहा है, लेकिन मैं कर्ता नहीं । क्योंकि मैं जीव नहीं, मन नहीं । मैं तो सब को जान रहा हूँ ।

जो लोग कर्ता भाव से जी रहे हैं वे धार्मिक भी हो जावें । संन्यासी, साधु, भक्त, योगी, तपस्वी हो जावें तो भी उनका कर्ता भाव नहीं जाता । वे वहाँ भी अपने कर्म, भक्ति, योग, त्याग, तपस्या का अहंकार कर्तापन लगाए रखते हैं कि मैंने यह किया, मैंने वह किया ।

धार्मिक व्यक्ति, सन्यस्त व्यक्ति वह है जो कर्तापन के अहंकार से मुक्त हो साक्षी भाव में जी रहा है । वह चाहे महल में रहे चाहे झोपड़ें में, चाहे दिगंबर रहता हो चाहे राजशाही पोशाक में रहता हो । वह साक्षी भाव में ही जीता है ।

अपने पर आने का एक ही उपाय है कि जो चेतना वस्तु का ज्ञान करती है, वह अपने पर मोड़ा जाय कि मैं उस पदार्थ को जान रहा हूँ । इस तरह पदार्थ को दिखाने व साथ-साथ द्रष्टा को भी दर्शावें । वस्तुओं को देखते हुए प्रकाश का नाम ज्ञान है एवं अपने को देखने वाले प्रकाशक का नाम ही ध्यान है । यह जो अपने होने का भान है कि मैं जान रहा हूँ, कि यह वृत्ति उठी है, यह वस्तु दिखाई पड़ रही है इस अपने पर लौटी चेतना का नाम ध्यान है । यही साक्षी का अनुभव है । बाकी सब अनुभव कर्ता का है । चेतना जब वस्तुओं की तरफ जाती है तो कर्ता है एवं जब चेतना वस्तुओं की तरफ से लौट अपनी तरफ आती है तो वह साक्षी की दिशा है । केवल दिशा के भेद है । विषय चिंतन मन कहलाता है आत्म चिंतन साक्षी कहलाता है ।

साक्षी भाव में जीने वाले संतों के लिए देह ऐसा हो जाता है, जैसे सूखा नारियल । वे देह को इस तरह देखते हैं, जैसे किसी अन्य को । दर्द, पीड़ा को इसी तरह जानते हैं जैसे किसी अन्य को हो रही है । स्वामी

रामतीर्थ गाली खाकर हँसते हुए घर लौटते हैं । तब घर वालों ने पूछा क्या बात है क्यों हँसते आ रहे हो ? तो स्वामी राम कहने लगे आज बड़ा मजा हुआ, राम को गाली पड़ी है । लोगों ने पूछा फिर तुमने क्या किया ? राम ने कहा सब हँस रहे थे, मजा ले रहे थे, लो मैं भी मजा ले रहा था ।

जब तक आपका अपने से उतना ही फासला नहीं होता, जितना कि दूसरों से है तब तक आप साक्षी भाव को उपलब्ध नहीं हो सकते । यदि आप दूसरों से तो अपने को फासले पर देखते हैं, द्रष्टा की तरह किन्तु अपने शरीर, इन्द्रिय तथा मन से अपने को दूर नहीं देखते हैं तो फिर आप साक्षी नहीं कर्ता ही हैं ।

जगत् में सभी चीजें हमारा अनुभव है । और जहाँ तक अनुभव है, वहाँ तक उसका पता नहीं चलेगा जिसको सब अनुभवों का भी अनुभव हो रहा है । अनुभव एवं अनुभोक्ता अलग अलग है । मैंने सुख जाना यह अनुभव है किन्तु मैं अनुभव का अनुभोक्ता अनुभव का प्रकाशक अनुभव से भिन्न हूँ । जो जान रहा है द्वंद्व को वह समस्त द्वंद्व से दूर है । कभी सुख मेरे सामने, कभी दुःख मेरे सामने, कभी मान मेरे सामने, कभी अपमान मेरे सामने, कभी जाग्रत मेरे सामने, कभी सुषुप्ति मेरे सामने, कभी विक्षेप मेरे सामने, कभी समाधि मेरे सामने । लेकिन मैं वह हूँ जो इन द्वंद्व से पार है, द्वंद्व में से मैं कोई भी अवस्था नहीं । यह सब मेरे सामने अनुभव घटता है मैं सभी अनुभवों का अनुभोक्ता इनसे दूर हूँ । यदि परमात्मा भी मेरे अनुभव का विषय बन जाता है कि परमात्मा सामने खड़ा है और मैं इधर उसका अनुभव कर रहा हूँ तो वह भी मैं नहीं हूँ । क्योंकि मैं जानने वाला पार रह गया, दूर रह गया, इधर रह गया एवं वह उधर रह गया, दृश्य बन गया तब वह मैं कैसे हो सकता हूँ ?

उपनिषद का ऋषि कहता है जो समस्त अनुभवों का कारण भूत है, अनुभवों का अनुभोक्ता है, अनुभवों का साक्षी है, वही परब्रह्म तुम हो ''तत्त्वमसि'' ।

जहाँ तक तुम उसे कहोगे यहाँ है - वह वहाँ से पार हो जावेगा दूर होता चला जावेगा 'नेति- नेति' । जहाँ-जहाँ तुम परमात्मा समझ कर पहुँच

सकोगे वह वहाँ-वहाँ से दूर छिटकता जावेगा । उसे वहाँ दूर भिन्न 'अब्जेक्टिव' वस्तु की तरह इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं कर सकोगे । क्योंकि वह अप्रमेय है, स्वयं प्रकाश है । ब्रह्म उसे ही कहते हैं जो तुम हो, जो तुम्हारा अनुभव है, परमात्मा कभी भी 'इदम् रूप', 'यह रूप' विषय की तरह ग्रहण नहीं हो सकेगा ।

इस प्रकार अपने से ऊपर उठने को ही साक्षी कहते हैं । जब भी कोई अपने मिथ्या अहंकार, मिथ्या मैं के पार हो जाता है, साक्षी हो जाता है, अपने प्रति भी औरों की तरह साक्षी होकर देखता है, तो उसके भीतर अखण्ड का प्राकट्य, अखण्ड का अनुभव जाग जाता है । क्योंकि यह सब खंड-खंड पृथक्-पृथक् चौदह त्रिपुटी, पंच कोश, तीन शरीर, तीन अवस्था पच्चीस तत्त्व, पंचभूत का जोड़ तो उसे दिखाई पड़ता है । पांच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, मन, बुद्धि । तब इन सबको देखने वाला कौन है ? क्या वह खंड हो सकता है ? यदि खंड परिच्छिन्न होगा तो वह स्मरण कैसे कर सकेगा, जहाँ वह नहीं था, जो वह नहीं था ? जो सामने उसके बहा होगा, घटा होगा, देखा होगा, उसका अनुभव किया होगा, उसीका तो स्मरण उसे होगा । क्योंकि अनुभव किए का ही स्मरण होता है । अतः इन समस्त भेद को जानने वाला उनसे अवश्य कोई एकरस, अखण्ड, साक्षात् सत्ता है । यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है । अन्यथा बचपन की स्मृति युवा, प्रौढ़ एवं वृद्धावस्था में कैसे हो पाती ? अलग होने से ही समस्त अवस्थाओं का साक्षी कोई हो सकता है । जो सब अवस्था एवं प्रपंच का साक्षी है वह साक्षी आत्मा ही मैं हूँ । ऐसा निश्चय वान समस्त बंधनों से छूट तत्काल मुक्ति को प्राप्त हो परम शांति का अनुभव करता है ।

सर्व धी साक्षी भूतम्

जाग्रत अवस्था हो, या स्वप्नावस्था हो, सुषुप्ति अवस्था हो या ध्यान, समाधि हो । मन इस लोक में हो या परलोक में हो । चाहे अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत, त्रिपुटी रूप हो । प्रत्यक्ष हो या शास्त्र के द्वारा जो परोक्ष रूप से जाना जाता है, वह सब बुद्धिगत विषय ही उपलब्ध होता रहता है । उन विषयों का प्रकाशक मैं आत्मा तो साक्षी, निर्विकार ही रहता हूँ । निर्विकार निर्विशेष होने से मैं ही परब्रह्म हूँ । सर्व दृश्य से विलक्षण होने से 'पर' हूँ और प्रपञ्चातीत होने से ब्रह्म हूँ । सर्व प्रकाशक (सर्वज्ञ) हूँ और अखण्ड सर्वगत अपरिच्छिन्न हूँ ।

जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यतप्रकाशते ।
तत् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते । कैवल्य उप., १७

आत्मा सर्वज्ञ कहा गया है, किन्तु सर्वज्ञ का अर्थ किसी एक शरीर, अन्तःकरण में बैठ सब अन्तःकरण की अवस्था का बोध कर लेने का नाम सर्वज्ञ नहीं है । क्योंकि अन्य पुरुष की बुद्धि में स्थित विषय, चिन्तन, अनुभव सुख-दुःख, रोग, मानापमान का स्मरण किसी अन्य पुरुष को होना कभी सम्भव नहीं है । अतः एक शरीर में स्थित बुद्धि का साक्षी परमात्मा उस बुद्धि का वहाँ ही ज्ञाता प्रकाशक है । इसी प्रकार अन्य शरीरों में रहकर वहीं से उनका साक्षी एवं ज्ञाता है । एक शरीर में बैठ सर्वज्ञाता नहीं है । जैसे बिजली सब घरों में एक होने पर भी घर-घर का खर्च बताने का कार्य, घर-घर में स्थित मीटरों द्वारा होता है, बिजली द्वारा नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक शरीरों की बुद्धि और उनकी वृत्तियों के कार्यों का 'मैं' ही वहाँ साक्षी हूँ ।

जैसे सूर्य के प्रकाश में ही, स्फटिक मणि में विभिन्न रंगो के पुष्पों का आभास प्रतीत होता है । सूर्य के बिना स्फटिक मणि में कोई रंग प्रतीत नहीं होता है । इसी तरह क्षेत्रज्ञ आत्मा के प्रकाश में ही बुद्धि के समस्त विषय विकार प्रतीत होते हैं । किन्तु परिच्छिन्न बुद्धि सुषुप्ति में लीन होने से बाह्य जगत् या स्वप्न जगत् का विषय स्मरण नहीं होता है । मैं साक्षी, आत्मा इनके भावाभाव का प्रकाश नित्य ही हूँ । यहाँ जिस प्रकार अपनी बुद्धि के स्थूल, सूक्ष्मादि देह रूप विषयों का मैं साक्षी हूँ, उसी प्रकार दूसरों के शरीरों में भी – मैं उनका साक्षी हूँ । अतः सर्वगत होने के कारण मेरा ग्रहण या त्याग नहीं किया जा सकता । अतएव मैं क्षेत्रज्ञ समस्त प्रपंच से रहित ब्रह्म ही हूँ ।

बुद्धि के रहने पर ही बुद्धि में दृश्य की प्रतीति होती है । उसके न रहने पर सुषुप्ति में किसी प्रकार के विषय का ज्ञान, स्मरण नहीं रहता है, किन्तु साक्षी आत्मा तो सर्वदा साक्षी ही रहता है ।

जाग्रत अवस्था में बुद्धि वृत्ति पर आरूढ़ हुआ चेतन(द्रष्टा) ही विषयाकार हो दृश्य रूप में द्वैत–सा प्रतीत होता है । किन्तु सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के न रहने पर वह द्वैत रूप दृश्य नहीं रहता है । अर्थात् द्वैत की सत्ता नहीं रहती है । अविद्या से द्वैत की प्रतीति होती है एवं ब्रह्म विद्या के द्वारा द्वैत की निवृत्ति अर्थात् प्रतीति नहीं होती है । जिस प्रकार अविवेक के कारण बुद्धि को परमात्मा के अभाव की प्रतीति होती थी, उसी प्रकार अब विवेक हो जाने पर उस परमात्मा से भिन्न वह बुद्धि स्वयं भी नहीं रहती । अर्थात् सद्गुरु द्वारा जब जीव वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन रूप अनुष्ठान करता है तब ब्रह्मात्मैकत्व विषयक विवेक ज्ञान से परमात्मा के अतिरिक्त कुछ भी उसे दिखाई नहीं देता । अपने कारण सहित वह साभास बुद्धि भी अपना व्यष्टि प्रतिबिम्बाकार अहंकार भुला अपने असल स्वरूप बिम्ब साक्षी में ही सोऽहम् वृत्ति कर लेती है ।

हे बुद्धि ! जब कि तुझ में किसी प्रकार की कोई स्वतन्त्र चेष्टा, विशेषता, सत्ता नहीं है, तब तुम्हारी किसी भी चेष्टा से मुझ निर्विशेष पर कोई फल (परिणाम, प्रभाव न्यूनाधिक) होने वाला नहीं है । अतः तुम्हारा शान्त होकर सोऽहम् चिन्तन करना ही श्रेयस्कर है । तुम्हारी ध्यान, समाधि,

प्राणायाम, त्याग, वैराग्य, इन्द्रिय दमन, आदि की जो व्यर्थ चेष्टाएँ हैं उनका त्याग कर शान्त हो जाओ तथा साक्षी मुझ आत्म–चिन्तन परायण होकर रहो, क्योंकि तुम्हारी समस्त चेष्टाएँ अविद्या के कारण हो रही हैं । ब्रह्मात्मैक्य (परमात्मा व साक्षी के एकत्व) ज्ञान न होने के कारण ही अज्ञान से बुद्धि की कल्पना हुई है, एवं कल्पित वस्तु की सत्ता उसके अधिष्ठान से भिन्न न होने के कारण, हे बुद्धि ! तुम्हारा अधिष्ठान भी मैं ही हूँ, अतः तुम मुझ में एकीभाव कर लीन हो जाओ । मुझ असंग, अद्वय, निर्विकार, अखण्ड आत्मा में एक बार अभेद भाव को प्राप्त होकर पुनः उत्पन्न होने का भय तुम्हें नहीं रहेगा । तात्पर्य यह है कि जब जीव अपने वास्तविक साक्षी स्वरूप कुटस्थात्मा को जान लेता है, तब बुद्धि की चेष्टा से पुनः संसार बन्धन नहीं होता ।

मोक्षाभिलाषी साधक को देह संघात् से अहं भाव का त्याग कर, अपने वास्तविक स्वरूप में ही निष्ठा करनी चाहिए कि मैं अखण्ड, असंग, निर्विकार आत्मा आकाशवत् हूँ । मैं इन्द्रिय, अन्तःकरण से परे हूँ । मैं नित्य प्रकाशमान, अजन्मा, अविनाशी, अद्वितीय, सभी ओर परिपूर्ण अपने स्वरूप में ही स्थित सदा मुक्त ही हूँ । मैं किसी का कारण नहीं और किसी का कार्य भी नहीं हूँ । न मुझसे कोई उत्पन्न हुआ है, न मैं किसी से उत्पन्न हुआ हूँ ।

मेरे अलावा न तीन शरीर है, न तीन अवस्था है, न पंचकोष है । मेरे असंग सर्वोत्तम, निष्क्रिय, निर्विकार स्वरूप का बोध कराने हेतु तीन से भिन्न चतुर्थ, तुरीय, पंचकोषातीत, साक्षी, पुरुषोत्तम आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है । जाग्रतादि तीन अवस्था ही नहीं है, तब उनका मैं प्रकाशक भी कैसे हो सकता हूँ ? कदापि नहीं । मैं दृश्य को प्रकाशित कर रहा हूँ यह कथन भी उस अज्ञानी के मन का है, जिसने एक अखण्ड, सर्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया है । जैसे स्वप्नजनित दृश्य की कोई सत्ता नहीं, वैसे ही शरीरादि दुःख परम्परा की भी कोई सत्ता नहीं है । तब मैं उनका प्रकाशक द्रष्टा हूँ, यह कहना भी सत्य नहीं हो सकता । क्योंकि मुझ अद्वय असंगात्मा से भिन्न कुछ भी दृश्य अन्य नहीं है ।

जैसे स्वप्न जनित पदार्थ, व्यक्ति, शत्रु, सर्प, सिंह आदि की कोई सत्ता नहीं, फिर भी स्वप्न में पुरुष उन्हें देख हर्ष–शोकवान् हो सुखी–दुःखी

होता, रोता-चिल्लाता है । इसी प्रकार इस जाग्रत जगत् के पदार्थों की भी कोई पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है फिर भी अज्ञानी उनमें अन्य भाव कर हर्ष-शोकवान् हो सुखी-दुःखी मान राग-द्वेष कर बन्धन को प्राप्त होता है ।

अपने आत्म स्वरूप को न जानना एवं देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण को अपना स्वरूप जानना अविद्या कहलाता है । अविद्याकृत देहाभिमान से की जाने वाली शुभाशुभ क्रियाएँ ही जीव को बन्धन करानेवाले कर्म हैं । विपरीत भावना ही नित्य प्राप्त परमात्मा से दूरी एवं अप्राप्ति का भ्रम बनाए हुए हैं । आत्मा व्यवधान रहित, नित्य निर्मल, नित्य मुक्त है ।

'मैं परब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चयात्मक आत्मज्ञान सद्गुरु की कृपा से जिसे हो जाता है, उसका पुनः जन्म नहीं होता है । जिस प्रकार जले बीज में अंकुरित शक्ति के नष्ट हो जाने से फिर वह उत्पन्न नहीं हो सकता । उसी प्रकार मैं अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म हूँ, इस ज्ञानाग्नि से मैं कर्ता, भोक्ता, पापी जीव हूँ, यह मिथ्या अहंकार बीज का नाश हो जाता है । तब जीव शिव स्वरूप हो पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता । इसी स्थिति को गीता में शुक्ल पक्ष में प्राण त्यागनेवाला पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, कहा गया है ।

मैं यह सुन्दर, गौर-श्याम, लम्बा, मोटा, छोटा, दुर्बल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि जातिवाला हूँ । अन्य पुरुष मुझसे असुन्दर, बुद्धिहीन, कमजोर, दरिद्र है । ऐसी कल्पना करते रहना अज्ञानी पुरुष का ही लक्षण है । क्योंकि ब्रह्मात्मज्ञान होने पर इस प्रकार के अज्ञान जनित मोह की निवृत्ति हो जाती है । ज्ञानी सदा अपने को समान रूप से स्थित, अद्वितिय, शिव स्वरूप आत्मा ही निश्चय पूर्वक जानता है । आत्मा में इन कल्पनाओं के लिए उसी प्रकार स्थान नहीं होता, जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार अथवा रस्सी में सर्प । किन्तु अत्यन्त निर्मल अद्वितीय ज्ञान के उत्पन्न होने पर ज्ञानी महापुरुषों को अज्ञानी देहाभिमानी की तरह शोक-मोह नहीं हुआ करता । ज्ञानी को शोक, मोह के न होने पर कर्म या जन्म नहीं होता । यह वेदान्त एवं वेद वेत्ताओं का निर्णय है । आत्मा के अद्वितीयत्व का निश्चय हो जाने के कारण जो मनुष्य सुषुप्त (सोये हुए) पुरुष के समान जाग्रत अवस्था में भी द्वैत का अनुभव नहीं करता है। तथा सब कुछ क्रिया उसके दृश्य देह संघात् से प्रारब्धानुसार होते

रहने पर भी वह अपने को कर्ता–भोक्ता नहीं देखता । बल्कि प्रकृति में ही क्रिया सम्पादन को देखता है एवं अपने को निष्क्रिय ही जानता है । ऐसा यथार्थ निश्चयवाला ही आत्मज्ञ है, अन्य नहीं हो सकता । ऐसा वेदान्त का उद्घोष है । आत्मभाव अतिरिक्त अन्य कोई भले ही विद्वान् ही क्यों न हो, वह आत्मज्ञ नहीं है । क्योंकि व्यवहार काल में वह ज्ञातृत्व, द्रष्टा, कर्तृत्व आदि अभिमान उसमें भरा होता है । किन्तु ज्ञानी के जड़–चेतन ग्रंथि के नाश हो जाने से, अद्वैत सत्ता का बोध हो जाता है । जिस कारण जाग्रत अवस्था में प्रपंच के दिखाई पड़ने पर भी उसमें आसक्त नहीं होता । अर्थात् उसके निश्चयवृत्ति में द्वैत की सत्ता ही न रह जाने के कारण सर्वत्र अपने को ही वह देखता है । इस प्रकार जो आत्मवित् होगा वह व्यवहार, विक्षेप दशा में भी अपने साक्षी भाव से नीचे देहभाव या कर्ता–भोक्ता–भाव में नहीं गिरता है ।

जीव को आतमज्ञान द्वारा ही मोक्ष होता है । कर्म, उपासना, योगादि साधन ज्ञान में तो सहायक माने जाते हैं, किन्तु मुक्ति में नहीं । जैसे दीपक, तेल, बत्ती, प्रकाश प्रकट होने में तो सहायक है, किन्तु अन्धकार निवृत्ति में तो एकमात्र प्रकाश ही साधन है अन्य नहीं । आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी महापुरुषों को जाति, आश्रम, सम्बन्ध, अभिमान नहीं रहने के कारण कर्म की स्थिति ही नहीं रहती । जो मोक्ष फल में ज्ञान का सहायक बन सके । अतः ज्ञान, कर्म समुच्चय मोक्ष प्राप्ति में कारण नहीं है । अतः मुमुक्षु को आश्रमोचित, यज्ञोपवीतादि लिंगों के सहित कर्म का बाध कर देना चाहिए । क्योंकि समस्त प्राणियों की मनोवृत्तियों के साक्षी आत्मा को सोऽहम् रूप से जान लेने के कारण किसी नाम, रूप, जाति, आश्रम, पिता–माता, कर्तृत्व–भोक्तृत्वादि का थोड़ा भी अभिमान नहीं होता है । इसलिए ऐसा ज्ञानी अभिमान शून्य होकर साक्षी बन देखता रहता है ।

स्वप्न संसार से जागने के पूर्व तक स्वप्न संसार सत्यता प्रतीत होता है, किन्तु जाग्रत होने पर साक्षी के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होता । इसी प्रकार यह जाग्रत संसार सम्बन्ध भी अज्ञान काल तक ही दुःख–सुख रूप प्रतीत होता है । आत्मज्ञान लाभ करने से यह जाग्रतिक जगत् के समस्त व्यवहार भी स्वप्नवत् सत्ता हीन प्रतीत होते हैं । आत्म साक्षात्कार करने के

पूर्व अज्ञान काल देहाभिमान तक ही व्यवहार पुण्य–पाप, स्वर्ग–नरक, कर्तृत्व–भोक्तृत्व की सत्यता प्रतीत होती है ज्ञानोत्तर सब स्वप्नवत् मिथ्या ही हो जाता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। गीता १३/३२

आकाश जैसे सर्वगत होकर भी असंग है, उसी प्रकार आत्मा समस्त प्राणियों के शरीर में रहकर अज्ञान एवं उसके कार्यों का प्रकाशक है । इसलिए उसे असंग निर्विकार कहते हैं । आत्मा सर्वभूतस्थ कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण प्राणियों में 'अहम्' वृत्ति की अभिव्यक्ति (प्रकाश) आत्मा द्वारा ही होती है । आत्मा को 'केवल' कहने से यह तीनों अवस्थाओं से रहित है ।

जो साधक 'मैं ब्रह्म हूँ' (शिवोऽहम, सोऽहम्) 'अहं ब्रह्मास्मि' भी कहते हैं एवं अपने से भिन्न इष्टोपासना भी कर अपने को कर्ता–भोक्ता मानते हैं, उनको ज्ञान एवं कर्म दोनों मार्गों से भ्रष्ट ही मानना चाहिए । क्योंकि ज्ञान–कर्म समुच्चय शास्त्र विरुद्ध है । जो मन मुखी है, वे नास्तिक ही हैं ।

मैं आत्मा स्थूल देह से उसी प्रकार भिन्न हूँ, जिस प्रकार कोश से तलवार अलग दिखाई पड़ती है । स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर का स्मरण नहीं रहता । उसके भावाभाव का विचार भी नहीं होता एवं सुषुप्ति में स्वप्न एवं जाग्रत वाले दोनों शरीरों का विचारोदय नहीं होता है, किन्तु सर्व प्रकाशक मैं सभी अवस्थाओं में समान रूप से प्रकाशक रहता हूँ । उपाधि से पृथक् अपने साक्षी स्वरूप में ही उसका अवभास (ज्ञान) होता है । तात्पर्य यह है कि कार्य–कारणाकार मन से पृथक् ही मैं आत्मा हूँ ।

कर्म में कर्तव्यता तो उसकी होती है जिस अज्ञानी को देहाभिमान होता है, किन्तु जिसने अपने स्थूल, सूक्ष्म देहाभिमान का आत्मनिष्ठापूर्वक त्याग कर दिया है, ऐसे ज्ञानी के लिए कर्मानुष्ठान कैसे सम्भव हो सकता है ? कर्म तो अपने को कर्ता एवं अपने से भिन्न फलदाता ईश्वर को मानने से होते हैं । ज्ञानी में न फलेच्छा है, न कर्ता भाव, न वह फलदाता ईश्वर ही को पृथक् मानता है । अज्ञान से उत्पन्न मिथ्या मैं बुद्धि से ही कर्म होता है, अथः कर्म अज्ञानमूलक है । इस कारण नाश रूप कर्म द्वारा मोक्ष की आशा रखना व्यर्थ

है । ज्ञान और अज्ञान का विवेक (भेद) न करने वाले अज्ञानी को ही कर्म करने की प्रवृत्ति होती है । अज्ञान और कर्म दोनों जड़ पदार्थ हैं, अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं है, तब वह मोक्ष कैसे करा सकेगा ?

सबका अपना स्वरूप (आत्मा) कर्तृत्व-भोक्तृत्व अहंकारों से शून्य साक्षी मात्र है । किन्तु अन्तःकरण में, मैं भाव का तादात्म्य हो जाने के कारण अविचार से अज्ञानी अपने को दृश्य वर्ग देह संघात् से पृथक् नहीं जान पाता । सर्वत्र समान रूप से व्याप्त निर्विशेष चैतन्य आत्मा ही अन्तःकरण में मन, बुद्धि आकार में प्रतीत होने लगता है और चिदाभास विशिष्ट अन्तःकरण को ही अज्ञानी लोग आत्मा कहने लगते हैं । अपने साक्षी स्वरूप निष्क्रिय निर्विकार आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व, पुण्य-पाप, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, चचंल-शान्त आदि द्वन्द्व नहीं है । यह आत्मा द्वन्द्वातीत है । फिर भी अज्ञान से द्वन्द्वात्मक प्रतीत है । और मैं ज्ञानी-अज्ञानी, में पापी-धर्मात्मा, मैं दुःखी-सुखी, मैं चचंल-शान्त, मैं बद्ध-मुक्त, मैं कर्ता-भोक्ता आदि मिथ्या अन्तःकरण के धर्मों में अहंकार कर बन्धन को प्राप्त होता है ।

देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण कर जो भी दृश्यवर्ग अहंकार करने के स्थान है, वे सब आभास अन्तःकरण के धर्म हैं । किन्तु अविवेक के कारण जीव मोटा, नाटा, दुर्बल, रोगी, स्वस्थ, बाल, युवा, वृद्धा तथा जन्म-मृत्युवान् देह के धर्मों को अपने में मानता है । तथा 'अभी जीवित हूँ', 'अब मरने के दिन आ गए', 'मर जाऊँगा' - ऐसा देह, प्राण के धर्मों में अहंकार करता है । मैं बोलता, चलता, दौड़ता हूँ, मैं देखता, सुनता, सूंघता, स्वाद लेता हूँ - ऐसा ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियों की क्रिया में अभिमान करता है । मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी, पापी-अधम जीव बन्धन से मुक्त कैसे हो सकूँगा, ब्रह्म रूप कैसे हो सकूँगा ? ऐसा अन्तःकरण में आत्म अहंकार करता है । इस प्रकार अनन्योध्यास के कारण परस्पर जड़-चेतनका भेद नहीं कर पाता है और मैं आत्मा ब्रह्म रूप से नहीं जानता है ।

एक समय में एक अन्तःकरण में दो परस्पर निश्चय रखना प्रमाणित नहीं हो सकता । जैसे 'तू यज्ञादि का अनुष्ठान कर' और 'तू वही ब्रह्म है' ।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते । -६/३ : गीता

अग्निहोत्रादि कर्मों को करने की आवश्यकता ज्ञानी के लिए नहीं है, बल्कि आत्मज्ञान से शून्य अज्ञानी के लिए विधान किया है । मुमुक्षु तथा उत्तम जिज्ञासु के लिए तो तत्त्वमसि महावाक्य के श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके शुद्ध साक्षी ब्रह्म स्वरूप का निश्चय करने के लिए निरूपण किया गया है । कर्म-उपासना उसके लिए कर्तव्य रूप नहीं है, **'तस्यकार्यं न विद्यते'** - गीता : ३/१७ । बल्कि त्याग ही कर्तव्य है । श्रुति को आत्मा के प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्वता का बाध (हटाना) ही अभीष्ट है । एक ही आत्मा को 'तुम कर्म करो' और 'तुम वही हो' - इस प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो प्रकार की परस्पर विरोधी बात करना अज्ञान ही कहलावेगा । जैसे तुम भिखारी एवं दानी हो कहना, अज्ञानता है । अतः परस्पर दो विरोधी ज्ञानों में से एक को बाध करके एक को ही स्वीकार करना ही होगा ।

धर्मी-धर्म का नित्य सम्बन्ध है, वह आनेजानेवाला आगमापायी नहीं । जैसे अग्नि का उष्णता धर्म होने से हजारों बार निश्चय किया जाए कि वह शीतल है तो हमारे विचारने से वह शीतल नहीं होगी । इसी प्रकार जीव को जाग्रत एवं स्वप्न में जैसे नाना प्रकार के दुःख द्वन्द्व प्रतीत होते हैं, यदि यह सब विकार आत्मा में दुःख-बन्धनादि धर्म होते तो करोड़ों महावाक्य बोलने से वह निवृत्त नहीं होते । किन्तु सुषुप्ति में साक्षी आत्मा के अतिरिक्त कोई भी अहंकारात्मक वृत्ति नहीं पाई जाती है । इससे यह बात प्रमाणित हो जाता है कि आत्मा समस्त द्वन्द्व से रहित है ।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में पशु, पक्षी, दानी, भिखारी, चोर-पुलिस, सदाचारी, दुराचारी, वृक्ष, पहाड़, सूर्य, चन्द्र, राजा, सिंह, साँप, भूतादि तथा भोग पदार्थ न होकर भी स्वप्न द्रष्टा में कल्पित हैं । वहाँ कोई भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति सत्य नहीं है । उसी प्रकार वासनाओं के कारण इस स्थूल-सूक्ष्म देह संघात् एवं विषय जगत् को भी अपने साक्षी द्रष्टात्मा में कल्पित ही जानो ।

जिस प्रकार दर्पण के विकारी होने से उसमें प्रतीत होने वाला प्रतिबिम्ब विकृत भासमान प्रतीत होने पर भी कोई दर्शक अपने में वह विकार स्वीकार नहीं करता है । किन्तु जिसे दर्पण एवं अपने रूप का विवेक नहीं है, ऐसा

अज्ञानी ही छोटे, बड़े, मलिन दर्पण में मुख आकृति को देख अपने को ही दुर्बल, मोटा, छोटा, बड़ा, मलिन, टेढ़ा, समझता है । वैसे ही साभास अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्याभास को ही अज्ञानी व्यक्ति निज साक्षी आत्मस्वरूप जान 'मैं कर्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार भ्रान्ति से अपने को समझ संसार बन्धन को प्राप्त होता रहता है ।

जो भाग्यशाली मुमुक्षु सद्गुरु शरणापन्न हो अपने को साक्षी आत्मा रूप से जानता एवं 'साक्ष्यमेव सर्वम् इदम्' यह सब कुछ दृश्य साक्ष्य है । इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार समस्त भीतर, बाहरी, दृश्य वर्ग एवं देह संघात् से अपने साक्षी स्वरूप को भिन्न देखता है, वही वास्तव में यथार्थदर्शी, तत्त्ववेत्ता, आत्मवित्, श्रेष्ठ सम्यकदर्शी है । साभास अहंकार को ही मैं आत्मा माननेवाला सम्यक दर्शी महात्मा नहीं है ।

हे आत्मन् ! बुद्धि वृत्ति रूप अनित्य दृश्य ज्ञान को तुम, अपना होना मत समझो वह सब तो चिदाभास के धर्म है । तुम अपने को साभास अन्तःकरण अर्थात् समस्त विशिष्ट ज्ञानों का विज्ञाता, प्रकाशक, स्वयं प्रकाश, सर्व साक्षी ही जानो । सर्व प्रकाशक आत्मा को ही त्वम् पद से तत्त्वमसि महावाक्य में बताया गया है । नित्य ज्ञान रूप जो सबका साक्षी है 'वही तू है' इसके अतिरिक्त जो कुछ साक्षी द्वारा चेतन-जड़ साक्ष्य प्रकाशित हो रहा है, वह बुद्धि एवं आभास अन्तःकरण का होने से मिथ्या ही है । अर्थात् अपने साक्षी आत्मा से पृथक् जो कुछ भी साधना द्वारा प्राप्त होने वाला है, वह मिथ्या अनित्य ही समझना चाहिए ।

यत् यत् साध्यं, तत् तत् अनित्यम् ।

मैं सर्वदा नित्य, साक्षी स्वरूप आत्मा हूँ, इस निश्चय से भिन्न अन्य कोई अनुभव स्वीकार मत करो ।

मध्य में ठहरो

एक सूफी संत अलहिल्लाज मंसूर हुआ । उसने घोषणा की थी कि मैं अल्लाह हूँ, 'अनलहक' मैं स्वयं भगवान् हूँ । उसने उपनिषदों का परम वचन बोल दिया – 'अहं ब्रह्मास्मि' । जाति का वह मुसलमान किन्तु वेदान्ती था । खलीफा को पता लगा कि बन्दा मन्सूर अपने को खुदा कहता है । कुफ्र हो गया, काफिर हो गया । मन्सूर को सिपाही द्वारा राजमहल में बुलाया । मुस्लिम धर्म के विपरीत थी उसकी 'अनलहक' घोषणा । इस्लाम कहता है तुम भक्त (बन्दा) हो सकते हो किन्तु खुदा (भगवान्) नहीं ।

जब कि मन्सूर ने 'अनलहक' की घोषणा की तो मुसलमान उसके खिलाफ हो गए । उसे पकड़ बुलाया खलिफा ने और कहा कि तुम क्षमा मांग लो, अन्यथा फांसी पर लटका दिए जाओगे । मन्सूर को खलीफा भी आदर करता था । मन्सूर एक बहुत प्यारा आदर्शवान् व्यक्ति था । इस्लाम के सभी नियम को मानता था । केवल एक ही भूल कर बैठा था कि अपने को खुदा कहने लग गया था । उसे खलीफा ने बहुत समझाया । कई वर्ष तक महल में रखा, किन्तु मन्सूर 'अहं ब्रह्मास्मि' निष्ठा तोड़ने को राजी नहीं हुआ । मन्सूर ने कहा यह 'अनलहक' मेरी बात नहीं है । जो कहा जा रहा है 'मैं ब्रह्म हूँ' यह उस अल्लाह की ही आवाज है । मैं क्या करूँ ? वह मानने को तैयार नहीं । मेरी बात होती तो मैं अपने वचन वापस ले लेता, क्षमा मांग लेता, महल से भाग निकलता । उसके द्वारा क्षमा मांगने का, प्रायश्चित करने का कोई उपाय नहीं यह मैं नहीं कह रहा हूँ, यह तो वही बोल रहा है । अब उसे

कौन समझावे । और वह फांसी से डरता नहीं,क्योंकि वह मरनेवाला नहीं । यदि कहने वाला मन्सूर होता डर जाता । लेकिन मैं हूँ नहीं, वही है और वही बोल रहा है । तुम प्रतीक्षा मत करो । फांसी लगानी हो तो लगा दो देर मत करो ।

खलीफा बड़ी मुश्किल में पड़ गया, क्योंकि मन्सूर के प्रति सम्मान भी रखता था । खलीफा ने खुद ही पूछा, अब मैं क्या करूँ ? मन्सूर ने कहा कि तू चिन्ता मत कर और मुझे शिघ्र फांसी लगा दे । इसमें लाभ ही होगा हानि नहीं । खलीफा ने पूछा, इसमें लाभ क्या होगा ? मन्सूर ने कहा, कोई भी मिथ्या अहंकारी 'अनलहक' बोलने का भविष्य में साहस नहीं करेगा क्योंकि फांसी का फंदा जो स्वीकार कर सकेगा, वही 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा कर सकेगा एवं यह दावा वही भर सकेगा जो मृत्यु के पार हो बैठा है । जिसे यह ज्ञात हो चुका है कि देह तो पुराने वस्त्रों को छोड़ने जैसा है । यह तो आज नहीं, कल घर में नहीं बाहर, रोग से नहीं तो फांसी से मरने ही वाला है । तब फिर क्या फर्क पड़ता है कि रोग ग्रसित हो मरे या फांसी से मरे । मैं तो फिर भी रहूँगा । तू फांसी लगा दे । अहंकार की मृत्यु होगी आत्मा की तो मृत्यु हो ही नहीं सकती । परमात्मा के नाम सूली मिले या सिंहासन मिले, ठीक है, गलत कुछ नहीं । शरीर एक बाधा ही है वह भी मेरे व परमात्मा के बीच से हट जावेगा, फिर तो शाश्वत मिलन होता रहेगा । जिन्हें आत्मा का अनुभव हो चुका उनको फांसी की सजा डरा नहीं सकती ।

जो होना है, वही होगा, वही होता है । जो नहीं होना है, वह कभी नहीं हो सकेगा । जो हो गया, वही हो सकता था, चोर, मंत्री, भिखारी, नौकर, मालिक, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी । तुम जिस बच्चे को जन्म दे सकते थे, उसे ही जन्म दिया । जिसे नहीं दे सकते थे उसका जन्म तुम्हारे द्वारा कभी नहीं हो सकता । कुछ भी अकारण से अचानक नहीं टपक रहा है । वर्षा भी गिरने का कारण पूर्व से है तभी वर्षा होती है । इसलिए अब रोज छाती, माथा मत पीटो , मत चिल्लाओ कि ऐसा क्यों हुआ ? ऐसा क्यों नहीं हुआ ? तुम्हें जो मिल सकता था, मान–अपमान, लाभ–हानि, पुत्र–पुत्री, पद–प्रतिष्ठा, वह मिल गया । तुम्हें जो नहीं मिलना था, वह नहीं मिला । अन्यथा की कोई

आशा, आकांक्षा मत करो । जैसा हो गया, मन्सूर उसी में राजी है । क्योंकि अन्यथा तो हो नहीं सकेगा । परमात्मा का न्याय मन्सूर को मंजूर है । कोई शिकायत नहीं कि ऐसा क्यों हो गया । जो चीज संगठित होगी, वह विघटित होगी, जो बनेगी वह मिटेगी । जो आएगी वह जाएगी, जो जन्मेगा, वह मरेगा । जो उदय होगा वह अस्त होगा, जो पुष्प खिलेगा, वह मुरझावेगा । जिसने जीवन को स्वीकार किया है, उसे मौत को भी स्वीकार करना होगा । जिसे हम स्वीकार कर लेते हैं हम उसके पार हो जाते हैं । वह हमें बाँध नहीं सकता । जो जिसे अस्वीकार करते हैं उसमें बंध जाते हैं । मृत्यु, हानि, अपमान, रोग को पहले से ही स्वीकार कर लिया तो एक दिन प्राप्त होने पर तुम उस मात्रा में दुःखी नहीं हो सकोगे, क्योंकि तुम प्रथम से ही वह सोच कर, निश्चय कर बैठे हुए थे ।

ज्ञानी संत जगत् में ऐसे रहते हैं जैसे वह अकेला है न किसी से प्रेम न वैर, न सम्मान की आशा, न अपमान का दुःख, न लाभ न हानि, न कोई द्वन्द्व न कोई संघर्ष । न कुछ झगड़ने को न कुछ कलह करने को, क्योंकि दूसरा कोई हो तब तो उससे कुछ बदला लो, धन्यवाद दे किन्तु जब कुछ अन्य है ही नहीं तो सब स्वीकार करने के अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं । मौत से कोई लड़ाई विरोध नहीं । जो जिसे स्वीकार कर लेता है वह उससे मुक्त हो जाता है । उसे उसका भय नहीं रहता ।

संसार में व्यक्ति जैसा है उसे उसी रूप से पूर्ण स्वीकार कर लें तो, दौड़ हट जाती है। किन्तु व्यक्ति जैसा है कुछ ज्यादा दिखाने एवं होने की अभिलाषा में भाग दौड़ करता है, इसलिए वह दुःखी होता है ।

वृक्षों को देखो, पौधों को देखो, पशु-पक्षी को देखो, नदी पर्वत को देखो, जिसे जैसा होना था, वैसा ही वे होकर जी रहे हैं । छोटे पौधे, वृक्ष, टीले, नदियाँ, झरने, पशु, पक्षी अपने से बड़ों को देख न ईर्ष्या करते हैं न शिकायत कि हमें ऐसा क्यों बनाया व उन्हें बड़ा क्यों बनाया ? वे यथा प्राप्त स्थिति में शांत एवं प्रसन्न है । किन्तु यहाँ मनुष्य यथा प्राप्त में सन्तुष्ट नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि दूसरों को देख ईर्ष्या की अग्नि में दिन-रात जलता रहता है ।

स्वभाव धर्म है । तुम जो हो उसमें ठहर जाना धर्म है । तुम जो नहीं हो उसमें ठहरने की चेष्टा अधर्म है । यदि तुम धन, पुत्र, पद, शरीर, रूप, नाम, पति, पत्नी, एवं परमात्मा में रमे हो तो अधर्म है । जब तुम स्वयं में रम गए, कोई पराया न रहा, कोई दूसरा न रहा, वही धर्म है । ध्यान जब अपने में लौट आया, साक्षी में लौट आया, तो वह आत्मरमण हुआ, वही स्वभाव है, वही धर्म है, शेष सभी परधर्म, अधर्म एवं भय रूप है '**परधर्म भयावहः**' । गीता: ३/३५

एक बार अपनी पूरी नग्नता को स्वीकार कर लो । दबाओ मत, मेकअप कर अपने असली चेहरे को मत छिपाओ । सारे वस्त्र उपाधि को अलग करके अपनी शुद्ध नग्नता को, सच्चाई को स्वीकार कर लो । जैसे तुम जन्म के समय निरुपाधिक अनामी आए थे । तुम अपने को पहचान लो कि अब तुम क्या अपने को मान रहे हो ? जैसे कोई अपने देश से परदेश जाता है, तब उसके पास एक कपड़ा एक लोटा पानी पीने को होता है, फिर वह करोड़पति हो जाता है, तो उसे यह ख्याल रहता है कि मैं जब गाँव से आया था, तब मेरे पास क्या था ?

याद रहे ! जो बाहर से प्राप्त हुआ है, उसमें से अपना अहंकार, आसक्ति को छोड़ो, वह सार्थक नहीं है । सार्थक तत्त्व तुम हो । तुम्हारे भीतर छिपा पड़ा है, उसे खोजो एवं उसमें सोऽहम् भाव को जोड़ो, उसमें प्यार जगाओ । जिस चीज को तुम बाहर से प्राप्त करते हो, मौत उसे एक झटके में छीन लेगी । अस्तु उसे मौत के छीनने से पहले स्वयं ही छोड़ दो । इसी में तुम्हारी महानता है, अन्यथा बहुत रोना पड़ेगा । अस्तु निश्चय करो कि जो मरेगा, छिनेगा, मिटेगा, वह मैं हूँ नहीं । जो मरने पर बचता है वही अमर आत्मा मैं हूँ । छोड़ना भागने से नहीं होता । छोड़ना जागने से होता है । सिर्फ जागकर देखो । घर, पत्नी, पुत्र को छोड़ भागने वाला यह सिद्ध कर रहा है कि यह सब मेरे हैं । भागने वाला मेरे का सम्बन्ध लेकर, पकड़ कर ही भाग रहा है, अन्यथा क्यों भागना पड़े, सब रहते हैं, वैसे ही हम भी रहें, किन्तु साक्षी बनकर ।

मध्य का मार्ग अपनावे । न भूखे रहे न ज्यादा खावें । न घर में आसक्ति रखे न जंगल में जावे । घर में रहो तो जैसे जंगल में हो, यह मध्य में

ठहरना हुआ । किसी भी अति पर न जाओ । घड़ी का पेण्डुलम दोनों और अति पर जाता है, मध्य में रुक जाए तो संसार घड़ी बन्द हो जावे । साक्षी भाव मध्य अवस्था है ।

यह साक्षी भाव ऐसी अग्नि है जो आग के बिना सब कुछ संचित्, क्रियमाण कर्म जला देती है ऐसी मृत्यु है जो घटती नहीं और सब कुछ समाप्त हो जाता है । इसी का नाम संन्यास है, घर छोड़ जंगल जाने, कपड़े रंगने, नाम बदलने, मुंडन करने का नाम नहीं । यह अहंकार झूठा है जो जन्म के बाद तुमने स्वीकार किया है । इसको जलाने के लिए कोई वास्तविक अग्नि की जरूरत नहीं । यह अग्नि तो तुम्हारे साक्षी भाव के जागते ही पैदा हो जाती है । यह ऐसी मंजिल है जहाँ तक पहुँचने का कोई मार्ग नहीं है । जो खोजने से, पहुँचने से पूर्व ही भीतर बैठा है, उसका मार्ग ही क्या ? मार्ग तो दूर तक जाने के लिए होते हैं । परमात्मा दूर होता तो मार्ग हो सकता था । परमात्मा तो तुम हो, तो मार्ग कैसा ?

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय – ६/१५, श्वेताउप.

तुम अपने पर बुर्खा डाले हो, उघाड़ते नहीं । जो भी तुम्हारे बुर्खे को उघाड़ गन्दगी दिखा देता है, उससे ही तुम नाराज हो जाते हो । नव द्वार का शरीर गन्दगी का भंडार है **'नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।'**५/१३। जिसमें रखने, छिपाने का है ही क्या ? किन्तु आखरी दम तक समेटे, सम्हाले, बचाये चले जाते हो । किन्तु परमात्मा की ऐसी महिमा है कि लाख बचाओ फिर भी भीतर ही भीतर समाप्त हो जाता है । दीपक से तेल की तरह और एक दिन अन्धेरा सन्नाटा छा जाता है । राख ही मिलती है अन्त में, हीरे नहीं । हड्डी ही मिलती है । सद्गुरु को तो तुम्हारे भीतर छिपे कुड़े- करकट, गन्दगी को तुम्हें दिखाना ही होगा, क्योंकि दिखाएगा नहीं, तुम देखोगे नहीं, तो उससे मुक्त कैसे हो सकोगे ? जो तुम नहीं, जो तुम्हारा नहीं, उस व्यर्थता को संग्रह करके बैठे हो । उसका अहंकार तुम्हारी छाती पर चढ़ा बैठा है । यदि उस अहंकार पत्थर को सद्गुरु न हटावे, तो तुम्हारी मुक्ति उस मिथ्या अहंकार से कभी नहीं हो सकेगी । तुम्हारे साधनों से मान्यताओं से, यदि मुक्ति मिलना होती तो पूर्व किसी भी जन्म में हो जाती । इन पत्थर को हटाना

होगा, जो तुम छाती पर रख सम्पत्ति मान, पारस मान सम्भालते चले आ रहे हो, यह तुम्हें डुबो देंगे, डुबो रहे हैं ।

यह जो तुम्हारा झूठा रूप है, मिथ्या अहंकार है, इसे तो मिट जाने दो, मर जाने दो, छिन जाने दो, इसमें बचाने जैसा तुम्हारे लिए कुछ नहीं है । यह जो आवरण है इसे गिर जाने दो । यह देह अभिमान वस्त्र तो भस्मीभूत हो जावे तो अच्छा है ताकि तुम्हारा नग्न सत्य असली स्वरूप आत्मा प्रकट हो सके । अहंकार की चुनरी न उतरे तो आत्मा का कोई अनुभव ही नहीं होता । और जिसे इस शरीर में देह से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव न हो सके, उसे इस संसार में विराट् परमात्मा का भी अनुभव कभी नहीं हो पाता है ।

जिसने अपनी सत्यता को देह आवरण हटाकर जाना है, देखा है, वही सद्गुरु तुम्हारे असली स्वरूप की ओर दृष्टि मोड़ सकता है ।

सद्गुरु प्रथम अपनी आँखों के द्वारा तुम्हारे मन को अपनी ओर आकर्षित करता है एवं जैसे ही तुम उसकी ओर आकर्षित हुए वह तुम्हारे तरफ मोड़ देता है जो तुम हो । दर्पण को देखते ही दर्पण आपकी दृष्टि आपकी ओर ही मोड़ देता है ।

बिना गुरु के विश्वास नहीं आएगा, श्रद्धा नहीं जाग पाएगी । कोई आँख वाला ही तुम्हारे अन्दर आत्मविश्वास पैदा कर सकता है । पौथी पंडित, पुराण पंडित, नामधारी गुरु द्वारा यह कार्य नहीं होगा । जब तक पहुँचा व्यक्ति, पूरा सद्गुरु न मिल जावे, यह राहगीर भटकते हुए गुरु, उस परमात्मा से तुम्हारा सम्बन्ध नहीं जुड़ा सकेंगे । जैसे पत्थर नदी में पड़ा भीगता नहीं, ऐसे ही यह नामधारी गुरु शास्त्र के सागर में पड़े रहकर भी प्यासे ही मरते हैं ।

पौथी पढ़ पढ़ जग मरा, पण्डित भय न कोय ।
दौ अक्षर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय ।।

सद्गुरु के पास तुम जाओगे तो प्रेम से भर जाओगे, ताजापन आ जावेगा, जीने की कला आ जावेगी, जीने में रस पैदा होगा । अन्यथा मूरदे हो कर जीते रहोगे । सद्गुरु को हँसते, मुस्कराते प्रेममय पाओगे । उसे तुम गंभीर नहीं पाओगे, यह कासौटी है सद्गुरु की । उसे तुम हँसता हुआ पाओगे ।

जीवन उसके लिए लीला हो गया है, नाटक हो गया है । और तुम्हारे लिए नाटक भी जीवन हो गया है ।

तुम्हारे तथाकथित साधु-संत तो हँसी भूल ही गए । अब तो उनके सम्मुख कोई हँस दे तो भी उन्हें अच्छा नहीं लगेगा । वे स्वयं हँस भी नहीं सकते । अब संत होकर हँसना पाप मानते हैं । इसलिए तुम अपने साधु, संतों के पास ज्यादा देर नहीं ठहर पाओगे, पहुँचा प्रणाम किया एवं भागे । वहाँ जाकर सहजता तुम्हारी छिन जाती है । तुम भी उठ चलते बनोगे । तुम भी रुखे हो जाते हो, गंभीर हो जाते हो, मौन हो जाते हो ।

पुरा सद्‌गुरु तो हँसता, मुस्कराता, नाचता, सुगन्ध फैलाता, आकर्षित करता गुलाब का पुष्प है ।

भारत के संत दुःख भोगने में, अपने को सताने में, मिटाने में कुशल हो गए हैं । बड़े अच्छे कलाकार हैं । जहाँ जो दुःख नहीं है वे उसे शिघ्र बना लेते हैं । गरमी में नंगे पैर चलेंगे, आग पर चलेंगे । शीत, वर्षा नग्न रह सहेंगे, घूनी रमेंगे । शरीर पर सूई से छेद कर नारियल नींबू लटका लेंगे । चित्र व इष्ट नाम शरीर पर गुदवा लेंगे । लोह उष्ण कर मुद्रा अंग पर लगवा लेंगे । कान फड़ा लेंगे, मूत्र इन्द्रिय को काट मुसलमान बन जावेंगे या इन्द्रिय में छिद्र कर ताला छल्ला डाल देंगे । सर नीचा पैर ऊपर कर खड़े रहेंगे । काँटे बिछा उस पर सो जावेंगे । शीतकाल में जल में बैठ ध्यान लगावेंगे । शरीर पहले ही राख है उस पर और राख मिट्‌टी लगा अवधूत बन बैठेंगे ।

धर्म तो आनन्द की खोज है । तभी तो परमात्मा को सच्चिदानन्द , 'रसो वै सः' कहा जिसने जगत् के छोटे-छोटे आनन्द को ही नहीं प्राप्त किया, वह परमानन्द की ओर कैसे हो सकेगा ? उसके प्राणों में परमानन्द की प्यास कभी नहीं जग सकेगी । जिसने क्षणिक आनन्द का अनुभव नहीं किया उसे दिव्य आनन्द की प्यास कैसे जाग्रत हो सकेगी ? इसीलिए उन्हें आनन्दित जीवन, सुखमय जीवन, नृत्य, संगीत पाप रूप लगता है ।

सहज तुम तभी हो सकते हो जब अहंकार की यात्रा छोड़ दो । वृक्ष, पशु-पक्षी सहज है, सिर्फ आदमी असहज हो गया है । जो नहीं है, उसे दिखाने का भाव ही असहजता पैदा करा रहा है । भीतर जैसे तुम हो वैसा ही

तुम अपने को बाहर से उघाड़ दो, तब तुम सहज हो सकोगे । लोगों की परवाह छोड़ दो कि कोई बुरा कहेगा । लोग सम्मान नहीं देंगे तो तुम्हारा क्या खो जावेगा ? उनके सम्मान से मिलता भी क्या है ? केवल अहंकार का पोषण ही न ? तुम कुछ भी कहो मैं जैसा हूँ, हूँ । बुरा तो बुरा, भला तो भला, मूर्ख तो मूर्ख, ज्ञानी तो ज्ञानी । लेकिन निर्धन होकर धनी दिखाने की, असन्दुर होकर सुन्दर दिखाने की, अज्ञानी होकर ज्ञानी दिखाने की, लोभी होकर त्यागी होने की, ना कुछ होकर भी सब कुछ बतलाने की चेष्टा मत करो ।

सद्गुरु की भाषा सरल, सहज, स्पष्ट होती है, लोगों के हृदय को छू जाने जैसी होती है । किन्तु पंडित, शास्त्री, दंभी गुरु अपनी भाषा शैली कठोर, कठिन, संस्कृत बनाए रखते हैं । सच्चे संत जैसे महावीर, बुद्ध, नानक, कबीर, मीरा, दादू, रैदास, विवेकानन्द, रामकृष्ण लोकभाषा में बोले । पंडित की चालबाजी के कारण संस्कृत का उपयोग चल रहा है । उस भाषा का वे उपयोग करते हैं जो सबके समझ न आ सके । तो लोग समझेंगे कि वक्ता, पंडित बहुत उच्च कोटि का है । तुम उलजलूल, अंड-बंड, अल्लम-गल्लम बकते रहो और लोग वेद मंत्र, बिना समझे श्रद्धा से गर्दन हिलाते, हाथ जोड़े सुनते रहते हैं। और लोगों को जब समझ नहीं आता तो वे लोग समझते है जरूर बात कोई गम्भीर है । इसीलिए समझ में नहीं आ रही है ।

सत्य सीधा साफ होता है, एकदम समझ में आ जावे । क्योंकि वह अन्य नहीं, पराया नहीं, जो समझने में दाँव-पेंच लगाना पड़े । झूठ को बचाने में दाँव-पेंच लगाना पड़ता है । असत्य जटिल होता है । शास्त्री पाक शास्त्रों को ढोता पड़ता रहे, किन्तु उससे पेट की भूख नहीं जावेगी । पंडित पाक शास्त्रों की चर्चा में लीन हो गया है एवं भूल ही गया है कि मुझे भोजन भी बनाना है । पाक शास्त्र, रसोई विज्ञान जानने एवं चर्चा मात्र से तो एक रोटी भी प्राप्त नहीं होगी । इसी प्रकार शास्त्र पढ़ने से कोई परमानन्द को उपलब्ध नहीं होगा । उसके लिए हमें अन्तर्यात्रा की दिशा लेनी होगी । किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में पहुँचना होगा ।

अनात्मा से आत्म बुद्धि छोड़ें

अज्ञानी व्यक्ति शरीर, वाणी एवं मन के गुण धर्म को अपने में मानता है । इसलिए वह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता होकर सुख-दुःख फल को भोगता है । ज्ञानी पुरुष देह, इन्द्रिय, मनादिकों के कर्मों को अपने में नहीं मानता । इसलिए उसे शुभाशुभ कर्म का फल सुख-दुःख अपने में प्रतीत नहीं होता है। जैसे बालक, पागल, पशु-पक्षी अपने को कर्मों का कर्ता नहीं मानते है, क्योंकि उन्हें शुभाशुभ का भेद ज्ञान नहीं है । इसलिए वे कर्म का फल भी नहीं भोगते हैं । ज्ञानी अपने को समस्त क्रियाओं का द्रष्टा, साक्षी, असंग, निष्क्रिय, निराकार, निर्विकार, आत्मा रूप से जानता रहता है ।

जिसका शरीरादिकों के साथ अध्यास होता है, वही अज्ञानी देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादिकों के धर्मों को अपना मानता है । क्योंकि अभी उसका देह संघात् से अहंता-ममता रूप अज्ञान नष्ट नहीं हुआ है । जब आत्म ज्ञान द्वारा अनात्म देह संघात् से अहंता-ममता हट जावेगा तब इन्द्रिय विषयों से कर्ता-भोक्ता भाव भी टूट जावेगा । जीवन्मुक्त की दृष्टि में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है ।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।

आत्मा अद्वय है । इसलिए हम उसे देखें या अनुभव करें यह विचारना भी भूल होगा । देखने या अनुभव के लिए अपने से भिन्न उसका होना जरूरी होगा । जबकि आत्मा एक एवं सर्व है । तब देखना या अनुभव करना कदापि नहीं हो सकेगा । नित्य, स्वयं प्रकाश आत्मा में अप्रकट-प्रकट होना नहीं बन सकता ।

हे जिज्ञासु जनों ! सर्व को तुम एक रस, एक ही चेतनआत्मा जानों । तब फिर उस एक में यह भेद कैसा की मैं ध्याता हूँ, आत्मा ध्येय है और मैं ध्यान का कर्ता हूँ । यह भेद द्वैत में ही बनता है । अभिन्नात्मा में यह ध्यान कर्म नहीं हो सकता ।

यदि कहें कि मन, बुद्धि आत्मा का ध्यान करती है, मैं आत्मा ध्यान नहीं करता, तो मन, बुद्धि, जड़ होने से वह ध्यान करने में समर्थ भी नहीं हो सकते । यदि कहो कि बुद्धि उपाधि में स्थित होकर आत्मा अपना ही ध्यान करती है, सो यह बात भी नहीं बनती । स्वयं प्रकाश आत्मा अपना ध्यान कभी नहीं कर सकता । अज्ञान से ही भेद प्रतीत होता है । इसीलिए अज्ञानी आत्मा का, जो वह स्वयं है, ध्यान करता है एवं अनुभव में लाना चाहता है । याद रखें ! ध्यान सदा साकार देखी हुई वस्तु, स्थान, व्यक्ति एवं अपने से अन्य पदार्थ का ही हो सकेगा । चेतन आत्मा एक, निराकार होने से ध्यान, अनुभव आदि क्रिया का वह अविषय है ।

स बाह्याभ्यन्तरोऽसित्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा ।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाच वत् ।। – अव.गी. १/१४

चेतन, आत्मा, ब्रह्म एक एवं अभिन्न है । अर्थात् वह तुम हो । वह चेतन भीतर बाहर कल्याण स्वरूप एक रस सर्वत्र, सर्वदा, सर्व रूपों में विद्यमान् है । और वह तुम ही हो । फिर क्यों पागलों एवं मूढ़ों की तरह उसे खोजने हेतु इधर-उधर दौड़ते फिरते हो ? अस्तु उस इस निज आत्म स्वरूप को इधर-उधर मत खोजो । किसी सद्गुरु के शरण में जाकर के अपने में ही जानलो ।

हे आत्मन् ! जन्म-मृत्यु, भूख, प्यास, सुख-दुःख, कर्ता-भोक्ता, ज्ञान-अज्ञान, चंचल-शांत, बंध-मोक्षादि समस्त धर्म इस चित्त के हैं । चित्त के धर्म 'परधर्म' कहलाते हैं । परधर्म में तादात्म्य बुद्धि करना पाप रूप है, ''परधर्म भयावह'' अर्थात् जन्म-मरण रूप महा दुःखों को देने वाला है । अस्तु चित्त को तुम अपना होना मत जानो । चित्त तुम्हारा दृश्य एवं मिथ्या है, उसके तुम साक्षी, असंग, आत्मा उससे न्यारे हो । यह जो पांचों ज्ञानेंद्रियों के

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पाँच विषय हैं, इनके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं । यह जड़ मिथ्या है और तुम चेतन सत्य एवं साक्षी द्रष्टा हो । सत्य एवं मिथ्या या जड़, चेतनका परस्पर सम्बन्ध नहीं बनता । फिर तुम क्यों इन परधर्मों को अपना मान दुःखी होते हो ?

अहो चित्त कथं भ्रांतः प्रधावसि पिशाचवत् ।
अभिन्न पश्य चात्मानं रागात्यागात्सुखी भवः ।।

– १/१८ अव.गी

हे जिज्ञासुजनों ! बड़ा आश्चर्य है कि तुम सभी नित्य प्राप्त स्व-स्वरूप में अप्राप्ति का भ्रम करके मृग कस्तूरी की खोजवत् पिशाच, बंदर की तरह क्यों इधर-उधर, यहाँ-वहाँ, वन, पर्वत, नदी, ग्राम, नगरों में खोजते फिरते हो, यह तुम्हारी महान् भूल तुम्हारे महान् अनर्थ का ही कारण है । अतः देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि से अहंता-ममता छोड़ कर निजात्म स्वरूप को जानों एवं परम सुख को प्राप्त हो जाओ ।

तुम स्वभाव से ही चेतनमुक्तात्मा हो इसलिए किसी देवता की कल्पना करके, उनके आगे हाथ जोड़ गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करने की जरूरत नहीं है । तुम निर्विकार शुद्ध अखण्डानंद आत्मा हो । यह सदा सोऽहम् चिंतन द्वारा दृढ़ करो ।

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धम व्ययम् ।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धिन संशयः ।। – ९/२०

सम्पूर्ण श्रुतियाँ आत्मा को निर्गुण अर्थात् सत्, रज, तम, माया मल से रहित अविनाशी एवं शरीर से रहित निराकार, निर्विकार सर्वव्यापक साक्षी कहती हैं । वही तुम अपने को जानों 'तत्त्वमसि' ।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्वपदेशेन न पुनर्भव संभव ।। १-२१, शुक उप.

संसार के प्रत्येक पदार्थ नाम, रूप, माया के अंश होने से इन्हें तुम व्यतिरेकी नाशवान् जानों । तथा प्रत्येक नाम, रूप का आधार सबको सत्ता देने वाला अस्ति, भाति, सच्चिदानंद स्वरूप अपने को जानों । यह सत्य

उपदेश है । इसको धारण करने से जीव सहज जन्म–मरण चक्र से मुक्त हो जाता है । इसमें किंचित् भी संशय नहीं है । यह वेद वचन है –

''ज्ञानादेवं तु कैवल्यम्''

हे आत्मन् ! जब ऐसा तेरा सत्य स्वरूप समस्त श्रुतियाँ निर्धारित करती है, तब फिर तुम कैसे कहते हो कि मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ । मैं आपको नहीं जानता हूँ । इस प्रकार कथन तुझे शोभा नहीं देता ।

तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च स्वात्मा हि प्रतिपादितः
नेति नेति श्रुतिर्ब्रुयादनृतं पाञ्चभौतिकम् ।। – २५

वेद ने तत्त्वमसि आदि वाक्यों द्वारा अपने इस आत्मा को ही ब्रह्म रूप से प्रतिपादन किया है । 'अयमात्मा ब्रह्म' । 'नेति–नेति' वचन द्वारा यह समस्त दृश्यमान पांच भौतिक जगत् को नाशवान् एवं मिथ्या बतलाया है ।

तुम्हारे द्वारा यह जगत् पूर्ण हो रहा है । '**पूर्णमदः पूर्णमिदं**' दूसरा तुम्हारे बिना कोई अन्य नहीं है । तब फिर मैं ध्यान कर्ता हूँ – आत्मा ध्येय है, यह व्यवहार कैसे हो सकता है ? यह निर्लज्जता हे जीवात्मा ! तुझे शोभा नहीं देती । क्योंकि एक में तो ध्यान बनता ही नहीं, न समाधि हो सकती है । जड़ व चेतन दो ही पदार्थ हैं । जड़ में तो ध्यान, समाधि, एकाग्रता सम्भव ही नहीं, उन्हें जरूरत भी नहीं । चेतन अद्वय है, उसको द्वैत के अभाव में विक्षेप ही नहीं है तब समाधि कौन करे ? जिसे विक्षेप हो, वह समाधि की चेष्टा करे । सो मुझ आत्मा में यह भेद विकार नहीं । इसलिए ध्यान–समाधि मेरे लिए किंचित् भी कर्तव्य नहीं है ।

शिवं न जानामि कथं बदामि
शिवं जानामि कथं भजामि ।
अहं शिवश्जात्परमार्थ तत्त्वं
सम स्वरूपं गगनोपमं च ।। – २७

कल्याण स्वरूप ब्रह्म को मैं नहीं जानता हूँ, क्योंकि परमात्मा अशब्द, अस्पर्श,अरूप, अरस, अगंध रूप कहा है । अर्थात् उसे पांचों ज्ञानेंद्रियाँ नहीं

जान सकती । तो फिर मैं यह कैसे कहूँ कि मैं उसे जानता हूँ बिना जाने का भजन भी नहीं हो सकता ।

वेद हमें ''तत्त्वमसि'' महावाक्य द्वारा ''वह कल्याण स्वरूप आत्मा तुम हो'' इस प्रकार घोषित करता है तब भी मन्द बुद्धि वाला अज्ञानी जानना एवं भजन करना नहीं छोड़ पाता है । द्वैत में ही किसी के द्वारा कोई जाना जा सकता है । द्वैत में ही प्रार्थना, पूजा, आवाहन हो सकता है । किन्तु जो चेतन अद्वय आत्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है, तब वह किसके द्वारा जानी जा सकेगी ? कदापि नहीं । जो सबको जानने वाला है उसे किसी प्रकार द्वैत के अभाव में नहीं जाना जा सकेगा । स्व संवेद्य भी आत्मा को नहीं कहा जा सकेगा कि वह स्वयं ही स्वयं को जानती है । क्या अग्नि स्वयं को जला पाती है, क्या सूर्य स्वयं को प्रकाशित करता है । यह कथन हो सकेगा ? कभी नहीं ।

घटे भिन्न घटाकाशं सुलीनं भेद वर्जितम् ।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभातिमे । ३० ।

जब तक घट बना है, तभी तक घटाकाश यह व्यवहार भी होता है । जब घट टूट जाता है तब घटाकाश यह व्यवहार भी नहीं होता । क्योंकि घट का आकाश महाकाश के साथ पूर्व अभेदता को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार जब तक लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) रूपी उपाधि विद्यमान् है तब तक ही जीव व्यवहार भी होता है । आत्म ज्ञान द्वारा जब सूक्ष्म शरीर उपाधि अपने अज्ञान कारण के नाश से सूक्ष्म तत्त्वों में लीन हो जाती है, तब यह जीवात्मा भी ब्रह्म के साथ अपने पूर्व अभेदता को प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म ज्ञानी को अपने आत्मा में व परमात्मा में भेद प्रतीत नहीं होता । अज्ञानी की दृष्टि में ही आत्मा परमात्मा का भेद बना रहता है, जो उसके जन्म-मरण का कारण है ।

जैसे एक ही आकाश सर्व व्यापक है, जब घट ही नहीं तब घटाकाश संज्ञा भी कहाँ होगी ? इसी प्रकार एक अपरिच्छिन्न ब्रह्म सत्ता ही है । तब अन्तःकरण उपाधि के अभाव में जीव संज्ञा भी नहीं रह सकती ।

सर्वत्र, सर्वदा, सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम् ।

आत्मा को ही सब देश, सब काल, एवं सब रूप जानों ।

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा
वर्णा श्रमौ नैव कुलं न जातिः ।
न धूममार्गो न च दीप्ति मार्गो
ब्रह्मैकरूपं परमार्थ तत्त्वम् ।। ३३ ।।

वास्तव में यहाँ न वेद सत्य है, न लोक सत्य है, न देवता सत्य है । न उनके प्राप्ति रूप यज्ञ, मंत्रादि सत्य है । न उनके करने वाले वर्णाश्रम सत्य है । न कुल सत्य है न जाति सत्य है, न दक्षिणायन मार्ग सत्य है, न उत्तरायण मार्ग सत्य है । केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही वास्तव में सत्य है । और वह ब्रह्मात्मा तुम हो । ऐसा ही निश्चय करो एवं जीवन्मुक्त हो सुख से विचरण करो । वह ब्रह्म तू है और तू ही वह ब्रह्म निःसंदेह है ।

तत् त्वम् त्वम् तत् हि न संदेहः ।
यन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि ।
योगि नस्तत्र लीयन्ते घटाकाश मिवाम्बरे ।। ६८ ।।

ज्ञानवान् पुरुष जिस किसी निमित्त से जहाँ कहीं भी प्राणों का त्याग कर देता है, वह पूर्ण ब्रह्म में लीन हो जाता है । जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश महाकाश रूप हो जाता है ।

तीर्थ चान्त्य जगेहे वा नष्ट स्मृतिरपि त्यजन् ।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत् । ६९ ।

सोऽहम्, शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि आदि निष्ठावान् ज्ञानी पुरुष मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ इस निष्ठा से युक्तावस्था में प्राणों का त्याग करें या अचेतन(बेहोश) अवस्था में प्राण त्याग करें । किसी तीर्थ में प्राणों का त्याग करें या किसी चांडाल के द्वार पर प्राण त्याग करें । वह पूर्व से मुक्त होता हुआ, मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है । वह व्यापक ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है । श्रुति उसके लिए कहती है –

न तस्य प्राणा उतक्रामन्ति ।

ज्ञानवान् के प्राण अज्ञानी पुरुष की तरह लोकांतर या देहांतर को प्राप्त नहीं होते हैं ''अत्रेव समवलीयंते'' इसी लोक में अपने कारण में लीन हो जाता है और ज्ञानी की चेतना ब्रह्म में लीन हो जाती है । फिर उसका जन्म नहीं होता ।

तीर्थे वां त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपिवा ।
न योगी पश्यते गर्भ परे ब्रह्मणिलीयते । २/२१

ज्ञानवान् का शरीर जल में, थल में, अंतरिक्ष में, रास्ते में या फांसी लगाकर शरीर त्याग कर दे तो भी कभी मूर्ख की तरह उसे माता के गर्भ में नहीं आना पड़ता ।

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजंति शुभाशुभं कर्म परित्यजंति ।
त्यागामृतं त्वात पिवन्तिधीराः स्वरूप निर्माण मनामयोऽहम् ।।
– ४/२४

आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुष सदा आत्म आनन्द में ही मग्न रहते हैं । वे सम्पूर्ण ध्यान और कर्मों का त्याग कर, त्याग रूपी अमृत का ही पान करते हैं और अपने को मुक्त रूप मानते हैं ।

उस व्यापक आनन्दघन चेतन आत्मा में जब शरीर ही नहीं तब जीव कहाँ हो सकेगा ? एवं जब जीव नहीं तब बंध या ब्रह्म का वियोग भी नहीं है । जब ब्रह्म वियोग नहीं तो ब्रह्म प्राप्ति, मुक्ति कथन भी नहीं हो सकेगा । जैसे घट ही नहीं है, तब घटाकाश संज्ञा भी नहीं । जब अज्ञान ही नहीं तब उसके नाश हेतु रुदन करना कहाँ बनता है ?

आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुष निराश्रय रहे या एकांत झोपड़ी में रहे, परिवार में रहे या नग्न जंगल में विचरण करे । थोड़ा ज्ञान हो या अधिक ज्ञान हो । उसके लिए यह सब अवस्था चित्त की है । ज्ञानी केवल साक्षी है, इसलिए चाह एवं चिंता से सदा मुक्त रहता है ।

सभी मनुष्य दुःख रहित परम सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं । वह सुख आत्मा का स्वरूप है । सुख आत्म स्वरूप भिन्न से नहीं है । जगत् के किसी विषय वस्तु में सुख नहीं है । अपने आनन्द स्वरूप आत्मा के

अविवेक के कारण ही हम ऐसा मानते हैं कि भौतिक जगत् की वस्तु से सुख मिलता है । मन जब बाहर निकलता है तब भी दुःख का अनुभव करता है । जब मन की इच्छा पूर्ण होती है, तब वह चंचल बहिर्मुख मन, अन्तर्मुखता को प्राप्त हो, अपने उद्गम स्थान आत्मा में लौटकर आत्म सुख का ही अनुभव करता है । मन जब-जब भी जिस-जिस साधन वृत्ति, वस्तु, ध्यान, समाधि द्वारा सुख का अनुभव करता है वह आत्म सुख का ही अनुभव करता है । ज्ञानी का मन ब्रह्मात्मा से विमुख नहीं होता है । अज्ञानी का मन विषय ग्रहण के समय क्षणिक आत्म सुख का अनुभव करता है एवं अन्य विषय की कामना से सदा मन बहिर्मुख रहने से दुःख का अनुभव ही विशेष करता रहता है ।

एक जिज्ञासु की प्रार्थना

हे भगवन् ! मैं अनादि काल से अज्ञान रूपी समुद्र के माया रूप गड्ढे में पड़ा हूँ, जिसमें ममता रूपी मगर ने मेरे पैर को पकड़ रखा है, उसके पंजे से छूटने के लिए मैंने धर्म, कर्म दानादि बहुत से साधन किए किन्तु उनसे छुटकारा प्राप्त होने के स्थान पर उल्टा बन्धन गहरा ही होता चला जा रहा है । हे नाथ ! मेरे मन में शान्ति हो उसके लिए मैंने नानाविध जप, मंत्र, स्तुति, पाठ, पुरश्चरण, तप, व्रत, दान, यज्ञ, तर्पण तथा अनेक तीर्थों का भ्रमण रूप साधन किए, शान्ति पाठ किए, किन्तु शान्ति नहीं हुई । मैंने इतने साधन किए इस बात का अभिमान मेरे मन में और हो गया । मैं कहाँ से आया, मरने पर मैं कहाँ जाऊँगा इस संसार चक्र से मेरा कैसे उद्धार होगा इसकी मुझे कुछ भी खबर नहीं है । मैं कौन हूँ ? यह जानने की मेरी बहुत इच्छा है, इसके लिए मैंने बहुत से साधन किए, किन्तु उनसे कुछ भी काम सिद्ध नहीं हुआ । फिर मैंने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए बहुत प्रकार के कष्टप्रद साधन किए, संयमपूर्वक भक्ति करके भी देखा एवं उन्होंने प्रसन्न होकर वरदान भी दिया, किन्तु उससे तो मेरी देह बुद्धि ही दृढ़ हुई कि मैं यह नाम, जाति, उम्र, वर्ण आश्रमी मनुष्य हूँ, अभी कर्मों के अनुसार जन्मा हूँ और प्रारब्ध सामप्ति पर मर जाऊँगा ।

हे पथ प्रदर्शक ! मैं बहुत समय से जन्म-मरण रूप संसार से छूटने के लिए नानाविध साधनों को अपनी बुद्धि शक्ति के अनुसार करता आ रहा हूँ, किन्तु अभी तक मुझे आप जैसे कोई तत्त्वज्ञानी गुरु नहीं मिले थे, मैं अब

आपकी शरण में आया हूँ, आप मेरे तन, मन, वाणी, तथा साधन को स्वीकार करें, मैं आपके चरणों में समर्पित होता हूँ ।

मेरे इष्ट कृष्ण भगवान् के द्वारा स्वप्न में ऐसा आदेश हुआ कि जब तक तू किसी आत्मनिष्ठ सद्गुरु स्वामी की शरण ग्रहण नहीं करेगी, तब तक बाह्य साधनों द्वारा तुझे शान्ति की प्राप्ति कभी नहीं होगी । वो तेरे कल्याणार्थ जगत् में अवतरित हुए हैं, अस्तु मैं देव वाणी सुन आपकी शरण में आई हूँ । आप अपने चरणों में इस दासी को स्थान देने की असीम कृपा करें जिससे मैं निर्भय पद को सहज प्राप्त कर जीवन सफल कर सकूँ ।

सद्गुरु वचनामृत

हे आत्मन् ! जीव को जब सद्गुरु मिलते हैं तभी वे उसका परमात्मा से अभिन्नता का अनुभव कराते हैं, तभी यह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है क्योंकि परमात्मा से भिन्न जब तक यह जीव अपने को मानता रहेगा जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त नहीं हो सकेगा । सद्गुरु के उपदेश से परमात्मा तथा जीवात्मा का अभिन्न ज्ञान होता है । अभिन्न ज्ञान बिना जीव अन्य करोड़ों साधन करता रहे चाहे शरीर एवं मन की चंचलता को रोक हजार वर्ष भी पत्थर की तरह क्यों न पड़ा रहे, मुक्ति कदापि नहीं हो सकेगी । क्योंकि जिसने भ्रान्ति से अपने को जीव मान लिया है, जन्मने-मरने वाला मान लिया है, उसके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विचार के अलावा अन्य कोई उपाय उसका उद्धार करने वाला नहीं है । स्वरूप अज्ञान का नाश करने वाला एकमात्र वेदान्त ज्ञान ही साधन है ।

हे आत्मन् ! व्रत, तप, अनुष्ठान, दान, तीर्थाटन, यज्ञ, याग, पुरश्चरण, प्रतिमा पूजा और भजनादि मोक्ष में उपयोगी नहीं है, यह कर्म तो सभी करते हैं इन्हीं को करने के लिए सद्गुरु कभी भी मुमुक्षु को नहीं बताते हैं, बतावे भी तो इसमें गुरु का महत्व किस बात का ? यह कर्म तो सभी अज्ञानी बिना किसी से पूछे एक दूसरे को देख करते ही रहते हैं । पुराणों में भी नाना प्रकार की उपासना एवं फल लिखे हैं, वे मात्र प्रलोभनात्मक हैं । उनको करने से जीव बन्धन से छूट नहीं सकता । हाँ, जो सत्कर्म निष्काम भावना द्वारा किए जाते हैं उनसे चित्त शुद्धि होकर ज्ञान का अधिकारी होता

है । अधिकारी शिष्य को ही सद्‌गुरु आत्मोपदेश करते हैं । गुरु बिना अन्य कोई देवी-देवता ज्ञान देने में समर्थ नहीं है । देव भी जब मनुष्य शरीर धारण करके गुरुपद प्राप्त करते हैं, तभी आत्मज्ञान का उपदेश कर सकते हैं, उन्हीं को सद्‌गुरु कहते हैं एवं आत्मज्ञान से रहित उपदेशक को केवल गुरु कहते हैं ! ऐसे गुरु जीव को मुक्त तो कर नहीं पाते बल्कि उल्टा बन्धन में जकड़ देते हैं । इसलिए ऐसे दम्भी, ठग, जादुगरों गुरु से दूर ही रहना चाहिए जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य का लक्षार्थ को अनुभव नहीं करा, भेद उपासना एवं भेद मूलक मंत्र प्रदान करते हैं ।

हे आत्मन् ! हठयोग, मंत्र, जप, तप आदि शुभ प्रवृत्ति वाले तीर्थ भ्रमण करनेवाले लोग वेदान्त गूढ़ ज्ञान के अधिकारी नहीं है । इसी तरह वेदाध्ययन करने वाले, व्याकरण को पढ़नेवाले, सन्धि-विच्छेद पद पदान्यास के जाल में पड़े व्यक्ति भी इसके अधिकारी नहीं है । अपनी बुद्धि, बल व साधन का गर्व करनेवाले को भी इस आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं समझना चाहिए । जो नित्य-नैमित्तिक कर्म में लगा रहता है, ऐसा निष्कामी भी आत्म ज्ञान का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसका तो अपने कर्मकाण्ड में ही रस है, उन्हीं का अभिमान उसे सुख देता है । ऐसे व्यक्ति को वेदान्त श्रवण का अधिकारी नहीं समझना चाहिए । जो देह, लोक तथा शास्त्र वासना को छोड़ मोक्ष के पाँचों प्रतिबन्धकों से मुक्त है अर्थात् जो भेदवादी गुरु की शरण से मुक्त, बुद्धि की मंदता से रहित, अश्रद्धा से रहित, प्रिय वस्तु के चिन्तन से रहित, वैर-भाव से रहित, देह के ताप से रहित है, वही सच्चा मुमुक्षु है ।

जिसका निष्काम कर्म, उपासना द्वारा चित्त शुद्ध है, उसे तो वैदिक कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड के सेवन की जरूरत नहीं है, किन्तु जिनका चित्त अशुद्ध है, ऐसे व्यक्तियों को चित्त शुद्धि पर्यन्त वैदिक कर्म में निष्काम भाव द्वारा प्रवृत्त होना चाहिए । जिनका इस जन्म या पूर्व के जन्म में किए कर्मों द्वारा चित्त शुद्ध हो ब्रह्म जिज्ञासा उदय हो चुका है, उन्हें कर्म को छोड़ ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए ।

हे आत्मन् ! जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, योग, ध्यान समाधि तो अनुष्ठान है । अनुष्ठानों की आवश्यकता उन पदार्थों के लिए होती है, जो

हमारे पास नहीं है, जो हमारा स्वभाव नहीं है । किन्तु जो हम ही हैं, जो हमारा स्वभाव है उसके लिए किसी कर्म, उपासना, समाधि की आवश्यकता नहीं । तू असंग है, निर्दोष है, क्रियाशून्य है, समाधि का अनुष्ठान करना तेरे कर्तव्य नहीं है । तेरा बन्धन यही है कि तू समाधि आदि साधनों का अनुष्ठान करता है । तू तो नित्य मुक्त, नित्य शुद्ध, नित्यानन्द स्वरूप है, इस बात को तू क्यों नहीं स्वीकार करता है ।

हे आत्मन् ! जब मैं देह हूँ, जीव हूँ, कर्ता हूँ, अमुक जाति आश्रम वाला हूँ, यह जो तूने औरों से सुनकर माना है तब 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बात निःस्वार्थ परोपकारी संतों,ऋषियों, उपनिषदों की क्यों नहीं श्रद्धा पूर्वक मान लेता है ? **सब अनुष्ठानों को छोड़कर अपने को झाँक लो, अपने को जान लो । अपने आपको जानने में अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता ।** लाख तुम्हारे गुरु, महात्मा, साधु, संन्यासी, कहे तुम पापी हो, तुम कर्ता हो, तुम जीव हो, तुम स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हो, तो तुम उनकी बातों को भूलकर न मानना । यह सब तरंगें तो तुम्हारे पास पलने वाली है और तुम इन सबको जानने वाले इनसे अलग हो तुममें बन्धन विकार कभी आया ही नहीं । वेद, उपनिषद, संत, महात्मा बता रहे हैं कि "जैसी मति तैसी गति" तब तुम ब्रह्म होकर अपन को क्षुद्र निश्चय क्यों करते हैं ? परमोच्च्य निश्चय क्यों नहीं करते हो । मति के उच्च बनाने में भी कृपणता क्यों करते हैं ? व्यवहार में भले कृपणता करें, किन्तु मति में तो उदारता लाये अर्थात् जीव मति को छोड़ ब्रह्ममति बनाए एवं ब्रह्म गति को प्राप्त करें ।

हे आत्मन् ! गीता में समाधि योग, ध्यान योग का जो वर्णन छठे अध्याय में पढ़ने को मिलता है वह ध्यान किसलिए है ? अंग है कि अंगी है ? ध्यान ही लक्ष्य है या लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है ? निश्चय ही यहाँ जो ध्यान है वह लक्ष्य नहीं है अपितु लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है । भगवान किसे परमयोगी कहते हैं :

आतमौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं यदि वा दुःखं स योगी परमो गतः ।।

–गीता, ६/३२

अर्थात् जो सब में एक निजात्मा का ही अनुभव करता है एवं सबके सुख-दुःख को अपना ही मानता है, मेरे मत से वह ज्ञानी परमयोगी है ।

गीता हिमालय की गुफा में, जंगल में, घर नौकरी, व्यापार, पत्नी, बच्चों से छुड़ाकर, पीठ की रीढ़ सीधी करके, आँख बन्द करके, प्राण निश्चल करके, मन को निःसंकल्प करके, हमेशा समाधि में बैठाए रखनेवाला योग नहीं बताती, वह समाधि लगाकर हमेशा के लिए संसार से हट जाने वाला योग नहीं दिखाती है, बल्कि वह तो मृत्यु के भय से, अहंकार के पत्थर से तथा पराधीनता की जंजीर से सदा के लिए मुक्त कराती है ।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।। ८/७ गीता

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। ८/२७ गीता

अस्तु हे आत्मन् ! तुम समस्त दुःखों के नाश रूप एवं अखण्डानन्द प्राप्ति हेतु ब्रह्म विद्या का यथाविधि श्रद्धापूर्वक एकाग्रता पूर्वक श्रवण-मनन करो । यह ब्रह्मविद्या गूढ़ विद्या होने से सहज सबको सुगम नहीं हो पाती है । उसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक वेदान्त शब्द कोश या वेदान्त ज्ञान सम्बन्धी परिभाषाओं को तुम ठीक से अभ्यास करो ।

प्रतिज्ञा क्या करें ?

१. आज मैं किसी की निन्दा नहीं करूँगा ।
२. आज मैं किसी एक व्यक्ति की यथाशक्ति सेवा करूँगा ।
३. आज में प्रसन्नतापूर्वक रहूँगा ।
४. आज मैं किसी को देख ईर्षा' नही करूँगा ।
५. आज मैं सभी प्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखूँगा ।
६. आज मैं हिंसा से प्राप्त वस्तु का सेवन नहीं करूँगा ।
७. आज मैं पिता-माता, गुरु तथा परमात्मा के प्रति आभारी रहूँगा ।
८. आज मैं किसी को मन, वचन, कर्म से कष्ट नही ं पहुँचाऊँगा ।
९. आज मैं अपने कार्यों के प्रति साक्षी रहूँगा ।
१०. आज मैं किसी से अपने स्वार्थ के लिए झूठ नहीं कहूँगा ।
११. आज मैं किसी व्यक्ति से वैरभाव नहीं करुँगा ।

क्या जरूरत

- यदि माता-पिता की सेवा पूजा करते हैं तो अन्य देवों को पूजन की क्या जरूरत ?
- यदि सत्संग में प्रीति रखते हैं तो गंगा स्नान को जाने की क्या जरूरत ?
- यदि प्राणी मात्र के प्रति प्रेम है तो ईश्वर दर्शन की क्या जरूरत ?
- यदि बूढ़े, अन्धे, विकलांग, विधवा, अनाथ बच्चों की सेवा करते हैं तो यज्ञ करने की क्या जरूरत ?
- यदि रक्तदान, वृक्ष रोपण, चक्षु दान, अन्नदान करते हैं तो पुण्य हेतु अन्य कर्म की क्या जरूरत ?
- यदि आप सोऽहम् चिन्तन करते हैं तो मुक्ति पाने की चिन्ता करने की क्या जरूरत ?

- यदि सद्गुरु की प्रसन्नता प्राप्ति हो गई तो अन्य देवताओं की उपासना करने की क्या जरूरत ?
- यदि अखण्ड शान्ति साधन शिविर में प्रवेश पा लिया तो फिर भक्ति हेतु अन्य सम्प्रदायों में जुड़ने की क्या जरूरत ?
- यदि मोबाइल फोन जेब में रखते हो तो फिर तीर्थ,मन्दिर, सत्संग में जाने की क्या जरूरत ?

क्या आवश्यकता

- यदि मन पवित्र है तो तीर्थ मन्दिर मस्जिद चर्च जाने की क्या आवश्यकता ?
- यदि मन में लोभ, लाञ्च, दहेज लेने की भावना है तो नरक हेतु अन्य पाप करने की क्या आवश्यकता ?
- यदि उत्तम विद्या आत्मज्ञान है तो धन संग्रह की क्या आवश्यकता ?
- यदि उत्तम कला है तो धन के पीछे दौड़ने की क्या आवश्यकता ?
- यदि समाज में अपमान, अपयश, निन्दा, मिल रही है तो मृत्यु खोजने की क्या आवश्यकता ?
- यदि प्रेम, दया, क्षमा, सद्गुरु हमारे पास हैं तो शान्ति को खोजने की क्या आवश्यकता ?
- यदि मन में अभिमान, क्रोध है तो अपने सर्वनाश के लिए अन्य शत्रु की क्या आवश्यकता ?
- यदि मन में चिन्ता बनी रहती है तो अपने जलाने के लिए लकड़ी खोजने की क्या आवश्यकता ?
- यदि सात्विक भोजन एवं सदाचारी मित्र है तो स्वास्थ्य हेतु औषध सेवन की क्या आवश्यकता ?
- यदि दुष्ट पुरुषों का साथ है तो मरने हेतु जहर पीने की क्या आवश्यकता ?

क्या क्या है ?

जगत् में आश्चर्य क्या ?	:	संसारी प्राणी नित्य ही मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं फिर भी जो बचे रहते हैं वे अपने नाम, धन, पुत्र, सम्पत्ति संग्रह कर न मरने की इच्छा बनाए रखते हैं ।
जीवित कौन ?	:	ज्ञानवान ही जीवित है ।
सुखी कौन ?	:	ब्रह्म ज्ञानी ही सुखी है ।
उत्तम दया क्या ?	:	सभी प्राणी सुखी रहें ।
उत्तम धन क्या ?	:	ब्रह्मज्ञान ।
सुमार्ग क्या ?	:	जिससे चलकर महापुरुष, परमात्मा, परम शान्ति को प्राप्त हुए हैं ।
दुःख क्या ?	:	मूर्खों का संग ।
हानि क्या ?	:	समय का दुरुपयोग ।
शूर कौन ?	:	इन्द्रिय जीत
जन्म का लाभ क्या ?	:	ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना ।
योग क्या ?	:	कर्म में कुशलता रखना ।
पण्डित कौन ?	:	सब प्राणियों में आत्म भाव रखना ।

सत्गुरु कौन ?	:	जो अपने सहित समस्त प्राणियों में छिपे परमात्मा को सोऽहम् रुप से बोध करा सके वही सच्चा सत्गुरु है ।
सुख क्या ?	:	जो दुःख में बदल जावे ।
पाप क्या है ?	:	देह इन्द्रिय मन के धर्मों को अपना मानना ।
स्वधर्म क्या है ?	:	अपने को अखण्ड, नित्य मुक्त, साक्षी आत्मा जानना ।
कृष्ण पक्ष क्या है ?	:	अपने को देह मानना ।
शुक्ल पक्ष क्या है ?	:	अपने को आत्मा जानना ।
निद्रा क्या है ?	:	अपने को कर्ता व शरीर मानना ।
जाग्रत क्या है ?	:	अपने को साक्षी जानना ।
संसार क्या है ?	:	नाम रूप ।
परमात्मा कहाँ मिलेगा ?	:	यहाँ ।
परमात्मा कब मिलेगा ?	:	अभी ।
कौन परमात्मा होगा ?	:	तुम ।
परमात्मा कहाँ है ?	:	जहाँ तुम ।
परमात्मा कब मिलेगा ?	:	अभी यहाँ ।
परमात्मा कैसा होगा ?	:	तुम जैसा ।
धर्म क्या ?	:	जो सबको धारण करे ।
सत्य क्या ?	:	जो कभी नष्ट न हो
आदत क्या ?	:	जो बदली जा सके ।

स्वामी निरंजन ग्रंथावली

१. शान्तिपुष्प
२. भूली बिसरी स्मृति
३. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी–१
४. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी–२
५. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी–३
६. सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी–४
७. मैं अमृत का सागर
८. मैं ब्रह्म हूँ
९. प्राणायाम,मुद्रा, ध्यान एवं वेदान्त पारिभाषिक शब्दकोश
१०. सीता गीता
११. राम गीता
१२. गुरु गीता
१३. पंचदशी प्रश्नोत्तर दीपिका
१४. भागवत रहस्य
१५. आत्म साक्षात्कार
१६. मन की जाने राम
१७. योग वशिष्ठ सार
१८. निरंजन भजनामृत सरिता
१९. स्वरूप चिन्तन
२०. कर्म से मोक्ष नहीं
२१. श्रद्धा की प्रतिमा सद्गुरु
२२. अमृत बिन्दु
२३. उपनिषद् सिद्धान्त एवं वेदान्त रत्नावली
२४. सहज समाधि
२५. ज्ञान ज्योति
२६. कबीर साखी संकलन
२७. सहज ध्यान
२८. हे राम ! उठो जागो
२९. सद्गुरु कौन ?
३०. श्रीराम चिन्तन
३१. तत्त्वमसि
३२. साक्षी की खोज
३३. आत्मज्ञान के हीरे मोती
३४. अनमोल वचनामृत
३५. लाख रोगों की एक दवा
३६. हंस गीता
३७. आत्मज्ञान के लिये उपयोगी चित्रावली
३८. अष्टावक्र गीता सार
३९. अष्टाबक्र महागीता
४०. आत्म गीता (भगवद् गीता सार)
४१. शिव गीता
४२. आत्म प्रबोधक संहिता
४३. ज्ञान विना मोक्ष नहीं
४४. विचार ही मार्ग
४५. केवल विस्मृति

अधिक जानकारी तथा ग्रन्थ प्राप्ति के लिये सम्पर्क करें :
प्लट नं : **58/60**, दिव्य विहार, सामन्तरायपुर, भुवनेश्वर–2 (उड़िशा)
फोन नं : **9437006566**
Visit us at : www.niranjanmission.org

पूज्य स्वामीजी के अमृत प्रवचन तथा आत्मज्ञान आधारित भजन का कैसेट एवं सि.डि उपलब्ध है